इस समय सारे विश्व म विचारो की शून्यता अनुभव की जा रही हैं । गत दो-तीन शताब्दियो मे पश्चिमी ममाज को छोड़कर बाकी सभी समाजो में विचारो का क्रम रुका था । अब पश्चिमी समाज मे भी यह क्रम रुक गया है। पश्चिमी सभ्यता, जिसकी पूजीवाद और साम्यवाद दो प्रमुख धाराए थी, शक्तिशाली की उत्तर-जीविता, प्रकृति के विनाश से जुडी विकास की कल्पना, उपभोगवाद और हथियारी बल की मूल अवधारणाओ पर टिकी थी। इन मारी अवधारणाओ पर प्रश्नचिह्न लग गया है अतः वहाँ इतिहास के अन्त तथा विचारो के अन्त की बाते होने लगी है। भारत मे भी अधिकतर इन्ही विचारधाराओ को अपनाया गया अत यहा भी विचारो का सकट उपस्थित हुआ है ।

19वी और 20वी सदी मे पश्चिमी सभ्यता को चुनौती देने वाले अस्तित्ववादी दार्शनिको तथा गाधी-लोहिया के विचारो के परिप्रेक्ष्य में उभरती हुई नई मानव-सभ्यता के प्रमुख बिंदुओ को तलाशने का प्रयास है यह पुस्तक ।
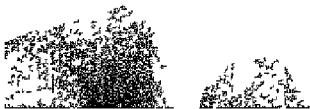
अस्तित्ववाद से गांधीवाद तक

इस समय
की जा रही
समाज का
क्रम रुका थ
गया है।
साम्यवाद
जीविता, प्र
उपभोगवाद
पर टिकी थ
लग गया है
के अन्त की
इन्ही विच
विचारों क
19वीं और
देने वाले अ
के विचारों
सभ्यता के
पुस्तक।

नयी दिल्ली-110002

मस्तराम कपूर

मधु लिमये की स्मृति को
जिनके सम्पर्क से मुझे इस
पुस्तक को लिखने की प्रेरणा
मिली और जो 8 जनवरी, 1995
को हमसे हमेशा के लिए
विदा हो गए।

इस समय
की जा रही
समाज को
क्रम रुका
गया है।
साम्यवाद
जीविता, s
उपभोगवा
पर टिकी
लग गया है
के अन्त की
इन्ही विच
विचारों क
19वी औ
देने वाले उ
के विचारों
सभ्यता के
पुस्तक।

दो शब्द

हमारे सविधान की प्रस्तावना में आए स्वतन्त्रता, समता और बधुता के शब्दो ने कुछ वर्षों मे मेरे साहित्यिक और सामाजिक-राजनैतिक लेखन को प्रभावित किया है और यह पुस्तक वस्तुत: इन शब्दो के निहितार्थों के सबध मे किए गए मेरे चितन का ही परिणाम है। इस चितन की प्रक्रिया में एक ओर मैने पश्चिमी सभ्यता को (जिसे आधुनिक सभ्यता तथा औद्योगिक क्रांति की सभ्यता भी कहा जाता है और जिससे पूजीवादी तथा साम्यवादी व्यवस्थाए विकसित हुईं) इन मूल्यो के सदर्भ में अधूरा पाया, हालांकि ये शब्द उसी सभ्यता ने दिए, और दूसरी ओर भारतीय समाज को, विशेपकर ह्रास-युग के भारतीय समाज को, मैंने इनके ठीक विपरीत मूल्यो अर्थात् परतंत्रता, विषमता और परस्पर द्वेष में जकड़ा देखा हालाकि मेरे विचार से ये तीनो सकल्पनाए मोक्ष की संकल्पना का विखडित रूप है। सभ्यताओ के वर्तमान सकट के बीच से उभर रही नई मानव-सभ्यता की प्रक्रिया मे मैंने इन्ही मूल्यो का रचनात्मक तनाव देखा। इस रचनात्मक तनाव को साहित्य में अस्तित्ववादियो ने और समाज तथा राजनीति मे गाधी-लोहिया आदि भारतीय चितको ने स्वर दिया।

मूलत. यह पुस्तक साहित्य की नई मूल्य-प्रणाली की खोज का अकिंचिन प्रयास है। इसकी आवश्यकता इसलिए महसूस की गई कि वर्तमान मूल्य-प्रणालिया —मनुवादी भारतीय समाज, साम्यवादी समाज तथा पश्चिम के पूंजीवादी अथवा आधुनिक समाज की मूल्य-प्रणालियां—उन समाजो और व्यवस्थाओं के मूल्यो को प्रतिबिंबित करती हैं जिनका या तो विघटन हो चुका है या तेजी से हो रहा है। समूचे विश्व मे एक नया मानव समाज उभर रहा है और उसकी प्रसव-पीडा बिल्कुल नये प्रकार के साहित्य मे अभिव्यक्त हो रही है। नारी-चेतना का साहित्य, दलित-चेतना का साहित्य या अश्वेत चेतना का साहित्य इस नई उठान की विविध भंगिमाए है। हम इन्हें तब तक नही समझ सकते जब तक जीवन के मूलभूत मूल्यो, जो साहित्य-कला के मूल्य भी होते है, के सबंध मे बंधी-बधाई धारणाओ से मुक्त होकर एक नई विचार-प्रक्रिया शुरू नही करते। यह पुस्तक इस विचार-प्रक्रिया की शुरुआत के इरादे से ही लिखी गई है। पुस्तक आम पाठकों को संबोधित है और हर वह व्यक्ति जिसकी साहित्य और समाज में रुचि है, इसे पढ सकता है।

8 मार्च 1995 ——— कपूर

ममाज का
क्रम रुका
गया है।
साम्यवाद
जीविता,
उपभोगवा
पर टिकी
लग गया है
के अन्त क
इन्हीं वि
विचारों क
19वीं औ
देने वाले
के विचारो
सभ्यता के
पुस्तक।

अनुक्रम

विषय-प्रवेश

निराशा का कारण : वैचारिक संकट

आज देश मे शायद ही कोई व्यक्ति होगा जो वर्तमान स्थितियों से असतुष्ट न हो और निराशा का बोझ मन मे लिए न हो। राजनीति सिर्फ कुर्सियो का खेल है। शासन भ्रष्टाचार का पर्याय है। व्यापार-उद्योग लूट-खसोट, धोखाधडी और बेईमानी के अड्डे है। न्यायालय पैसे वालों की शरणस्थलिया है। राजनैतिक पार्टियां अपराधी तत्त्वों की आरामगाहे है। संसद और विधानसभाए व्यर्थ विवाद की जगहे हैं। इस तरह की बातें आज गावो, शहरो, कसबो के गली मुहल्लो मे निजी बातचीत के दौरान आमतौर पर सुनी जाती है। सैतालीस साल की आजादी के बाद इस तरह की निराशा व्याप्त होना आश्चर्यजनक भी है और पीड़ादायक भी।

इस निराशा का कारण है वैचारिक जड़ता। जब किसी देश में विचारो का क्रम बना रहता है तो समाज गतिशील बना रहता है और जब विचार रुक जाता है तो समाज भी रुक जाता है। पिछली दो-तीन शताब्दियों से पश्चिमी देशो की गतिशीलता और अन्य सब देशो की जड़ता का कारण यही रहा है कि पश्चिम मे विचारो का क्रम बहुत तेजी से चला और बाकी समाजो मे यह क्रम रुक गया। भारत मे तो यह क्रम लगभग दो हजार साल से रुका है। उससे पहले भारत विचार की दृष्टि से अत्यत सक्रिय देश था इसीलिए वह वर्धिष्णु समाज बना था।

लेकिन अब पश्चिम में भी विचारों का क्रम रुक गया है। पश्चिमी सभ्यता की मूल अवधारणाए टूट चुकी है। साम्यवाद और पूंजीवाद जो इस सभ्यता की दो धाराए थी, शक्तिशाली की उत्तरजीविता, प्रकृति के विनाश से जुडी विकास की कल्पना, उपभोगवाद और हथियारी बल की मूल अवधारणाओ पर टिकी थी। इन सारी अवधारणाओं पर प्रश्न-चिह्न लग गया है अत. वहा इतिहास के अत और विचारो के अत की बात होने लगी हैं भारत में भी अधिकतर

विचारधाराओं को अपनाया गया अत यहा भी विचारो की शून्यता अनुभव की जा रही है। कुल मिलाकर इस समय भारत ही नही, सारा विश्व वैचारिक संकट के दौर मे गुजर रहा है।

आधुनिक पश्चिमी दर्शन के पितामह देकार्त ने कहा था 'मै सोचता हूं इस-लिए मै हू।' उनका आशय था कि मनुष्य की मूल पहचान है उसका विचारशील होना। हालांकि उनके इस सूत्र को आगे चलकर काट, हीगेल, मार्क्स आदि ने इस तरह रखा कि व्यक्ति की भावनाओ को कुचल ही दिया गया और किर्केगार्द को हीगेल-काट के विरोध मे कहना पडा कि मनुष्य की पहचान उसकी उद्दाम भाव-नाए हैं किन्तु सार्त्र ने बुद्धि-प्रेरित स्वतंत्र संकल्प को मनुष्य की पहचान बनाकर विचार को भावना के साथ पुन. प्रतिष्ठित किया।

विचार कौन करता है? राजनेता, नौकरशाह, जज-वकील, व्यापारी, डाक्टर, इजीनियर, टेक्नीशियन आदि विचार नही करते, वे उपलब्ध सूचनाओ का कुशलता से प्रयोग करते हैं जो कम्प्यूटर का काम है। आम जनता तो सिर्फ झेलती है और उस पर कुढ़न व्यक्त करती है। विचार सिर्फ बुद्धिजीवी कर सकता है अर्थात् लेखक, कलाकार, पत्रकार, समाजशास्त्री, वैज्ञानिक, अध्यापक, इति-हासकार आदि। हमारा बुद्धिजीवी वर्ग इस समय तीन खेमों मे बटा है। सबसे बडा खेमा पश्चिमवादी अंग्रेजीदां बुद्धिजीवियों का है। दूसरा मार्क्सवादियो का जिसमें अंग्रेजीदां और गैर-अंग्रेजीदा दोनो शामिल हैं। तीसरा खेमा हिन्दी और भारतीय भाषाओं मे लिखने-सोचने वालों का है।

विचारो की प्रक्रिया के बंद होने की सबसे अधिक जिम्मेदारी आती है सबसे बडे खेमे के बुद्धिजीवियो पर जिनका लिखना, पढना सिर्फ अंग्रेजी तक सीमित है और जिनका भारतीय भाषाओ से कभी सपर्क ही नही होता। वे इस देश की समस्याओ को समझ ही नही पाते क्योंकि उन्हे फीडबैक सिर्फ अंग्रेजी से मिलता है जिसकी इस जमीन मे जडे ही नही है। इन पक्तियो के लेखक ने एक बार यह बात एक विचारगोष्ठी मे कह दी तो इस पर कई लोगों ने आपत्ति की जो स्वाभाविक ही था। किन्तु यदि हम स्वाधीनता के बाद के वर्षों पर नजर डालें तो मेरे कथन की पुष्टि हो जाएगी। गांधी जी इस देश के सबसे मौलिक चितक थे। इसका प्रमाण यह है कि उनके विचार आज भी हमें ताजा लगते हैं। किन्तु हमारे अंग्रेजीदां बुद्धिजीवी उन्हे नहीं समझ सके। उन्होने एकमुश्त नेहरू के विचारों को ही सराहा जो पश्चिमी विचार-प्रणाली की प्रतिध्वनि मात्र थे। इन बुद्धिजीवियो ने लोहिया को भी नही समझा जो गाधी के बाद दूसरे मौलिक विचारक थे और जिनके विचारो ने आगे चलकर देश की राजनैतिक दिशा को काफी हद तक बदल दिया। आरक्षण-विरोधी आंदोलन के दिनो मे एक-दो को छोडकर सब अंग्रेजी पत्रकार ो के खिलाफ खडे थे उनकी समझ में नहीं आ रहा

था कि समस्या क्या है। बाद में उन्हें उच्चतम न्यायालय के फैसले से सदमा लगा होगा जिसमें अमरीका के सघीय न्यायालय के फैसलो को भी आरक्षण के पक्ष मे उद्धृत किया गया था। वे गैट समझौते के निहितार्थों को भी नही समझ रहे है और एकजुट इसके समर्थन में आ गए हैं। इसमे सदेह नहीं कि कुछ अंग्रेजी स्तभकार पर्दे के पीछे झाकने की क्षमता और कुछ अश्लील चुटकुलेबाजी की बदौलत हिन्दी समाचारपत्रो पर भी छा गए हैं। किन्तु यह हिन्दी की दरिद्रता और हिन्दी सपादको में कल्पनाशीलता के अभाव के कारण होता है न कि इन लेखको की प्रतिभा के कारण।

विचार का मतलब (जिस अर्थ में देकार्त या सार्त्र ने इस शब्द का प्रयोग किया था) मौलिक विचार है जो स्वतंत्र चितन का परिणाम है। दूसरो के विचारो पर राय मात्र देना विचार नही, प्रतिक्रिया है। डा० लोहिया ने एक बार इसी अर्थ में कहा था कि रूस और अमरीका एजेंडा तय करते है और दूसरे सब देश उस पर प्रतिक्रिया मात्र व्यक्त करते है, अतः वे प्रतिक्रियावादी हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो मार्क्सवादी बुद्धिजीवी जो अपने विरोधियो को प्रतिक्रियावादी कह कर गाली देते है, खुद सबसे बडे प्रतिक्रियावादी हैं क्योकि उन्होने मार्क्स, एंगेल्स या लेनिन आदि के शब्दों को ब्रह्मवाक्य मान कर केवल उनका आलाप किया और यह आलाप तब भी जारी है जब इन विचारो की निस्सारता इतिहास ने सिद्ध कर दी है। मार्क्सवादी अपने इन घिसे-पिटे मुहावरो से एक बौद्धिक आतंक भी पैदा करते रहे है और अपने से असहमत लोगो को घोर तिरस्कार से देखते रहे है। इस विचार-विरोधी बौद्धिकता के चलते भारत में वामपंथी आंदोलन समाप्तप्राय हो गया है क्योंकि वामपंथी इस देश की समस्याओ की सही समझ कभी विकसित नही कर पाए।

बुद्धिजीवियो का तीसरा वर्ग मुख्यतया उन लोगो का है जो विचार करने की जरूरत ही नहीं समझते क्योंकि उनके अनुसार समस्त ज्ञान हमारे यहां पहले से ही मौजूद है। जो कुछ सोचा जा सकता है वह पहले ही सोचा जा चुका है। हालाकि यह बात सही है कि पश्चिमी दार्शनिको ने अध्यात्म और तत्वज्ञान की जो ऊचाइयां 18वी और 19वी शताब्दियो में प्राप्त की उनसे भारतीय दार्शनिको ने कम से कम अढाई हजार साल पहले साक्षात्कार कर लिया था। काट, हीगेल, शोपनहावर और स्पिनोजा ही नही, हुसरल, किर्केगार्द, हाइडेगर और सार्त्र भी उपनिषदो तथा साख्य, वैशेषिक आदि दर्शनो को प्रतिध्वनित करते लगते हैं। हमारा यह ज्ञान कम से कम उतना पुराना तो है ही जितना सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि यूनानी दार्शनिको का। लेकिन विचार का यह सिलसिला सिकदर के हमले के बाद आगे बढ़ता नही दिखाई देता उसके बाद हमारे यहां भाष्यकार तो हुए किन्तु मौलिक विचारक बहुत कम हुए विचारो का स्थान भक्ति भाव ने

ले लिया और दार्शनिक चिंतन का धार्मिक साधना ने जिसमें दर्शनों का मनमाना उपयोग किया गया। गायत्री का लोप हो गया और भावना की तुलना में ज्ञान को तिरस्कृत करने की परिपाटी चल पड़ी जो आज तक बनी हुई है। लेकिन हमारा अतीत वैचारिक दृष्टि में कितना भी समृद्ध रहा हो वह हमारी वर्तमान समस्याओं का समाधान प्रस्तुत नहीं कर सकता। हमें नए सिरे से विचारों का क्रम शुरू करना होगा।

विचार के लिए लगभग सब ज्ञान-मीमांसकों ने तटस्थ दृष्टि को अनिवार्य बताया है अर्थात् हम अपनी स्थितियों से अपने को अलग करके उन पर दृष्टिपात करें। स्थितियों का यह वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन तभी सम्भव है जब हम अपने स्वार्थों और पूर्वाग्रहों से ऊपर उठें। लेकिन क्या बुद्धिजीवी वर्गों के लिए आज यह सम्भव है ? जिन लोगों का अंग्रेजी के साथ स्वार्थ जुड़ा है क्या वे उस स्वार्थ से ऊपर उठ कर सोचेंगे ? जो लोग सौ साल पुरानी सैद्धांतिक अथवा राजनीतिक कारा में बंद हैं क्या उनमें उस कारा से बाहर आने की इच्छा बची है ? जो लोग युग को दो हजार साल पुरानी मान्यताओं में जकड़े हैं क्या वे उन्हें उनसे अलग करने को तैयार हैं ?

तटस्थ और वस्तुनिष्ठ दृष्टि का दावा तो हर कोई करता है लेकिन यह काम आसान नहीं है। इसके लिए जरूरी शर्त है कि हम अपनी दुनिया को, अपने आस-पास की घटनाओं-स्थितियों को थोड़ी देर के लिए भूल जाएं जो हमें प्रभावित कर रही हैं। हर सर्जक ने यह अनुभव किया होगा कि अपने सर्जनात्मक क्षणों में वह अपने आस-पास की दुनिया की सुध खो देता है। वह आत्मस्थ हो जाता है। वितंडावादी इसे तथ्यों की उपेक्षा या यथार्थ की उपेक्षा कहेंगे किन्तु यथार्थ चिन्तन भी यथार्थ से अपने को अलग किए बिना नहीं होता। आदमी दुनिया के बीच स्थित होता है। इसे हाइडेगर ने 'देसिन' कहा है। नदी, पहाड़, मकान, मेज, कुर्सी, पुस्तकें आदि असंख्य वस्तुओं के बीच आदमी एक वस्तु की तरह होता है। अपने बारे में जानने के लिए उसे अपने को वस्तुओं से अलग करना पड़ता है। इतना ही नहीं वह जब किसी एक वस्तु को जानने का प्रयत्न करता है तो उस वस्तु को भी उसे अन्य वस्तुओं से अलग करना पड़ता है। कमरे में बिखरी अनेक वस्तुओं में से जब वह एक के बारे में कहता है कि यह कुर्सी या फूलदान है तो कमरे की और वस्तुएं कमरे में विद्यमान रहते हुए भी उसकी नजरों से ओझल हो जाती हैं। देकार्त ने इस घटना को दुनिया का ओझल होना बताया। हुसरल ने इसे ओझल होना तो नहीं माना किन्तु इसे कोष्ठक में बंद होना बताया। मतलब यही है कि आदमी अपनी दुनिया से, अपने परिवेश से अलग होकर ही ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान की साधना को प्रमुख ध्येय मानने वाले हमारे योगदर्शन में भी

• के निरोध को ज्ञान की पूर्व शर्त माना गया है चित्तवृत्तियां हमें

परिवेश से जोड़ती है, इनका निरोध (सहार नही) किए बिना ज्ञान सभव नही होता।

ज्ञान की प्रक्रिया का अध्ययन करने वाले दार्शनिको ने एक स्वर से माना है कि ज्ञान निषेधात्मक होता है। सतही ढग मे सोचने वाले इस कथन पर भी आपत्ति कर सकते है। किन्तु यह सत्य है। जब कोई किसी चीज को पहचानता है, उसे नाम देता है तो उसके कथन का अभिप्राय होता है 'यह मैं नहीं हू।' वह वस्तुओ को अपने से भिन्न देखता है तभी उसे उनका ज्ञान होता है। जब वह कहता है कि यह मेज या कुर्सी है तो वह यह घोषणा करता है कि मैं मेज या कुर्सी नही हू। यदि आदमी के पास नहीं कहने की शक्ति नही है तो वह किसी वस्तु को या अपने को जान ही नही सकता। सार्त्र ने इसे आदमी की चेतना का सबसे बडा गुण माना है और इसे 'नथिंगनेस' कहा है, बल्कि उसने इस शक्ति को ही मानव-चेतना कहा है। सार्त्र ही नही, सभी अस्तित्ववादी और आदर्शवादी पश्चिमी दार्शनिकों ने निषेध की शक्ति को ज्ञान माना है। हमारे प्राचीन दार्शनिको की स्थिति भी इससे भिन्न नही है। उन्होने भी ज्ञान को 'नेति' 'नेति' कहकर ही व्याख्यायित किया है।

ज्ञान की प्रक्रिया या 'फिनामिनोलाजी' के उपर्युक्त दो सूत्रो का उल्लेख विचार-प्रक्रिया को स्पष्ट करने के उद्देश्य से किया गया। विचार ज्ञान के बाद की दूसरी अवस्था है। जब हम अपने को, अपनी दुनिया या परिवेश को जान लेते है तो इस दुनिया को अपनी इच्छा के अनुसार बदलने की कोशिश करते हैं। यह विचार की प्रक्रिया है। हमारा समाज, हमारी राजनैतिक व्यवस्था, अर्थव्यवस्था, धार्मिक व्यवस्था, यह सब हमारा परिवेश है, हमारी दुनिया है। आदमी इसे बदलने के लिए, इसे अपने अनुकूल बनाने के लिए जो संकल्प करता है, जो लक्ष्य चुनता है, जो योजना मन मे तैयार करता है, यह सब विचार है। इसके लिए जरूरी है अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग। इच्छा-शक्ति को भी पश्चिम और पूर्व के सभी दार्शनिकों ने प्रमुख शक्ति माना है। हीगेल ने इसे 'स्पिरिट' कहा, नीत्शे ने 'विल टु पावर'। यह मतभेद तो दार्शनिको मे रहा कि इच्छा का प्रेरक तत्त्व क्या होता है। फ्रायड ने प्रसुप्त कामवासनाओ को इसका प्रेरक कहा, एडलर ने हीनता की भावना को, युग ने जिजीविषा को, काट ने नैतिक बोध को, हीगेल ने निरपेक्ष सत्ता को, किर्केगार्द ने उद्दाम आवेगो को और सार्त्र ने अभाव या 'लैक' को। भारतीय दार्शनिको मे भी किसी ने अमरत्व या मुक्ति को, किसी ने दुखो-द्वद्वो के निर्वाण अथवा कैवल्य को और किसी ने महज सुख या आनंद को इच्छा का प्रेरक कहा। किन्तु इच्छा के प्रयोग को सबने मानव जीवन का प्रमुख लक्षण माना। हमारे दार्शनिको ने आत्मा के जो लक्षण गिनाए है उनमे इच्छा सबसे पहले है और बाद में हैं प्रयत्न राग द्वेष सुख-दुख और ज्ञान आश्चर्य की बात है कि

पश्चिमी दार्शनिकों ने दो-तीन शताब्दियों मे अलग-अलग ढंग से आत्मा के जिन लक्षणो का साक्षात्कार किया वे हमारे एक सूत्र मे समाए लक्षणों से भिन्न नही हैं।

साराश यह कि अपनी दुनिया को जानना (अपने को तटस्थ बना कर) उसके अभावो या कमियो को पहचानना और फिर इच्छा के प्रयोग से स्थितियों को बदलने के लिए लक्ष्य को चुनना तथा उसकी ओर बढना, यह सारी विचार-प्रक्रिया है। जो लोग अपने परिवेश, अपनी दुनिया मे इतने उलझे रहते हैं कि उनसे अपने को अलग नही कर पाते वे विचार भी नही कर सकते और जो अपनी इच्छा का प्रयोग करना नही जानते वे विचार करना भी नही जानते।

इच्छा के प्रयोग के लिए जरूरी शर्त है कि इच्छा स्वतंत्र हो। यह स्वतंत्र इच्छा बहुत जटिल और भयानक चीज है, बहुत दुखदायी और यातना-भरी। इसीलिए सार्त्र आदि अस्तित्ववादियो ने कहा कि आदमी स्वतंत्रता से अभिशप्त है। हर कोई स्वतत्र इच्छा का प्रयोग नही कर सकता, इसीलिए हर कोई विचार भी नही कर सकता। अक्सर अपनी इच्छा को हम खुद तय नहीं करते। हम क्या करें, क्या न करें इसे समाज, राज्य, धर्म आदि तय करते हैं। हम क्या खाएं, क्या पहनें, कैसे उठें-बैठें या चलें इसे भी हमारा परिवेश तय करता है और हम सहज भाव से इसे स्वीकार कर लेते है। आज कल तो इन सारी बातो को सिनेमा, टी० वी०, समाचारपत्र और विज्ञापन माध्यमो का नियंत्रण करने वाली कंपनियां तय कर रही है। दुनिया के किसी एक कोने में डिज़ाइन बनता है या कोई गीत रिकार्ड होता है और सारी दुनिया उसके लिए पागल हो उठती है। मार्क्स के रूपक का इस्तेमाल करे तो गाडी से जुते बैल के सामने गाजर की तरह एक प्रलोभन हमारे सामने झुलाया जाता है जिसके आकर्षण मे हम आगे बढ़ते जाते हैं और गाड़ी अपने आप खिची चली आती है। यही है हमारा सामान्य जीवन। इसमे स्वतंत्र इच्छा का कही प्रयोग नही होता। हम दूसरो (व्यक्तियो और वस्तुओ) द्वारा धकेले जाते है। हम समझते हैं कि हम जी रहे हैं लेकिन वास्तव मे हम औज़ारों की तरह इस्तेमाल किए जा रहे हैं।

स्वतत्र इच्छा से जीने या स्वतंत्र इच्छा का प्रयोग करने का मतलब है कि हम औज़ारों की तरह इस्तेमाल किए जाने से इन्कार करें, निषेध करें। निषेध स्वतत्र इच्छा की अनिवार्य शर्त है। गांधी जी ने स्वतंत्रता को सादगी से जोड़ा था, उसका मतलब भी यही था अर्थात् अपने को उन चीजो से स्वयं वंचित कर लेना जो स्वतंत्रता मे बाधक हैं। उन्होने मशीनो की निर्भरता से मुक्त होने और अपने श्रम पर निर्भर होने का व्रत भी इसीलिए लिया था क्योंकि वे मानते थे कि मशीन आदमी को औज़ार बना देती है।

स्वतंत्र इच्छा में बाधक इन सब बातों के अलावा बुद्धिजीवियों को कुछ सूक्ष्म

बाधाओं से भी लडना पडता है जिन्हे आम तौर पर बाधाओ के रूप मे नही पहचाना जाता किन्तु जो निश्चय ही बड़ी बाधाएं होती है। ये बाधाए हमारी तथ्यात्मकता अथवा 'फैक्टिसिटी' की होती है। भूत (अतीत और पंचमहाभूतो की निर्मिति के अर्थ मे) से सबधित होने के कारण इसे भौतिकता भी कहा जा सकता है। तथ्यात्मकता में वे सभी चीजें आ जाती हैं जो हमें प्राकृतिक रूप से मिली है। यह पूर्व-निश्चित दिए गए तथ्य हैं,जैसे—हमारा शरीर, हमारा परिवेश, हमारी दुनिया, हमारी वे तमाम सस्थाए और व्यवस्थाए जिनमे हम रह रहे है, हमारा समय या काल जिसमे हम जीते हैं, हमारे वे सस्कार जो हमे अपने परिवेश से प्राप्त हुए हैं। ये तमाम चीजे हमारे स्वतंत्र निर्णय मे बाधक होती हैं। शरीर को भूख-प्यास लगती है तो हम उसके निराकरण के लिए अपनी इच्छा के खिलाफ कुछ भी करने को विवश हो जाते है। वासनाओ के आवेग मे हमारी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। घृणा के उफान पर हम अंधे हो जाते हैं। इसी तरह हमारा परिवेश हम पर लगातार दबाव डालता है। समाज क्या कहेगा, रिश्ते-नाते क्या कहेंगे, कानून की नजर में हम अपराधी माने जाएगे, राज्य हमे विद्रोही करार देगा, धर्म सस्थान हमारे खिलाफ फतवे जारी करेंगे, इन सब बातों का डर हमें स्वतंत्र इच्छा का प्रयोग नहीं करने देता। हमारा काल भी हमे बांधता है। हमारा अतीत, अच्छा या बुरा, हमारे साथ रहता है। वह हमारा पीछा नही छोडता। वह हम पर निरतर हावी होना चाहता है। वह हमे गड़े मुर्दे उखाडने, पुराने बदले चुकाने या अतीत को ही वर्तमान की तरह जीने के लिए प्रेरित करता है। हमारे सस्कार, हमारी सहज मान्यताएं भी हमे बाधती है। स्त्रियो के मन मे हजारो साल की पुरुष-दासता के सस्कार उन्हे खुद ही अपने को घूंघट-पर्दे के पीछे छिपाने, मामूली-मामूली बातों पर लजाने और खुलकर अपनी बात न कह पाने को विवश करते हैं। दरअसल संस्कारों की गुलामी सबसे भयानक गुलामी है। जातीय पूर्वाग्रह इसी का रूप है। पाप-पुण्य, शौच-अशौच के हमारे सस्कार हमें स्वतंत्र रूप से काम करने नही देते।

इस तथ्यात्मकता के साथ हम जीते हैं। हम इसे छोड़ नही सकते। लेकिन इसे हम पहचान सकते है और ऐसी सावधानी बरत सकते हैं कि यह हमारे स्वतत्र चिन्तन मे बाधक न बने। ज्ञान और सृजन की साधना का मतलब यही है कि हम इस तथ्यात्मकता के दबावों से मुक्त होकर वस्तुओ को देखें और चिन्तन करें। योग-साधना का लक्ष्य भी यही है। जिन व्यक्तियो ने इस तथ्यात्मकता से ऊपर उठकर सोचा-लिखा वे सही मायनों में स्वतंत्र विचारक हैं। महान लेखको, चिन्तको, वैज्ञानिको के जीवन से हम साफ देख सकते हैं कि उन्होने इस तथ्यात्मकता से कैसे संघर्ष किया। अपने परिवेश, अपनी दुनिया के दबावो से मुक्त होने के लिए वे धर्म राजनीति समाज ही नही ईश्वर की सर्वोच्च व्यवस्था के खिलाफ भी

उठ खड़े हुए। इसके फलस्वरूप उन्हें हमेशा व्यवस्थाओं का कोप झेलना पड़ा। किसी को देश निकाला, किसी को सजा-ए-मौत, किसी को जेल की यातना, किसी को सामाजिक बहिष्कार। इतिहास के किसी भी काल में और किसी भी व्यवस्था में सच्चा लेखक-सर्जक सुरक्षित नही रहा। उसे अपनी आग में भी झुलसना पड़ा, निजी और पारिवारिक सुखो का त्याग करना पड़ा। बदनामी झेलनी पड़ी। विद्रोही बनना पड़ा। उन्हे बड़ी मेहनत से उपार्जित ज्ञान के बोझ को भी अपने सिर से उतार फेंकना पड़ा जैसे स्वामी दयानंद ने स्वामी विरजानंद से दीक्षा लेने के लिए अपनी पुस्तको का गट्ठर जमुना में फेंक दिया था। अपने नैतिक संस्कारों के बोझ से बचने के लिए कभी-कभी उन्हें जानबूझ कर अनैतिक रास्ते पर चलना पड़ा जैसे शरतचंद्र को। उच्चवर्णीय ने अपनी जन्मजात श्रेष्ठता का, निम्नवर्णीय ने अपनी जन्मजात हीनता का, धनी ने अपने मद का और निर्धन ने अपनी विपन्नता का बोझ उतार फेंका, तभी वह महान लेखक-सर्जक बना।

विचार-साधना के इस कठिन मार्ग पर चलने के लिए अपने को अयोग्य पाते हुए भी मैंने विचारो के घटाटोप कुहासे के बीच अपने लिए कोई रास्ता ढूंढने की कोशिश की और उसका परिणाम है यह पुस्तक। अपने शैक्षणिक जीवन के दौरान मैं गांधी और लोहिया के विचारों की ओर आकृष्ट रहा हूं जिन्होंने पश्चिमी सभ्यता की मूल अवधारणाओ को चुनौती दी और एक नए समाज की रूपरेखा देने की कोशिश की। कम-से-कम भारत के संदर्भ में तो उन्होंने इस समाज की धुंधली-सी रूपरेखा दी ही। अस्तित्ववाद के दर्शन की ओर भी मेरी रुचि इसीलिए बढ़ी कि यह दर्शन पश्चिम की उद्योगवादी और भोगवादी आधुनिक सभ्यता के खिलाफ विद्रोह के रूप मे विकसित हुआ और इसलिए गांधी तथा लोहिया के विचारों से इसका काफी तालमेल बैठता था। इसके अतिरिक्त अस्तित्ववाद मे मुझे भारतीय दर्शन-प्रणाली की, विशेष कर सांख्य की प्रतिध्वनि जगह-जगह सुनाई दी। चूंकि मैं मूलतः साहित्य के क्षेत्र का आदमी हूं और अस्तित्ववाद भी मूलतः साहित्य मे ही प्रतिष्ठित हुआ, इस पुस्तक का मुख्य विषय साहित्य ही है। किन्तु यह दिखाने के लिए कि युरोप मे अस्तित्ववाद के जिन विचारों का साहित्य मे प्रयोग हुआ, गांधी और लोहिया ने उनका सामाजिक-राजनैतिक संदर्भ में प्रयोग किया बल्कि इन विचारो का विकास किया, पुस्तक में कुछ चर्चा साहित्येतर विषयो की भी है। आने वाले नए मानव समाज के साहित्यिक मूल्यों के साथ-साथ राजनैतिक और सामाजिक-शैक्षिक मूल्यों पर भी विचार किया गया है।

पुस्तक के पूर्वार्ध मे अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि और इस दर्शन की प्रमुख विशेषताओं पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से प्रसिद्ध अस्तित्ववादी लेखकों/दार्शनिकों के विचारो का सार-संक्षेप प्रस्तुत किया गया है। ऐसा करना मुझे इसीलिए आवश्यक लगा कि अस्तित्ववाद के संबंध मे हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य विद्वानों के विचार

जानकर मैं हतप्रभ-सा रह गया। किसी ने अस्तित्ववाद को घोर व्यक्तिवाद कहा, किसी ने मात्र भोगवाद, किसी ने अनैतिकता का दर्शन। हिन्दी साहित्य पर दो तरह के समीक्षको का वर्चस्व रहा—परम्परावादी और मार्क्सवादी (वैसे इन दोनो खेमो के बीच आधुनिकतावादियों का खेमा भी उभरा लेकिन उसे जमने नही दिया गया) और दोनो ने अस्तित्ववाद को अपनी पूर्वधारणाओ के चश्मे से देखा। मुझे लगता है कि हिन्दी मे इस दर्शन को समझने का गम्भीर प्रयास हुआ ही नही, केवल अस्तित्ववादी लेखको की साहित्यिक रचनाओ के आधार पर कुछ सरसरी निष्कर्ष अपने मतलब के निकाल लिए गए।

मार्क्सवादी समीक्षकों मे डॉ० रामविलास शर्मा के प्रति मेरे मन मे बहुत सम्मान है। उन्होने पार्टी-लाइन से हटकर भी बहुत कुछ सोचा और लिखा है। लेकिन अस्तित्ववाद के संबध मे उन्होने जो रुख 'नई कविता और अस्तित्वाद' मे अपनाया वह उनका स्थायी भाव बन गया 'आजकल' के सितम्बर, 1994 अक मे दिए गए एक इण्टरव्यू मे भी अस्तित्ववाद को वे अमरीकी हथियार ही कहते है। सच्चे कम्युनिस्ट की तरह उन्होने अज्ञेय को ही नही, भारतभूपण अग्रवाल, नेमिचन्द्र जैन, मुक्तिबोध, दिनकर, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' सबको अमरीकी हथियार के पुर्जे घोषित कर दिया! अज्ञेय और उनसे प्रभावित लेखक धर्मवीर भारती, सर्वेश्वरदयाल, श्रीकात वर्मा, लक्ष्मीकात वर्मा आदि (जो उन्ही के शब्दो मे लोहियावादी थे) सब पर उन्होने अस्तित्ववादी (अत: अमरीका परस्त) का ठप्पा लगा दिया और प्रयोगवाद तथा बाद मे नई कविता को मूलत. अस्तित्व-वाद से प्रेरित बताया।

यह देखते हुए कि अमरीका मे अस्तित्ववाद को घृणा से देखा गया और अधिकतर अस्तित्ववादी भी अमरीका से घृणा करते रहे, डॉ० रामविलास शर्मा के उपर्युक्त विचार आश्चर्य मे डालने वाले है।

परम्परावादी समीक्षकों में डॉ० नगेन्द्र का चिन्तन बहुत साफ और उलझन-मुक्त रहा है। किन्तु अस्तित्ववाद के सम्बन्ध में उन्होने भी बहुत सरसरी ढग से विचार किया है। उन्होने साठोत्तरी कालखड के लेखन को 'नवलेखन' काल मान-कर मार्क्सवाद और अस्तित्ववाद को इसकी प्रेरणा कहा। दोनो मे वे प्रतिबद्धता और अप्रतिबद्धता का झीना सा भेद ही देखते है। 'नवभारत टाइम्स' (30 अगस्त, 1994) मे कहते है—"अस्तित्ववादी कलाकार नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक—यहा तक परम्परागत कलात्मक आदर्शों के साथ भी प्रतिबद्ध नही है। यह केवल तात्कालिक स्वानुभूति से ही प्रतिबद्ध है, उसी को समन्वित रूप से अभिव्यक्त करना उसके लिए कला का उपनिषद है—"काव्य का सत्य समन्विति का सत्य है—सवादिता का नही। कविता की सार्थकता उसके अर्थ मे नही, वरन् उसके अस्तित्व (रूप) में ही है "

कुल मिलाकर अस्तित्ववाद हिन्दी मे बदनाम शब्द ही रहा। प्रभावशाली आलोचको द्वारा दी गई इस बदनामी के कारण जिन्होने अस्तित्ववादी लेखन किया वे भी अपने को अस्तित्ववादी कहे जाने से डरते रहे। उदाहरण के लिए अज्ञेय और उनसे प्रभावित कुछ लेखकों ने (जिन्हें डॉ० रामविलास शर्मा लोहिया-वादी कहते है) स्वतन्त्रता की यातना का साहित्य लिखा जो वस्तुत: अस्तित्व-वाद की अभिव्यक्ति थी ('मानव स्वतन्त्रता के लिए अभिशप्त है' के सिद्धांत के अनुसार) किन्तु इन लेखको मे न तो अपने को अस्तित्ववादी कहने का साहस हुआ और न लोहियावादी। संभवत: यह समीक्षको के आतंक के कारण हुआ।

अस्तित्ववादी दर्शन का सार-संक्षेप प्रस्तुत करने के पीछे मेरा निजी स्वार्थ भी रहा है। मुझे यह दर्शन बहुत आकर्षक लगा। विशेषकर भारतीय दार्शनिक प्रणाली के साथ इसका निकट संबंध देखकर मेरे मन मे कुतूहल और जिज्ञासा का जो भाव पैदा हुआ, उसकी तृप्ति के लिए मुझे यह ग्रंथ लिखना पड़ा। अस्तित्ववाद की सारी बारीकियों को पकड़ना मेरे लिए संभव ही नहीं था (क्योकि मैं दर्शन के क्षेत्र का व्यक्ति नही हू) किन्तु जितना पकड़ सका उसी को सहेजने का मैंने प्रयत्न किया है।

खंड एक : अस्तित्ववाद क्या है

इस समय सा
की जा रही
समाज को छ
क्रम रुका था
गया है। प
साम्यवाद दो
जीविता, प्रकृ
उपभोगवाद
पर टिकी थी
लग गया है
के अन्त की
इन्हीं विचा
विचारों का
19वी और
देने वाले अ
के विचारो
सभ्यता के
पुस्तक।

अस्तित्ववाद : एक झलक

अस्तित्ववाद वह सिद्धांत है जो मानव जीवन को संभव बनाता है, जो इस बात पर आस्था व्यक्त करता है कि हर सत्य और हर कर्म परिवेश को भी प्रभावित करता है और मानव मन को भी।

दास्तोएव्स्की ने एक स्थान पर लिखा है : यदि ईश्वर का अस्तित्व नही है तो सब कुछ अनुमत्य है। अस्तित्ववादियो का आरंभ-बिंदु यही है। यदि ईश्वर नही है तो आदमी अकेला और बेसहारा है क्योकि वह न तो अपने भीतर और न बाहर कोई सहारा पाता है। इसके अतिरिक्त यदि ईश्वर नहीं है तो कोई मूल्य और आदेश भी नही है जो हमारे व्यवहार का औचित्य निर्धारित करे। हमारे लिए कोई बहाना नहीं है और अपने काम के लिए हम स्वयं जिम्मेवार है।

अठारहवी शताब्दी के कई दार्शनिको ने भी ईश्वर की कल्पना को नकारा लेकिन पूरी तरह नही। उन्होने परोक्ष रूप से उसे स्वीकार किया जब उन्होने सत्त्व (एसेस) को अस्तित्व की तुलना में प्राथमिकता दी, सत्त्व को अस्तित्व से पूर्व माना। वे मानव की पूर्व विद्यमान कल्पना अथवा स्वरूप को मानते थे वैसे ही जैसे चाकू के स्वरूप की कल्पना लोहार को होती है। नास्तिक अस्तित्ववादियो (जिनमें सार्त्र आते हैं) का कहना था कि आदमी का कोई पूर्व निश्चित स्वरूप नही हो सकता क्योकि ईश्वर ही नही है जो उस स्वरूप की कल्पना करता। न सिर्फ मनुष्य वह है जिसकी कल्पना वह खुद करता है बल्कि वह है जिसकी वह इच्छा करता है और चूकि अस्तित्व के बाद ही वह कल्पना एवं इच्छा कर सकता है, अतः वह अपना निर्माता स्वयं है। अस्तित्ववाद का यह सर्वप्रथम सिद्धात है जिसे सब्जेक्टिविटी या कर्त्तृत्व कहा गया है।

अस्तित्ववाद महज व्यक्तिवाद नही है। इसमें सारी मानवता की चिंता अतर्निहित है। मानसिक पीड़ा (ऐंगुइश) जो अस्तित्ववाद का एक प्रमुख सिद्धात है, निर्णय के उत्तरदायित्व को स्वीकार करने का फल है। यह हमे कर्म से जुदा नही करती बल्कि यह कर्म की मूल शर्त है। प्रत्येक व्यक्ति के साथ जो कुछ घटता है वह सारी को प्रभावित करता है गोया सारी की नजर इस बात

पर लगी रहती हैं कि वह व्यक्ति क्या करता है और कैसे जीता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने से यह प्रश्न करना चाहिए कि क्या वह इस तरह अपने कर्म का चुन सकता है कि सारी मानवता के लिए यह कर्म उपयोगी हो। यदि आदमी ऐसा नहीं करता तो मानसिक पीड़ा को व्यर्थ गंवाता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के फ्रांस के नैतिकतावादियों ने तर्क दिया : "ईश्वर व्यर्थ और खर्चीली कल्पना है अतः हम इसके बिना काम चलाएंगे। किन्तु यदि हमें नैतिकता, समाज और कानून को बनाए रखना है तो यह जरूरी है कि कुछ मूल्यों को गम्भीरता से लिया जाए, उनका पूर्वनियत अस्तित्व माना जाए। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक माना जाए कि वह ईमानदार हो, झूठ न बोले अपनी पत्नी को न पीटे आदि आदि।" उनका अभिप्राय था कि ईश्वर नहीं रहेगा तो भी कुछ नहीं बदलेगा। ईमानदारी, प्रगति और मानवीयता के मानदण्ड ईश्वर से मुक्ति प्राप्त करने के बाद भी वही रहेंगे। यह ईश्वर को ही नैतिक मूल्यों के नाम पर पुनः प्रतिष्ठित करना है।

अधिकतर लोगों के पास कष्ट के समय आने को दिलासा देने का एक बहाना होता है। वे सोचते हैं कि परिस्थितियां उनके खिलाफ थीं। मैं बहुत कुछ बन सकता था किन्तु परिस्थितियों ने मेरे साथ धोखा किया। अस्तित्ववाद यह बहाना स्वीकार नही करता है। वह आदमी को उसके वर्तमान और भविष्य के लिए उत्तरदायी मानता है। अगर वह कायर है तो वह अपनी कायरता के लिए खुद जिम्मेवार है। अस्तित्ववाद दिल या फेफड़ो की कमजोरी को कायरता का कारण नही मान सकता बल्कि वह यह मानता है कि आदमी ने कर्म के अपने निर्णय से अपने को कायर बनाया अर्थात् सही निर्णय नहीं लिया।

मनुष्य के प्रत्येक कर्म का उद्देश्य या तो जन्म, देश-काल आदि की तथ्यात्मक सीमाओ को (अपनी परिस्थितियों को) पार करना अथवा उनका विस्तार करना अथवा निषेध करना अथवा उनके अनुसार अपने को ढालना होता है। अतः प्रत्येक उद्देश्य चाहे वह कितना ही वैयक्तिक हो, सार्वजनिक महत्त्व का होता है।

अस्तित्ववादी इस मामले मे नास्तिक नही होता है कि वह ईश्वर का अनस्तित्व सिद्ध करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देगा। बल्कि वह कहता है कि ईश्वर होगा भी तो इससे कोई फर्क नहीं पड़ता; इसलिए नहीं कि वह ईश्वर का अस्तित्व मानता है बल्कि इसलिए कि मानव के अस्तित्व की यह वास्तविक समस्या ही नही है।

अस्तित्ववादियो का प्रयोजन यह दिखाना नहीं है कि आदमी दुनिया में कैसे आता है या वह दुनिया में अपने को कैसे समायोजित करता है। उनका मुख्य प्रयोजन यह दिखाना है कि दुनिया में आदमी के होने का स्वरूप क्या है और उस स्थिति का स्वरूप क्या है जिसमें आदमी अपने-आपको दुनिया में समायोजित

करता है। दूसरे शब्दों में उनकी दृष्टि सत्ता मीमासक की है।

उनके अनुसार दो प्रकार की सत्ताए है। एक वह जो स्वत पूर्ण है और दूसरी स्व के लिए निरतर व्याकुल है। पहली को वे en-soi और दूसरी को pour-soi कहते है। अग्रेजी मे इनका अनुवाद in-itself और for-itself किया गया है। एक स्व-मे और दूसरी स्व-के लिए। भारतीय दर्शन की शब्दावली मे इन्हें सद् और चिद् अथवा द्रव्य और आत्मा या प्रकृति और पुरुष कहा जा सकता है। पहली श्रेणी मे जड़ पदार्थ अथवा वस्तुए आती है और दूसरी मे चेतनायुक्त प्राणी विशेषकर मनुष्य।

आदमी इस दुनिया में आने पर अपने को वस्तुओं की दुनिया मे पाता है अपने को उसके एक हिस्से अथवा एक वस्तु की तरह। किन्तु वह चेतनायुक्त है और जब वह अपनी चेतना से काम लेने लगता है तो जड वस्तुओ की दुनिया के बीच अपने को अलग पहचानने लगता है। उस समय जगत की उसकी चेतना अभेदमूलक होती है अर्थात् आस-पास की दुनिया की सामान्य चेतना जिसमें वह वस्तुओ को अलग-अलग नही पहचानता है। जब यह चेतना भेदमूलक बनती है अर्थात् आदमी अलग-अलग वस्तुओ के बारे मे सोचने लगता है जो एक मनोवैज्ञानिक क्रिया है तो उसके सामने वस्तुए प्रकट होने लगती है। वस्तुओ का प्रकट होना ही ज्ञान या फिनामिनोलाजी है। इन वस्तुओ का यह प्रकट रूप फिनामिना अथवा आभास कहलाता है। मानव-चेतना में ये आभास प्रवेश करते है, वस्तुए नही, जिनका अस्तित्व हमेशा चेतना से बाहर रहता है।

आभास के कई पहलू होते है। एक आदमी को इनमे से किसी एक अथवा कुछ पहलुओ से ही सतोष करना पड़ता है। वह वस्तुओ को सारे पहलुओ में नही देख सकता। इसीलिए वस्तुओ के सबध मे उसका ज्ञान हमेशा अधूरा रहता है।

आभासी वस्तुएं, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गध आदि ऐन्द्रिय गुणो का विषय होती है। लेकिन मानव-चेतना इन ऐन्द्रिय अनुभूतियो तक सीमित नही रहती बल्कि वह इनका पारगमन करती है और इन आभासी वस्तुओ को ऐसे रूप मे बदल देती है कि वह उसके लिए कोई उपयोगी वस्तु—हथियार, औजार, मेज-कुर्सी आदि बन जाए।

मानव चेतना अपने साथ एक शून्य अथवा रिक्ति को लेकर आती है और वह इसे जगत की वस्तुओं पर आरोपित करती है ताकि वह वस्तुओं का निषेध करके अपने को वस्तुओं से अलग पहचान सके। निषेध का मतलब है वस्तुओ की यथास्थिति से असतोष व्यक्त करना तथा उन्हें अपनी इच्छा के अनुरूप वस्तुओ मे बदलना।

यह शून्य या रिक्ति जिसे सार्त्र ने 'नथिंगनेस' कहा है, आदमी को इस योग्य बनाती है कि वह अपने को वस्तुओ से और वस्तुओं को एक दूसरे से अलग

कर सके। इस शक्ति के बल पर वह तथ्य या वस्तु होने से इनकार करता है। जब वह यह कहता है कि यह मेज, कुर्सी या फूलदान है तो वह उनसे, यह घोषणा करता है कि मैं मेज, कुर्सी या फूलदान नहीं हू और यह भी कि मेज, कुर्सी या फूल-दान नही है अथवा कुर्सी, मेज अथवा फूलदान नहीं है। नहीं के प्रयोग के बिना, अर्थात् निषेध के बिना न तो वह अपने को पहचान सकता है और न वस्तुओं को जान सकता है। दूसरे शब्दो मे निषेध ही ज्ञान का माध्यम है।

मनुष्य (आत्मा) स्व-मे नही, स्व-के लिए है। यह व्याकुल चेतना है। इस व्याकुलता का कारण भी यह है कि वह स्व-में नही है, वह असत् अत: आधारहीन है। किन्तु वह पूरी तरह स्व-में (सद् में) नही बदलना चाहता क्योंकि तब वह अपनी चेतना खो देगा और जड़ वस्तु बन जाएगा। वह स्व-में और स्व-के लिए दोनो एक साथ बनना चाहता है। भारतीय दर्शन की शब्दावली मे वह सद्-चिद् बनना चाहता है। सार्त्र का कहना है कि यह उसकी ईश्वर बनने की कामना है क्योंकि सद्-चिद् का समाहार केवल ईश्वर में ही संभव है जो कि एक असंभव कल्पना है।

मानवात्मा अपने को अधूरा पाती है और उस अधूरेपन को पूरा करना चाहती है। स्वतंत्रता का सही अर्थ यही है। इस स्वतंत्रता के कारण ही आत्मा अपने अधूरेपन को पहचानती है और इसे न सिर्फ एक अभाव (कमी) के रूप में देखती है बल्कि एक मूल्य मे भी। इसका मतलब है कि मूल्य अपने में कुछ नहीं है। यह मनुष्य द्वारा तय होता है। आत्मा किसी 'वस्तु' को प्राप्त करना नहीं चाहती अपितु अपने अधूरेपन को भरने के लिए सद् का आधार प्राप्त करना चाहती है, वह सद्चिद् होना चाहती है। चूंकि यह असंभव है अत: मानव-जीवन मात्र निराशा (डिस्पेयर) है।

अपने परिवेश अथवा स्थितियो मे लिप्त आत्मा अहंकार है, यह मैं की भावना है। किन्तु यह 'मैं' मनुष्य का वास्तविक स्वरूप, आत्मा, नही है। अपने को 'मैं' के रूप मे जानने के लिए भी उसे 'अन्य पुरुष' या दूसरे व्यक्ति की जरूरत होती है क्योंकि 'मैं' दूसरे मे अपना प्रतिबिम्ब देखकर ही अपने बारे में जान सकता है। इस 'मैं' को पहचाने बिना वह अपने वास्तविक स्वरूप आत्मा को पहचानने की दिशा में प्रगति नही कर सकता।

निस्सदेह मैं अपने बारे मे जानता हूं किन्तु मेरा यह ज्ञान नितान्त वैयक्तिक होता है। यह ज्ञान झूठा न सही लेकिन यह केवल मेरे लिए ही सही है। दूसरो के लिए मैं क्या हू यह मैं तब तक नही जान सकता हूं जब तक मैं दूसरे व्यक्ति की नजरों का लक्ष्य नहीं बनता। अपने को मैं वस्तु के रूप में नही देख सकता लेकिन दूसरो की नजर मे मैं वस्तु बन सकता हू और इस तरह दूसरे के माध्यम से अपने गुणो की जानकारी प्राप्त कर सकता हू। यही चाह मनुष्य को दूसरो से

जोड़ती है—कभी प्रेमी-प्रिय के रूप मे, कभी शत्रु के रूप में ।

सार्त्र की पुस्तकों 'ऐक्जिस्टेंशियलिज्म एंड ह्यूमैनिज्म' और 'टु फ्रीडम कंडेम्ड' के कुछ उद्धरणों से अस्तित्ववाद की जरा-सी झलक पृष्ठभूमि के रूप में देने के पीछे मेरा अभिप्राय यह दिखाना है कि अस्तित्ववाद आधुनिक और वर्तमान पश्चिमी सभ्यता का, जो आज सारी दुनिया की सभ्यता बन गई है, एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उन्मेष है । अस्तित्ववाद ने इस सभ्यता को नये ढंग से परिभाषित भी किया और इसकी मूल धारणाओं तथा मूल्य-प्रणाली को चुनौती भी दी । पश्चिमी सभ्यता इस समय टूट के कगार पर पहुंच गई है । काफी हद तक अस्तित्ववाद भारतीय दार्शनिक प्रणाली के साथ मेल खाता है विशेष कर साख्य, न्याय, वैशेषिक के साथ । अत: अस्तित्ववाद पर गंभीर चिंतनकी आश्यकता है, विशेषकर भारतीय दर्शन के संदर्भ में और पश्चिमी सभ्यता के स्थान पर एक नई मानव सभ्यता के विकास की दृष्टि से ।

अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि

अस्तित्ववाद पश्चिम की दार्शनिक विचारधाराओं, आदर्शवाद, प्रकृतिवाद और इतिहासवाद की प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुआ। प्रकृतिवाद विश्वकाल की समग्र सत्ता, समस्त वस्तुओं और व्यक्तियों को प्राकृतिक नियमों से चालित मानता है। इतिहासवाद इतिहास की खोज से विकसित हुआ और उसने मानविकी विज्ञानो की स्थापना की। इसमे मानव-मन को भी इतिहास की निर्मिति माना गया। आदर्शवाद ने व्यक्तियों और वस्तुओं की सत्ता को स्वीकार करने के बजाय उनके सार, सत्त्व या विचार को सर्वोपरि माना।

19वीं शताब्दी तक पश्चिमी दर्शन का इतिहास मुख्यतया आदर्शवाद से प्रभावित रहा। इसे सत्त्ववाद या एसेंशियलिज्म भी कहा जाता है।

पश्चिमी दर्शन का मूल स्रोत सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि ग्रीक दार्शनिको की प्रस्थापनाएं हैं। प्लेटो (480 ई० पू०—328 ई० पू०) की रचनाओं में दर्शन की उन मूलभूत समस्याओ से हमारा परिचय होता है जो आगे चलकर देकार्त, कांट, स्पिनोजा शॉपनहावर और हीगेल द्वारा आदर्शवाद या प्रकृतिवाद के नाम से उठाई गईं और जिनकी प्रतिक्रियास्वरूप अस्तित्ववाद का विकास हुआ। उल्लेखनीय है कि ग्रीक दार्शनिक ईसा से चार-पांच शताब्दी पूर्व जिन प्रश्नों को उठा रहे थे ठीक उसी तरह के प्रश्न भारतीय मानस को भी उद्वेलित कर रहे थे और उनकी अभिव्यक्ति उपनिषदों तथा दर्शनशास्त्रों में हो रही थी। यह कहना मुश्किल है कि ग्रीक दार्शनिक भारतीय विचार-परम्परा से किस सीमा तक परिचित थे। किन्तु ऐसा लगता है कि दोनों के बीच काफी सम्पर्क रहा होगा। प्लेटो के सवादो मे अनेक स्थानो पर इसका आभास मिलता है और प्लेटो और अरस्तू के विचार मूलतः सुकरात से प्रेरित हैं जो घुमक्कड़ और अलमस्त तबियत के व्यक्ति थे। उनके अपने कथनानुसार वे ज्ञान की खोज में निकले पथिक थे। 'अपोलोजी' मे वे कहते हैं: "मैं देवताओं की आज्ञा का पालन करते हुए दुनिया में भटकता हूं और यदि कोई बुद्धिमान नागरिक या अजनबी मिलता है तो मैं उससे ज्ञान के बारे मे जिज्ञासा करता हूं। मैं भविष्यवक्ता के कथन को

सचाई जानने के लिए बुद्धिमान कहे जाने वालो से सवाद करता हूँ।" (भविष्य-वक्ता ने सुकरात को बताया था कि वह एथेन्स का सबसे बुद्धिमान व्यक्ति है)। दूसरे शब्दो मे वे अपने ज्ञान के परीक्षण के लिए जिज्ञासु के रूप मे भ्रमण करते थे और दूसरो से संवाद करते थे और अपने को एक घुड़-मक्खी मानते थे जिसे एथेन्स राज्यरूपी घोडे को निरंतर सक्रिय रखने का काम देवताओ ने सौंपा था।

सुकरात के सवाद उपनिषदों के संवादों की तरह मन की स्वच्छन्द यात्राए हैं। इनमें कोई सैद्धांतिक नैतिक प्रणाली नही मिलती किन्तु इनमे दर्शन के कुछ संकेत, कुछ सूत्र मिलते हैं जिन्हें आगे चलकर उनके शिष्यो ने विधिवत् दार्शनिक प्रणाली का रूप दिया। भारतीय दर्शन-शास्त्र का विकास भी उपनिषदो के सवादो मे बिखरे सूत्रों के कालातर में समन्वय से हुआ।

सुकरात के सवाद का एक प्रमुख सूत्र है कि आदमी सत्य, शिव और सुन्दर के प्रति स्वाभाविक रूप से आकृष्ट होता है। कोई भी आदमी इनके विपरीत नही चुनता है और यदि वह ऐसा करता है तो इसका कारण होता है उसका अज्ञान। सुकरात की नजर मे एक ही अच्छी चीज है और वह है बुद्धिमत्ता या ज्ञान और एक ही बुरी चीज है और वह है अज्ञान या मूर्खता।

ऐसा लगता है कि सुकरात मे और प्लेटो आदि मे भी जन्म से पूर्व मनुष्य-आत्मा की स्थिति के बारे मे एक मिथकीय विश्वास था और मृत्यु के बाद के जीवन के बारे मे पुनर्जन्म की धारणा भी उनमें थी। इनके अनुसार धरती का सौंदर्य मानवात्मा को अमर्त्य स्वर्ग के उन शुद्ध, निरपेक्ष और अनाच्छादित सत्त्वो की याद दिलाता है जिनमे मानवात्मा धरती पर आने से पहले रहती थी। बुद्धि-मत्ता, न्याय, उदारता आदि सत्त्वों का धरती पर प्रतिरूप नहीं दिखाई देता किन्तु सौंदर्य के प्रतिरूप दिखाई देते हैं जो मनुष्य मे स्वर्ग के शुद्ध सौंदर्य की मोहक याद दिलाते हैं। सौंदर्य का प्रेम आत्मा के मूल निवास-स्थान (स्वर्ग) की चाह की अभि-व्यक्ति है।

प्लेटो पर सुकरात के अतिरिक्त दो व्यक्तियों का विशेष प्रभाव था। एक थे हेराक्लिटस जिनका सिद्धात था कि हर चीज परिवर्तनशील है, केवल परिवर्तन के नियम स्थिर हैं। वे परिवर्तनशील नही है। एक ही नदी मे दोबारा प्रवेश नही किया जा सकता और न दोबारा प्रवेश करने वाला व्यक्ति वही व्यक्ति होता है। दृष्टि-गोचर बाह्य जगत और भावनाओं-संवेदनाओ का अतर्जगत, विश्व और व्यक्ति सब लगातार परिवर्तन की क्रिया में है। ऐसे विश्व में स्थायी ज्ञान असंभव है अत: नैतिक मूल्यो की स्थिरता भी असंभव है। मनुष्य ही तमाम मूल्यो का मापदंड है और वह खुद भी परिवर्तनशील माप है। परिवर्तनशीलता का यह सिद्धांत मनुष्य को चिरव्याकुल बनाने वाला था। दूसरी ओर परमीनिडस और उसके अनुयायियों की मान्यता थी कि परम सत्ता एक ही है और वह [illegible] है और शेष

सारी दुनिया माया है, भ्रम है, इन्द्रियों की अवास्तविक मृग-मरीचिका है। एक तरफ निरपेक्ष, निर्विकल्प, अविभाज्य, शाश्वत सत्ता और दूसरी ओर सतत परि-वर्तनशील अवास्तविक संसार।

इन दो विरोधी विचार प्रणालियों से उद्वेलित प्लेटो को गुरु सुकरात के सान्निध्य में निश्चय ही शांति मिली होगी। सुकरात का मन सिद्धांतों, मतवादों, और सुनिश्चित कट्टर विचार-प्रणाली में जकड़ा हुआ नहीं था। वे प्रत्येक मत को, प्रत्येक सिद्धांत को खुले मन से परीक्षा करने के लिए तत्पर रहते थे। उन्होंने नैतिक मूल्यों के स्थायित्व के जो विचार रखे और उनकी जो तार्किक परिभाषा प्रस्तुत की उससे प्लेटो को अपने विचार सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने में सहायता मिली।

सुकरात ने कहा सभी संवादों में सार्वभौम सारतत्त्व निहित होते हैं। न्याय के अलग-अलग मामले हमें न्याय की संकल्पना देते हैं। शौर्य के उदाहरण हमें शौर्य की परिभाषा देते हैं। इन परिभाषाओं तक पहुँचना कठिन हो सकता है किन्तु इनके अस्तित्व को माने बिना कोई भी संवाद, कोई भी ज्ञान असम्भव है।

सुकरात ने सार्वभौम तत्वों की जो परिभाषाएं दीं वही प्लेटो के लिए विचार या आदर्श की संकल्पनाएं बनीं। सुकरात ने कहा सभी संवादों में संकल्पनाएं विद्यमान होती हैं। प्लेटो ने सभी सार्वभौम संकल्पनाओं में दृश्य जगत के अनुभवों को देखा। सुन्दर वस्तुएं नश्वर हैं किन्तु 'सुन्दर' का विचार या आदर्श अनश्वर है। सभी वस्तुओं में एक सामान्य गुण है जिसे एक ही नाम दिया जा सकता है। यह सब वस्तुओं में विद्यमान सामान्य गुण प्लेटो की दृष्टि में रूप या विचार है और सभी वस्तुओं के सत्वों का संसार आदर्शों का संसार है। ये सारतत्त्व, रूप या विचार सुकरात की परिभाषाएं हैं जिन्हें प्लेटो की रचनाओं में स्वतंत्र सत्ताओं के रूप में परिवर्तित किया गया है। इनका यहां अपना अस्तित्व है, अपनी व्यवस्था है। यह वस्तुओं और व्यक्तियों के असली स्वरूप का संसार है जिसका स्थान और महत्व 'शिव' (श्रेयस्कर) के आदर्श से निर्धारित होता है। प्लेटो ने और बाद में अरस्तू ने भी जीवन की इस संकल्पना में कई कठिनाइयां देखीं और उन्होंने विचार या आदर्श की दुनिया तथा वस्तुओं की दुनिया के संबंध के इस रूपक को अध्यात्म-वाद के कठोर नियमों का रूप नहीं दिया। लेकिन प्लेटो ने विचारों की दुनिया को गंभीरता से लिया, यह उनके संवादों से सिद्ध होता है।

लेकिन प्लेटो इन प्रस्थापनाओं से उठने वाले प्रश्नों के प्रति भी जागरूक थे और उन्होंने खुद ये प्रश्न उठाए भी जैसे : आदमी के विचार का आदमी से क्या संबंध है? कुर्सी का विचार कुर्सी से किस रूप में संबंधित है? यदि विचार, निरपेक्ष विचार-संसार की ही चीज है और हम वस्तुओं की सिर्फ ऐन्द्रिय अनुभूति प्राप्त करते हैं तो हमें विचारों का ज्ञान कैसे होगा? क्या विचार सत्य, न्याय और विवेक जैसी वस्तुओं का ही होता है अथवा कीचड़ और कंघी का भी कोई विचार (आदर्श)

होता है? यदि विचारों पर विचार किया जा सकता है तो यह विचार कौन करता है, स्वय विचार (ब्रह्म) या और कोई?

प्लेटो के विचारो की दुनिया मूल्यो की दुनिया है। प्रोफेसर डेवी के अनुसार "प्लेटो के विचारों की दुनिया वास्तव मे ऐसी वस्तुओ की दुनिया है जिनकी तमाम कमियो को दूर कर दिया गया है। यह मन की इच्छा के शुद्ध सारतत्वो की दुनिया है। सतत अस्थिरता मे दुखी मन के लिए यह परिवर्तनहीन, शाश्वत संसार है। यह अव्यवस्था के दु स्वप्नो से पीडित मन के लिए शाश्वत और स्थायी व्यवस्था है।"

प्लेटो की समस्त रचनाओं का उद्देश्य 'अच्छे जीवन' को परिभाषित करना है। यह काम उन्होंने सूत्रों मे नही, प्रत्येक मानवात्मा की एकता, तारतम्य और प्रामाणिकता के विचारो की प्रस्थापनाओ से किया और ऐसा करते समय उन्होंने समस्त मानवात्माओं की एकता की कल्पना समाज और राज्य के रूप मे रखी।

प्लेटो की रचनाओं में ज्ञान और सद्‌गुण की एकता पर जोर दिया गया। 'रिपब्लिक' मे उन्होंने इस ऐक्य सम्बन्ध को विस्तार दिया। उन्होंने कहा कि ज्ञान का मतलब है वास्तविकता को जानना; वास्तविकता अर्थात् प्राकृतिक वस्तुओ के शाश्वत अपरिवर्तनशील तत्त्वो की मौजूदगी। वास्तविकता को जानना, प्रतीयमान तथ्यों के सम्बन्ध मे सरसरी राय बनाने से भिन्न है। अत. प्रकृति, समाज और आत्मा की वास्तविकता को जानना ही अच्छे जीवन का आधार है। विश्व की वास्तविकता को जानने का मतलब है स्वाभाविक तौर पर अपनी आत्मा और समाज के श्रेयस्कर तत्व को पहचानना। जैसाकि सुकरात ने कहा था सत्य को जानने का मतलब है शिव और श्रेयस्कर को चुनना। शिव के व्यापक और सर्वोच्च आदर्श की अभिव्यक्ति ही सत्य है। अच्छा काम, सच्चा, प्रामाणिक और उचित काम है। यह शाश्वत व्यवस्था की स्पष्ट दृष्टि का दृढता से अनुसरण करते हुए आत्मा की क्रिया है।

ऐसा लगता है कि ईसापूर्व पांचवी शताब्दी मे एथेन्स में सुकरात का आविर्भाव एक अद्‌भुत और युगातरकारी घटना थी। उनके विचार तत्कालीन यूनान के लिए नितात नये और चौकाने वाले थे। इसीलिए उनका विरोध हुआ और अन्त मे सुकरात को एथेन्स के नगर-लोकतंत्र ने प्राणदड दिया। प्लेटो के 'संवादों' से इस बात की स्पष्ट झलक मिलती है कि सुकरात के जीवन-मृत्यु, सत्य, शिव, सौन्दर्य और आत्मा-परमात्मा संबंधी विचारो और उनकी तर्क-शैली पर भारतीय दार्शनिक चिंतन का बहुत प्रभाव था। 'अपोलिजी' मे वे एथेन्स वासियो को संबोधित करते हुए कहते हैं: "यदि आप समझते हैं कि मनुष्य की हत्या करके किसी को अपनी बुराइयो की आलोचना करने से रोक सकते हैं तो आप गलती पर है। आलोचना से बचने का यह तरीका न तो सम्भव है और न शालीन सबसे आसान और

अच्छा तरीका है अपने को सुधारना।" मृत्यु के संबंध में वे कहते हैं : "मृत्यु या तो पूर्ण अचेतनावस्था है या आत्मा का एक दुनिया से दूसरी दुनिया में प्रस्थान। दोनों ही रूपों में यह मेरे लिए लाभदायक है। अगर यह पूर्ण निद्रा-सी अचेतनावस्था है तो मेरे लिए अनंतकाल एक रात्रि के समान है। और यदि यह आत्मा का दूसरी दुनिया में प्रस्थान है तो यह और भी खुशी की बात है क्योंकि वहां मुझे हेसियड, होमर जैसे महान लोगों के साथ रहने का अवसर मिलेगा।...मैं उस दुनिया में जाऊंगा जहां प्रश्न पूछने के लिए आदमी की हत्या नहीं की जाती।"

'क्रिटो' संवाद में हम पाते हैं कि सुकरात को जेल से निकाल ले जाने के लिए उसके शिष्य और मित्र पूरी व्यवस्था कर लेते हैं किन्तु सुकरात जेल से निकल भागने के लिए तैयार नहीं होते हैं। जिस राज्य ने उन्हें अन्यायपूर्ण मृत्युदंड दिया था, उसके प्रति और उसके कानून के प्रति इतनी निष्ठा व्यक्त करते हैं कि वह एक प्रकार से ईश्वर की निष्ठा बन जाती है। जिस दिन सुकरात को विषपान करना था उस दिन उनकी मनःस्थिति तो ऐसे योगी की थी जिसने मृत्यु पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली हो। उस दिन उन्होंने अपने शिष्यों के साथ सबसे लम्बा संवाद किया। 'फेडो' नामक इस संवाद में उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण और गूढ़ विषयों की चर्चा की जैसे—सत्य और ज्ञान का स्वरूप, आत्मा की अनश्वरता, विचार या आदर्श का शाश्वत स्वरूप, स्वर्ग और नरक, कर्मफल और पुनर्जन्म आदि। विषपान करने से पहले खुद ही स्नानागार में जाकर स्नान किया ताकि मृत्यु के बाद परिचारिकाओं को शव-स्नान न कराना पड़े। विषपान करने के बाद धीरे-धीरे विष को शरीर में फैलने की क्रिया का शांतचित्त से अध्ययन करते रहे और जब उन्हें लगा कि विष का प्रभाव हृदय पर पड़ने लगा है तो मुंह ढककर सो गए। फिर कुछ याद आया और मुंह से कपड़ा हटाकर क्रिटो से बोले, "एस्क्लिपियस का मेरे ऊपर कर्ज बाकी है, एक मुर्गा, वह उसे जरूर दे देना।" और वे चिर-निद्रा में सो गए।

अंतिम संवाद 'थेटेटस' में सुकरात द्वारा अपने समय की प्रचलित दार्शनिक विचारधाराओं की तर्क-परीक्षा का वर्णन है। प्रोटोगोरस की विचारधारा कि आदमी ही सब सत्यों का मापदंड है, हेराक्लिटस का परिवर्तनवाद और परमेनिडस का एकसत्तावाद इन सबका सुकरात ने खंडन किया है। ज्ञान का अहंकार पालने वालों को उन्होंने अपनी अनुभवसिद्ध युक्तियों से पराजित किया। इस पर उनके एक विद्वान शिष्य अल्कीबियाडस ने उन्हें अद्भुत मस्तिष्क वाला विश्व तानाशाह कहा। 'सिम्पोसियम' में प्रेम पर आयोजित परिचर्चा में सबसे अन्त में बोलते हुए सुकरात ने डायोतिमा नाम की स्त्री के प्रेम संबंधी विचारों को उद्धृत करते हुए कहा कि मनुष्य अमरता के लिए जीता है जो आत्मा की सहज प्रकृति है और प्रेम का लक्ष्य नवसृजन है, सन्तान के रूप में भी और रचना के रूप में भी और यह जीवन के सातत्य में अमरता की ही उपलब्धि है।

युथीफ्रो के साथ संवाद मे सुकरात ने बताया कि उसके विरोधी उस पर किस तरह के आरोप लगाते हैं : "वे कहते हैं कि मैं कवि हू या देवताओं को गढ़ने वाला हू। मैं नए देवताओं का आविष्कार करता हू और पुराने देवताओ के अस्तित्व को नकारता हूं।" अपोलिजी मे भी वे अपने ऊपर लगाए गए आरोपो का जिक्र करते हैं जैसे : सुकरात बुरे काम करता है और विचित्र व्यक्ति है जो धरती के नीचे और स्वर्ग में नई चीजो की खोजबीन करता है और बुरे को अच्छा तथा अच्छे को बुरा सिद्ध करता है। वह अपने उपदेशो से युवको को गुमराह करता है आदि-आदि।

इस प्रकार आदर्शवाद (एसेंशियलिज्म) के नाम से जानी जाने वाली सभी पश्चिमी दार्शनिक प्रणालियो का मूल स्रोत ग्रीक दार्शनिक प्रणाली है। अस्तित्व-वाद इनके खिलाफ विद्रोह है।

अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक

अस्तित्ववाद के लगभग सभी विचारक प्लेटो, अरस्तू आदि दार्शनिकों के आदर्शवाद के खिलाफ आवाज उठाते हैं क्योंकि उस आदर्शवाद ने आगे चलकर राज्य और समाज के रूप मे ऐसी सत्ताओं को जन्म दिया जिन्होंने मनुष्य की व्यक्तिगत भावनाओ और क्षमताओं के दमन का काम किया। किन्तु सुकरात के प्रति लगभग सभी अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने बड़ा आदर प्रकट किया हालांकि उन्होने ही सर्वप्रथम सृष्टि के सारे कार्य-व्यापार में विचार अथवा आदर्श की एकता की कल्पना रखी। शायद इसका कारण है कि सुकरात एथेन्स के नगर-राज्य मे अकेला आदमी था जो व्यवस्था के खिलाफ व्यक्तिगत रूप मे विचारों की लडाई लड़ रहा था और जिसमें उसने मौत की सजा को सहर्ष स्वीकार किया था। अस्तित्ववादियों के लिए वह इसलिए आदर्श पुरुष था क्योंकि अस्तित्ववाद भी व्यवस्था के खिलाफ व्यक्ति का वैचारिक युद्ध है। अस्तित्ववाद की अधिकांश शब्दावली भी सुकरात से ली गई जैसे भाव-अभाव (बीइंग-नॉन बीइंग), अस्तित्व (एक्सिस्टेंस), नेति-नेति (नथिंगनेस), सत्त्व (एसेंस), तर्कशास्त्र (डायलेक्टिक्स) स्वतन्त्रता (फ्रीडम) आदि। ज्ञान-मीमांसा की सुकरात की विधि व्यक्ति के अनुभवों पर आधारित थी और इसका अनुसरण भी सब अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने किया।

यूरोप के विद्वानों ने नवजागरण काल में ग्रीक दार्शनिकों से साक्षात्कार किया। अनेक शताब्दियों के अंधकार युग से निकलने के बाद यह ज्ञान बड़ा नया प्रकाश लेकर आया। अराजकता के अंधकार के बीच एक नई सभ्यता के निर्माण के लिए उन्होंने इसका उपयोग किया। ग्रीक विचार भारतीय विचार की तरह ही अमूर्त निरपेक्ष सत्ता (ब्रह्म) की ओर ले जाता था। किन्तु दोनो में अन्तर यह था कि ग्रीक विचार का विकास नगर सभ्यता के बीच हुआ और भारतीय विचार का विकास नगरो और राजधानियों की सभ्यता से दूर आश्रमों में हुआ। ग्रीक विचार राज्य तथा समाज की अमूर्त-निरपेक्ष सत्ता के निर्माण में सहायक हुआ जबकि भारतीय विचार ने ब्रह्म को समाज या राज्य के रूप में देखने के बजाय एक रहस्य-

मयी सत्ता के रूप मे देखा जो व्यक्तिगत साधना का ही विषय रहा। यह ब्रह्म आगे चलकर अवतारो के रूप में पूजा-उपासना का और वैयक्तिक मोक्ष की साधना का विषय भी बना। दूसरे शब्दों में इससे धार्मिक सत्ताओ का निर्माण तो हुआ लेकिन राज्य तथा समाज की सत्ता के निर्माण में इसकी विशेष भूमिका नही रही।

इसके विपरीत ग्रीक विचार मे सुकरात के समय से ही राज्य को न्याय आदि निरपेक्ष मूल्यों की अमूर्त किन्तु ठोस सत्ता के रूप में देखा गया। युरोप के नव-जागरण काल मे इसने एक नई सभ्यता के निर्माण मे योगदान दिया।

सत्रहवी और अठारहवी शताब्दी के अधिकाश दार्शनिक आदर्शवादी कहलाते हैं। उन्होंने व्यक्ति की तुलना मे समाज अथवा राज्य को अधिक महत्व दिया। उन्होंने व्यक्ति के अस्तित्व से पहले विचार, आदर्श, नैतिकता, तर्क-संगत नियमो को जिन्हे सत्त्व या एसेंस कहा जाता है, स्वीकार किया। इस दृष्टिकोण को मानने वालों का कहना था कि चूंकि विचार की एक सार्वभौम शाश्वत सत्ता है अत व्यक्ति उसके अधीन रहने के लिए बाध्य है। व्यक्ति की अधीनता का यह विचार आगे चलकर राज्य अथवा समाज के लिए व्यक्ति की पूर्ण उपेक्षा का कारण बना। उदाहरण के लिए हीगेल ने राज्य को आदर्श का सर्वोत्कृष्ट रूप, निरपेक्ष सत्ता बनाया जिसने राज्य के लिए असख्य मानव हत्याओ को भी एक तरह से जायज ठहरा दिया। इस आदर्शवाद के तर्क मे ही औद्योगिक क्रांति के लिए निर्धन मजदूरो को दी गई असीम यातनाओ को, साम्राज्यवादी विस्तार के लिए दुनिया की कमजोर जातियों के जनसंहारो को, नाजीवाद, फासीवाद या साम्यवाद के नाम से हुई असख्य मानव हत्याओ को, पूजीवादी प्रगति के लिए चले भयानक शोषण तथा प्रकृति-विनाश को, विज्ञान की प्रगति के नाम पर मानव जाति के विनाश के साजो-सामान के निर्माण को, धर्म अथवा सभ्यता के नाम पर हुई जघन्य मानव हत्याओ को तथा विभिन्न कारणों से हुए विनाशकारी युद्धो को उचित ठहराया जाता रहा है। राज्य, समाज, धर्म, विचारधारात्मक सिद्धांत, प्राकृतिक सिद्धांत (जैसे सर्वाइवल आफ दि फिटेस्ट) ऐतिहासिक अनिवार्यता के सिद्धात, सब व्यक्ति की उपेक्षा करके ही चले हैं। अस्तित्ववाद ने इन तमाम सत्ताओं के खिलाफ व्यक्ति की सत्ता को पुनर्स्थापित किया।

अस्तित्ववादी विद्रोह का प्रथम स्वर ईश्वर की सत्ता पर अगाध विश्वास रखने वालो ने उठाया हालांकि ईश्वर भी एक अमूर्त सत्ता है। संभवतः इन्होंने राज्य, समाज आदि की लौकिक सत्ताओं द्वारा ईश्वरीय सत्ता के अतिक्रमण से पीडित होकर ऐसा किया। इस सिलसिले का आरम्भ सेंट थामस एक्विनो से माना जाता है जिन्होने अस्तित्व को सत्त्व (एसेंस) से प्रथम माना। उनका कहना था कि अस्तित्व और सत्त्व एक साथ सिर्फ ईश्वर मे विद्यमान हो सकते है। अस्तित्ववाद के बीज दोस्तो-ए-व्स्की में भी देखे जाते हैं जो आर्थोडक्स चर्च पर अगाध विश्वास

रखनेवाले व्यक्ति थे। उन्होंने परिस्थितियों के सिद्धांत का खंडन करते हुए कहा कि आदमी को किसी सामाजिक संस्था के बोझ पर निर्भर बनाने वाला यह सिद्धांत आदमी को नितांत व्यक्तित्वहीन बना देता है। यह उसे व्यक्तिगत नैतिक कर्तव्य से मुक्त कर देता है, उसकी स्वाधीनता छीन लेता है और उसे आनंद व स्वेच्छा गुलामी की अवस्था में ले जाता है। अपनी डायरी में एक स्थान पर वे लिखते हैं: "कुछ लोग भयानक दुष्ट होते हैं लेकिन उनके आदर्श बहुत अच्छे होते हैं।" उनकी यह उक्ति कि ईश्वर नहीं है तो कोई नैतिक मूल्य भी नहीं है और आदमी बेसहारा है अस्तित्ववादियों का बीजमंत्र बन गया जिन्होंने ईश्वर की सत्ता से इन्कार करके मनुष्य को पूर्वनियत नैतिक मूल्यों से बरी कर दिया।

किन्तु सभी अस्तित्ववादी दार्शनिक अनीश्वरवादी नहीं थे। वस्तुतः अस्तित्ववादियो मे आस्तिक और नास्तिक का भेद महत्वपूर्ण नहीं था। उनकी लड़ाई उस आदर्श के खिलाफ थी जिसे कभी समाज, कभी राज्य, कभी धर्म और कभी ईश्वर की सत्ता के रूप में देखा गया और जिसने मनुष्य के व्यक्तित्व को, उसकी भावनाओं को तथा कुल मिलाकर उसके अस्तित्व को मानने से इन्कार किया। किर्केगार्द जैसे आस्तिक ने, जिसने ईश्वर की गोद की ओर पागल छलांग को जीवन की सर्वोत्तम स्थिति बताया, उपर्युक्त सत्ताओं पर सबसे प्रबल प्रहार किया और उसने हीगेल की निरपेक्ष स्पिरिट की तीखी आलोचना की। नास्तिक सार्त्र ने कहा कि ईश्वर होगा भी तो इससे कोई फर्क नहीं पड़ता क्योंकि यह मानव के अस्तित्व की समस्या ही नही है। अस्तित्व से पूर्व सत्य की सत्ता को अस्वीकार करने में सभी अस्तित्ववादी एकमत हैं और यह स्वयं ईश्वर का निषेध है। बच्चा यदि जन्म के साथ अच्छे-बुरे, पाप-पुण्य, सुन्दर-असुन्दर, सत्य-असत्य आदि के नैतिक मूल्यों को लेकर नहीं आता है और केवल पैदा होने के बाद वह इन्हें प्राप्त करने लगता है तो यह विचार अथवा आदर्श की शाश्वत एवं सर्वोपरि सत्ता का असिद्ध होना ही है जिस पर सब अस्तित्ववादी सहमत हैं।

वस्तुतः अस्तित्ववाद मानव चेतना का दर्शन है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में इसे चिद्दर्शन या आत्मा का दर्शन कहा जा सकता है। यह न तो इस बात पर विचार करता है कि सृष्टि कैसे बनी, या ब्रह्मांड की रचना कैसे हुई अथवा इसकी रचना करने वाला कौन है और न इस बात पर कि सृष्टि के नियम क्या हैं और इन्हें किसने बनाया। यह केवल इस बात पर विचार करता है कि मानव चेतना का स्वरूप क्या है, सृष्टि उसके लिए किस रूप में प्रकट होती है और वह सृष्टि को किस तरह प्रभावित करती है। इसके अनुसार न तो विज्ञान के यांत्रिक नियम मानव चेतना के सही स्वरूप की व्याख्या कर सकते हैं और न सृष्टि के किसी कल्पित रचयिता या उसकी प्रतिनिधि सत्ता, राज्य, समाज, धर्म आदि की इच्छा अथवा आदेश मानव चेतना को शासित कर सकते हैं।

ऑर्टेगा वाई गैसेट के शब्दों में मानव की कोई प्रकृति नहीं होती, उसका केवल इतिहास होता है और केवल वस्तुओं की निश्चित प्रकृति होती है। व्यवस्थाओ से सबंधित आदर्शवादी दर्शन में विषयि-विषय, कर्त्ता-कृति, विचार-सत्ता (होने के अर्थ मे) की सम्पूर्ण एकता स्थापित की जाती है। अस्तित्ववाद इनका पृथक अस्तित्व मानता है। अस्तित्ववादियों का विचार है कि किसी सिद्धात के आधार पर मानव जीवन की व्याख्या करने की कोशिश करने से सिद्धांत या विचार से मेल न खाने वाली हर चीज अवास्तविक और बेतुकी हो जाती है। सम्भवतः इसीलिए आदर्शवादी व्यवस्थाए विरोधी विचार के प्रति असहिष्णु एवं क्रूर पाई जाती है। यदि निरपेक्ष को ही एकमात्र सत्य माना जाता हैं तो प्रत्यक्ष जीवन के अनुभव निरर्थक हो जाते हैं। अस्तित्ववादियों का कहना है सत्य के सिद्धातो को जानना जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य नही हो सकता किन्तु अपने अस्तित्व की अनुभूति जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य होता है। अस्तित्ववादियों का कहना है कि हम विश्व का ज्ञान विज्ञान के माध्यम से प्राप्त करते हैं किन्तु आत्मा या स्व का ज्ञान विज्ञान से नही मिल सकता। यह काम दर्शन का है। अस्तित्ववादी विश्व और समाज दोनो के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं किन्तु वे दोनो के बीच शाश्वत द्वंद्व मानते हैं।

सृष्टि की विभिन्न वस्तुएं मानव चेतना मे जिस प्रक्रिया से प्रकट होती हैं अर्थात् मनुष्य को सृष्टि का ज्ञान कैसे होता है इसे दृश्य घटना-शास्त्र, गोचर शास्त्र या फिनामिनोलाजी कहा जाता है। अस्तित्ववाद का इस प्रक्रिया से गहरा सबध है। इसलिए अस्तित्ववाद को समझने के लिए फिनामिनोलॉजी की जानकारी आवश्यक है। इस शास्त्र पर सम्यक् विचार करने वाले दार्शनिक थे एडमड हसरल।

एडमंड हुसरल

सन् 1859 मे चैकोस्लोवाकिया में जन्मे जर्मन दार्शनिक एडमंड हुसरल ने बर्लिन और विएना मे शिक्षा प्राप्त की। हुसरल की गणित, भौतिकी, नक्षत्र-विज्ञान और दर्शन मे समान रुचि थी। फ्राज ब्रेंटानो के भाषणों ने उन्हे दर्शन की तरफ मोड़ा। डेविड ह्यूम, काट और डेकार्त की परम्परा से बहुत कुछ ग्रहण करते हुए भी हुसरल ने अपना मार्ग अलग बनाया।

उनका दृश्यघटना शास्त्र प्रकृतिवाद और इतिहासवाद की प्रतिक्रिया के रूप मे विकसित हुआ। प्रकृतिवाद मानव चेतना पर भी जड़ प्रकृति के नियमों को लागू करता है और इतिहासवाद मानव-मन को इतिहास की निर्मिति मानता है।

कांट ने कहा था कि भीतरी अनुभव बाहरी अनुभव के माध्यम से ही संभव होता है। हुसरल ने इस विचार-बिन्दु को चेतना के अभिप्राय (इंटेंशनलिटी) का सिद्धात जिसके अनुसार मानव चेतना किसी वस्तु या विषय की चेतना ही हो

सकती है। हसरल की दृष्टि मे केन्द्रीय रहस्य मात्र सत्ता नहीं अपितु ऐसी सत्ता का होना है जो अपनी और दूसरों की सत्ता के बारे में सचेत होती है। उनका कहना था कि सत्य के नियम तथ्य के नियम नहीं हो सकते। इन दोनों के मूल भेद को न समझने से अनेक विसंगतियां पैदा होती हैं। सत्य के सापेक्षतावादी सिद्धांत मे कहा जाता है कि सत्य मानव-सापेक्ष है। कुछ लोग मानव को व्यक्ति के रूप में लेते हैं और सत्य को व्यक्ति-सापेक्ष मानते हैं तथा कुछ सामान्य मानव-सापेक्ष। हसरल दोनो को अस्वीकार करते हैं और कहते हैं कि सत्य स्वतः सत्य है, निरपेक्ष सत्य है। सत्य एक ही है चाहे उसका साक्षात्कार आदमी को हो या देवताओं को। उनका कहना है कि मनोविज्ञानवाद भी एक विशिष्ट सापेक्षता का रूप है क्योंकि यह सिद्ध करना चाहता है कि मानव-मन की रचना बदल जाने से तार्किक नियम तथा सत्य का अर्थ बदल सकता है।

सत्य को जानने का साधन प्रमाण है। हसरल का मानना है कि प्रमाण आकस्मिक संवेदन या किसी समय घटी घटना नहीं हो सकता। सत्य में हमेशा विचार की संभावना होती है। सत्य को सिद्धांत के रूप में प्रमाणित होना चाहिए चाहे वह हमे दिखाई न दे। उदाहरण के लिए खरबों की गिनती मानव-मस्तिष्क से सिद्ध नहीं होगी किन्तु तर्क से सिद्ध हो जाएगी। उनके अनुसार प्रमाण का सही सिद्धांत आदर्श सिद्धांत है जिसमें वास्तविक भावनाओं, मानसिक अथवा आत्मपरक स्थितियों का कोई संबंध न हो।

हसरल इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सत्य के ग्रहण की प्रक्रिया में अमूर्तिकरण की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है लेकिन यह मात्र अमूर्तिकरण नहीं है बल्कि यह मौलिक प्रकार का तत्काल अनुभव है।

हसरल का कहना है कि प्राकृतिक विज्ञानों की सफलता के बावजूद प्राकृतिक अथवा वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अन्त सन्देहवाद मे होता है। अतः ज्ञान के संबंध में एक विश्वसनीय उत्तर की खोज आवश्यक है। यह उत्तर निगमनात्मक ज्ञान-प्रक्रिया से प्राप्त किया जा सकता है। उन्होंने प्रकट होने की क्रिया और प्रकट वस्तु में भेद किया और पहले को आभास (Noesis) तथा दूसरे को आभासी (Noema) कहा।

उन्होने कहा कि शुद्ध तात्विक सत्य तथ्य के बारे में कुछ नहीं बताते। इसके परिणाम स्वरूप हम अक्सर तथ्यो की दुनिया के अत्यन्त मामूली सत्य को भी नहीं पकड़ पाते हैं।

सत्त्व (एसेंस) के संबंध मे हसरल का मानना है कि सत्त्व वह है जो व्यक्ति के अन्तर्मन को बताता है कि अमुक वस्तु क्या है। इस 'क्या' को विचार के रूप में अभिव्यक्त किया जा सकता है।

अमूर्तों या सामान्यों (Universals) के सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए हसरल

वस्तुओ या विषयो के सामान्य तथा विशेष भेद करते हैं। लॉक का कहना था कि सामान्य का वास्तव मे अस्तित्व ही नही है, केवल विशेष का ही अस्तित्व होता है और उन्हें ही गुणो की न्यूनाधिक समानता के अनुसार श्रेणियों अथवा प्रजातियो मे विभाजित किया जाता है। हसरल इससे सहमत नही थे। उनका कहना था कि हर त्रिकोण मे त्रिकोणात्मकता का गुण मौजूद होता है।

मानव चेतना के सम्बन्ध में हसरल की मान्यता है कि यह अभिप्राय-उन्मुख होती है। यह अर्थ की क्रिया और अर्थ-विषय, के बीच का संबध है। प्रस्तुत करने की क्रिया मे कुछ प्रस्तुत किया जाता है, निर्णय की क्रिया मे किसी तथ्य को स्वीकार-अस्वीकार किया जाता है, चाहने की क्रिया मे किसी चीज को चाहा जाता है। इस प्रकार मानव चेतना अभिप्राय-उन्मुख होने के कारण किसी विषय या वस्तु की चेतना ही हो सकती है।

हसरल का सबसे प्रसिद्ध सिद्धांत निगमन (Reduction) का है जिसके अनुसार सत्य के ग्रहण की प्रक्रिया मे तथ्यात्मक वास्तविकता कोई भूमिका अदा नही करती। देकार्त तथ्यात्मक सत्ता का ओझल होना मानते थे किन्तु हसरल इसे कोष्ठक मे बन्द होना मानते हैं।

किर्केगार्द

किर्केगार्द को अस्तित्ववाद का जन्मदाता कहा जाता है। उनका जन्म 5 मई, 1813 को डेन्मार्क मे हुआ और उन्होने अपनी आयु के 42 वर्ष कोपनहेगन मे ही बिताए। इस बीच वे चार बार बर्लिन भी गए। सन् 1855 मे उनकी मृत्यु हुई। वे अत्यन्त संवेदनशील थे। साधारण अनुभव भी उनके मन पर गहरा प्रभाव छोड़ते थे। उनके पिता धनी व्यापारी और धार्मिक आस्थाओं के व्यक्ति थे। किन्तु किर्केगार्द ने अधिकाश जीवन पिता तथा ईश्वर के खिलाफ विद्रोह में बिताया और केवल अन्तिम वर्षों में उन्होने दोनो के साथ समझौता किया। वे अविवाहित रहे और उन्होंने अपनी प्रेमिका को भी अकारण छोड़ दिया।

किर्केगार्द ने सबसे पहले आदमी के अकेलेपन को तीव्र रूप से अनुभव किया। उन्होने कहा कि सामूहिकता के आदर्श (राज्य, समाज आदि) की खातिर वर्तमान युग ने व्यक्ति का परित्याग कर दिया है। हीगेल के निरपेक्ष सत्य (राज्य) के वे कटु आलोचक थे। उन्होने कहा कि व्यक्ति-निरपेक्ष वस्तुनिष्ठ चिंतन, व्यक्ति को आकस्मिक दुर्घटना बना देता है और मानव-अस्तित्व को किसी उपेक्षित या लोपायमान घटना में बदल देता है। उनके अनुसार व्यक्ति की सकल्पना मे व्यक्ति की इच्छा, राग, चुनाव, आस्था और स्वतन्त्रता का अनिवार्य रूप से समावेश होता है। वे भावना-प्रधान जीवन को भी सर्वोच्चता देते थे। उन्होने कहा कि आदमी दो तरह का होता है—एक जो खुद कष्ट झलता है और दूसरा जो दूसरों के कष्ट

झेलने का व्याख्याता होता है। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है कि एक टांग पर खड़े होकर ईश्वर को सिद्ध करना और बात है तथा ईश्वर के आभार में घुटने टेकना और बात।

देकार्त और कांट दोनो के लिए व्यक्ति की पहचान उसका सोचना है किन्तु किर्कगार्द के व्यक्ति की मूल पहचान है नैतिक अस्तित्व। सोचने के लिए भी यह अस्तित्व जरूरी है। अस्तित्व के लिए उनकी मूल शर्त है स्वतन्त्रता। उनके अनुसार तर्क या बुद्धि के आदेशों को स्वीकार करने से भी आदमी तार्किक जीवन प्रणाली का दास हो जाता है। स्वतन्त्र मानव चेतना अथवा कर्तृत्व को तर्क से वश मे नहीं किया जा सकता क्योंकि इसे किसी संकल्पना में नहीं बांधा जा सकता। सही मायनों मे जीने के लिए (होने के लिए) उसका विचारवान होना जरूरी नहीं, नैतिक अभिकरण होना जरूरी है। जो सत्य मनुष्य को आध्यात्मिक बल प्रदान करता है वही मनुष्य का वास्तविक सत्य है।

हीगेल के अनुसार स्वतन्त्रता व्यक्ति की नहीं, विचार या स्पिरिट की होती है जिसका इतिहास के क्रम मे विकास होता है। उनके दर्शन के अनुसार स्वतन्त्रता अन्ततः व्यक्ति द्वारा युग के तार्किक आदर्शों के अनुरूप अपने को ढालने में है। हीगेल की स्वतन्त्रता ऐतिहासिक चेतना के अनुरूप बनने मे है न कि उससे अपने को अलग करने मे।

किर्कगार्द हीगेल की स्वतन्त्रता की इस कल्पना के प्रखर विरोधी थे। उनका कहना था कि अस्तित्व, जिसकी कि स्वतन्त्रता अनिवार्य शर्त है, व्यवस्था के अन्तर्गत संभव ही नहीं है। अतः मानव-स्वतन्त्रता और व्यवस्था में शाश्वत विरोध है। तार्किक चिंतक (जैसे हीगेल) को अपने अस्तित्व की समझ ही नहीं होती क्योंकि वह सिर्फ तर्क मे जीता है, उसके लिए नैतिकता कुछ नहीं होती; इसीलिए हीगेल के दर्शन को नैतिकता-शून्य कहा जाता है।

जीवन की तीन अवस्थाओं में—(1) भावनात्मक (सौन्दर्य बोधात्मक), (2) नैतिक, (3) धार्मिक या आध्यात्मिक—किर्कगार्द पहली अवस्था को मानव के अस्तित्व की अनुभूति के लिए महत्त्वपूर्ण मानते थे जिसमे आदमी आत्मचेतना युक्त होता है और अन्य लोगो से स्वतन्त्र होता है। दूसरी अवस्था नैतिक जीवन की और तीसरी धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन की है। हीगेल अन्तिम को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। किर्कगार्द भी तीसरी अवस्था को सर्वश्रेष्ठ मानते थे किन्तु उनके कारण अलग थे। वे इसे तर्क-सिद्ध न होने पर भी चुनते थे। हीगेल के अध्यात्मवाद में ईश्वर को मनुष्य और मनुष्य को ईश्वर तथा अन्तर्व्यापी माना गया। किर्कगार्द का कहना था ईश्वर अगम-अज्ञेय और अपरंपार है। अतः उसे तर्क या बुद्धि से नहीं अपितु राग (Passion) में ही पाया जा सकता है।

भावनात्मक या सौन्दर्य-बोधात्मक अवस्था के बारे में किर्कगार्द कहते हैं कि

यह कविता, सगीत, दर्शन आदि के सर्जनात्मक कार्यों के लिए सर्वश्रेष्ठ होती है। यह जीवन शुद्ध तात्कालिकता का होता है। इस तात्कालिकता मे सच और झूठ, सभव और असंभव का भेद नही होता। यह सनक का, तात्कालिक सन्तोष का जीवन होता है। इस अवस्था के आदमी के लिए कोई भी चीज अच्छी या बुरी नहीं होती।

नैतिक अवस्था समाज से इकसार व्यक्ति का जीवन होता है। इस अवस्था का व्यक्ति सामान्य (Universal) होता है। जन-सामान्य रुचियो और रुझानो के इस व्यक्ति मे भीड़ की मानसिकता और सामाजिक चिंता होती है।

पहली अवस्था का व्यक्ति प्यार को अधिमान देता है और दूसरी अवस्था का शादी को जो भविष्य की प्रतिबद्धता है तथा जिसका लक्ष्य निजी तुष्टि नही है।

किर्केगार्द दो प्रकार का अप्रामाणिक जीवन मानते हैं, एक भाग्यवाद का और दूसरा भोगवाद का। ये इसलिए अप्रामाणिक हैं क्योंकि ये आवश्यकता मे डूबे होते हैं और संभावना से कटे होते हैं। सभावना आवश्यकता की जकड से आत्मा को बचाती है। यदि सभावना न रहे तो व्यक्ति विवशताओं का अबूझ, अव्यक्त और अर्थहीन क्रम बन जाता है। यदि व्यक्ति सभावना को प्राप्त करने मे असफल होता है तो वह हताशा, विषाद और कष्ट का शिकार हो जाता है।

आवश्यकता और संभावना ससीम और असीम जीवन की अभिव्यक्ति हैं। स्वतन्त्रता का विचार स्वतन्त्रता को आमन्त्रित करता है तथा आवश्यकता परतन्त्रता को आमन्त्रित करती है। आवश्यकता के वशीभूत आदमी स्वतन्त्र नही हो सकता।

आदमी क्या है और क्या हो सकता है, इस शाश्वत तनाव मे जीने के लिए वह बाध्य है। किर्केगार्द अन्त में प्रश्न करते हैं कि क्या ऐसी स्थिति मे कोई स्वतन्त्र हो सकता है? संभवत: इसी प्रश्न से विवश होकर किर्केगार्द अन्त में ईश्वर की ओर हताश छलांग की बात करते हैं।

नीत्शे

नीत्शे और किर्केगार्द को ध्रुवों की तरह अलग और जुड़वां बच्चों की तरह निकट कहा जाता है। हीगेल; कांट आदि आदर्शवादियों के व्यवस्था-पोषक मूल्यो का दोनों ने तीव्र विरोध किया किन्तु नीत्शे ने जहां ससीम विश्व को स्वीकार किया, किर्केगार्द ने उसे अस्वीकार किया।

नीत्शे 24 वर्ष की अवस्था में भाषा-विज्ञान के प्रोफेसर हुए। जर्मनी के विद्वत् जगत में प्राचीन भाषा के विद्वान तथा लेखक के रूप मे उन्हें अच्छी ख्याति प्राप्त हुई! बचपन से ही अनेक शारीरिक व्याधियो से पीड़ित होने के कारण उन्हें कष्ट झेलने पड़े। खराब स्वास्थ्य के कारण अध्यापन-कार्य छोड़ कर उन्हें दक्षिणी यूरोप

के अनेक स्थानों मे स्वास्थ्य की खोज में भटकना पड़ा किन्तु उन्हें वह प्राप्त नहीं हुआ। संभवतः इसीलिए उनका चिंतन और लेखन उन्हें शक्ति के सिद्धान्त विल टु पॉवर (अधिकार की इच्छा) और अतिमानव की कल्पना की ओर ले गया।

ग्रीक भाषा के अध्ययन के दौरान उनका दो ग्रीक देवताओं के प्रति आकर्षण हुआ। एक था डाइनोसस जो नशे और उन्माद का देवता था और दूसरा अपोलो जो शक्ति और संयम का प्रतीक था। नीत्शे ने इन दोनों का समन्वय करने का प्रयास किया।

नीत्शे ने अधिकार की इच्छा को सब मूल्यों का आधार बताया और इसीलिए उन्होंने दो प्रकार के मूल्यों की कल्पना की : स्वामी के मूल्य और दास के मूल्य। स्वामी के मूल्यों को निर्धारित करने वाली इच्छा अधिकार की इच्छा होती है। दास उन मूल्यों को अवगुण या बुराई के रूप में लेते हैं और उन मूल्यों में परहेज को महिमा-मंडित कर उनमें सन्तोष प्राप्त करते हैं। इन दास मूल्यों को महिमा-मंडित करने में वे ईसाइयत की विशेष भूमिका मानते हैं जिसने दुखों और कष्टों को चुपचाप सहने का उपदेश दिया और कहा कमजोर ही दुनिया की विरासत के हकदार बनेंगे। दास हमेशा निर्बलता में जीता है अतः उसने बल को बुराई के रूप में लिया तथा नम्रता, धैर्य, विनयशीलता और विपदों में निरासक्ति को महान गुण बनाया। नीत्शे के अनुसार प्रारंभिक काल के ईसाइयों ने दास-मूल्यों को आगे बढ़ाया।

सत्य के सम्बन्ध में नीत्शे ने कहा कि सत्य की कोई सामान्य कसौटी नहीं हो सकती। जो मौत से लड़ने और जीवित रहने में मदद करे वह सत्य की व्यावहारिक कसौटी हो सकती है लेकिन व्यावहारिकता से भिन्न भी सत्य होता है। उनका विचार था कि तर्क और बुद्धि हमें विश्व की एक छद्म कल्पना देती है। वे यथार्थ और आभास में भेद नहीं करते थे और उन्होंने कहा कि यथार्थ दुनिया का अस्तित्व ही नहीं है, उसकी केवल व्याख्याएं हैं जिन्हें सत्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

कांट और हीगेल दोनों ने कहा कि वैयक्तिक नैतिकता, नैतिकता ही नहीं है। उन्होंने नैतिकता को हमेशा सामाजिक मानदण्ड माना। इसके विपरीत नीत्शे का मत था नैतिकता व्यक्ति के मनोविज्ञान पर निर्भर है। तर्क और मनोवेग दोनों को अधिकार की इच्छा के मनोवैज्ञानिक सिद्धांत से जोड़ा जा सकता है।

स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में नीत्शे का कहना है कि आदमी स्वतन्त्रता का प्रयास अधिकार अथवा शक्ति प्राप्त करने के लिए करता है न कि अधिकार या शक्ति का प्रयास स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए। सुख भी अधिकार के साथ निकट रूप से जुड़ा है। इस तर्क को आगे बढ़ाते हुए वे कहते हैं कि शहीद होने वाले अपने प्राणों की बलि किसी सुख के लिए नहीं देते हैं अपितु वे अपनी महत्-शक्ति, अपने आत्म-

विश्वास तथा गुलामी अथवा मृत्यु मे भी महत्वपूर्ण बने रहने की अपनी क्षमता को सिद्ध करते हैं।

नीत्शे और किर्कगार्द दोनो ही सुकरात को आदर्श मानते थे। किर्कगार्द की दृष्टि मे सुकरात व्यक्ति के प्रति चिंतित थे किन्तु ग्रीक दर्शन प्रणाली व्यक्ति की उपेक्षा करती है। नीत्शे प्रणाली को इकतरफा, अधूरा मानते थे। उनका कहना था कि प्रणाली सत्य को तोड-मरोड कर प्रस्तुत करती है जबकि किर्कगार्द मानते थे कि प्रणाली वस्तुनिष्ठ तर्काश्रित सत्य देती है, व्यक्तिनिष्ठ सत्य नहीं।

नीत्शे का प्रसिद्ध कथन कि ईश्वर की मृत्यु हो गई है, नास्तिकता की अभिव्यक्ति नही है बल्कि नैतिक मूल्यो के सर्वथा अभाव की चिन्ता की अभिव्यक्ति है। जैसाकि उन्होंने कहा कि ईश्वर की मृत्यु के साथ बर्बरता का युग शुरू हो गया है और हजार साल का पागलपन हम मे आ गया है। किर्कगार्द के लिए ईश्वर की मृत्यु को स्वीकार करने से भयानक सकट उपस्थित होता है और उस सकट से बचने के लिए ईश्वर की ओर छलाग आवश्यक है। नीत्शे ईश्वर की मृत्यु से मानवता के नये युग के आगमन की कल्पना करते हैं और पुराने मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यो की स्थापना की आवश्यकता को रेखांकित करते हैं। वे कहते हैकि यदि ईश्वर नही रहा है तो पाप का महत्त्व भी खत्म हो गया है अतः इस दुनिया से पाप की कल्पना को हटा दिया जाना चाहिए।

नीत्शे का कहना था कि दास नैतिकता को मान्यता प्रदान करने मे धार्मिक सत्ता का विशेष हाथ रहा है और चूकि ईश्वर की मृत्यु के बाद धार्मिक सत्ता कमजोर होगी, दास नैतिकता वाले लोग राज्य की ओर उन्मुख होगे। इस स्थिति में शक्तिशाली, ईसाइयत के बन्धनों से अपने को मुक्त कर लेंगे। उन्हें नये स्वामी की आवश्यकता होगी जो उन्हें सुपरमैन (अतिमानव) के रूप मे मिलेगा।

नीत्शे-दास्तो-ए-व्स्की की शैतान की कल्पना से ('ब्रदर्स करमाजोव' मे) गहरे रूप से प्रभावित थे और उनकी कृति 'जरथुश्र' मे शैतान की कल्पना बौने के रूप में की गई जिसे जरथुश्र चुनौती देते हैं।

नीत्शे का अतिमानव ऐसा व्यक्ति है जो पाशविक और आत्मघाती प्रवृत्तियो पर नियन्त्रण प्राप्त करके उन्हें उदात्त बनाता है। वह इन्द्रजित होता है। उसके उदाहरण सुकरात और क्राइस्ट हो सकते है। वैसे नीत्शे मानते थे कि निर्बल लोगो द्वारा स्वामी नैतिकता का लगभग अन्त कर दिया गया है और शक्तिशाली की उत्तरजीविता की सभावना कमजोर की उत्तरजीविता की सभावना से कम रह गई है। सुपरमैन नीत्शे का भावी सपना था और वे कहते थे कि अधिक सुनिश्चित भविष्य के लिए ऐसी नस्ल को तैयार करना होगा जो बेहतर जीवन-मूल्यो को अपनाएं। दुर्भाग्य से नाजियो ने उनके इस कथन का मनमानता अर्थ लगाया और नाजीवाद के रूप में एक बर्बर को जन्म दिया नीत्शे के दर्शन की यह

भयानकतम शोकांतिका है।

हाइडेगर

हाइडेगर अपने को अस्तित्ववादी नहीं मानते थे किन्तु मानव-जीवन का उन्होंने जो विश्लेषण किया उसने बीसवी सदी में अस्तित्ववाद के आंदोलन को शुरू किया। उन्होने अस्तित्ववाद को अनेक संकल्पनाएं दीं जो बाद के अस्तित्ववादी लेखकों और दार्शनिकों के विचार-विवेचन का विषय बनी।

हाइडेगर के अनुसार दर्शन का भाषा और संकल्पनाओं से गहरा सम्बन्ध है। इस दृष्टि से उसका कविता के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनका कहना है कि भाषा आदमी की बहुत खतरनाक सम्पत्ति है। वह भाषा के माध्यम से ही अपने होने की घोषणा करता है। मनुष्य का अस्तित्व कवित्वपूर्ण है। कविता वस्तुओं को देखने की आदिम, मौलिक और निश्छल विधि है। कवि वस्तुओं को बिना पूर्वाग्रह के देखता है, वस्तुएं जैसी हैं वैसे ही रूप में। साधारण भाषा और साधारण विचार-प्रक्रिया (तर्क एवं बुद्धि-आश्रित) दार्शनिक पूर्वाग्रहों से भरी होती है। इनमे दार्शनिक सत्य को पकड़ने की क्षमता नहीं होती। उनके मतानुसार दर्शन को भाषा का आविष्कार करना चाहिए।

किसी चीज के अर्थ का मतलब है उसका अनावरण होना। सत्य का अर्थ अनावरण ही है अतः तत्व मीमांसा का मुख्य प्रश्न किसी वस्तु या सत्ता को अनावृत करना हो जाता है।

हाइडेगर अहं या 'ईगो' की सत्ता को नहीं मानते। उनके अनुसार सब सत्ताए, सब वस्तुएं, जगत में स्थित है। मनुष्य भी इनमें एक है। वह देसिन (Desein) है, वहां, विश्व में। यह सत्ता (देसिन अथवा मनुष्य) ऐसी सत्ता है जो खुद अपने को भी प्रश्न का विषय बनाती है। अन्य सारी सत्ताए (वस्तुएं) उसके समक्ष प्रकट होती हैं।

हसरल के आभास सिद्धात से हाइडेगर सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि किसी वस्तु का प्रकट होना वास्तव मे उसका प्रकट होना नहीं है बल्कि जो प्रकट होता है वह किसी अप्रकट की घोषणा मात्र करता है। इसे स्पष्ट करने के लिए वे रोग का उदाहरण देते है कि रोग के प्रकट लक्षण रोग नहीं होते, वे रोग की घोषणा करते हैं और रोग अप्रकट रहता है जिसकी जानकारी लक्षणों पर विचार करने से प्राप्त होती है। उनका कहना है कि कोई भी वस्तु अपने को समग्र रूप में प्रकट नहीं करती, उसका एक पक्ष या कुछ पक्ष ही उद्‌घाटित होते हैं। जो प्रकट नहीं होता वह सत्ता का ऋणात्मक गुण हैं और जो प्रकट होता है वह धनात्मक गुण। मनुष्य या देसिन को ही सत्ताएं प्रकट होती हैं क्योंकि वह द्रष्टा है।

देसिन की कल्पना हाइडेगर की अत्यंत मौलिक और जटिल कल्पना है। वह

साख्य के पुरुष की तरह है जो विश्व की घटनाओं का साक्षी भी है और प्रेरक भी अथवा यह उपनिषदो के उस आतमन् की तरह है जिसका एक रूप (पक्षी के रूप मे) वृक्ष के फल खाता है और दूसरा सिर्फ देखता है।

ससार की अनत सत्ताओ के बीच देसिन की सत्ता अभेद की स्थिति मे होती है। देसिन के पास निषेध और स्वीकार की शक्तिया है। इन शक्तियों से वह अपने लिए चुनाव कर सकता है। ये शक्तिया उसकी स्वतंत्रता की शक्तियां है। वह निषेध के माध्यम से अन्य सत्ताओ से अपने को पृथक करता है और साथ ही अनत सत्ताओं से किसी एक सत्ता को भी पृथक करता है। उस सत्ता या वस्तु को अपने लक्ष्य के औजार के रूप मे चुनता है। जब तक कोई वस्तु उसके लक्ष्य का औजार नहीं बनती तब तक वह अन्य वस्तुओं के साथ अभेद की स्थिति मे रहती है, एक प्रकार से ओझल सी।

हाइडेगर विश्व की समस्त सत्ताओं को देसिन के आस-पास बिखरे औजारो के रूप मे देखते हैं। देसिन इन औजारों का उपयोग करता है किंतु वह खुद औजार नही है। अगर वह स्वतत्रता का प्रयोग नही करता और खुद औजार बनता है तो उसका अस्तित्व अप्रामाणिक है। वह औजार न बने इसके लिए उसे अपनी स्वतत्रता का उपयोग करना होता है। देसिन जब रोजमर्रा के औसत रूटीन मे बधा रहता है तब उसका अस्तित्व अप्रामाणिक होता है क्योंकि वह अन्य सत्ताओ के साथ अभेद की स्थिति मे होता है। अन्य सत्ताओ या वस्तुओ के साथ उसका सबध ज्ञान का नही, व्यवहार और उपयोग का संबध होता है।

हमारा प्रतिदिन का अनुभव बताता है कि हम आस-पास पड़े औजारों को नही देखते हैं। कलम जो हमेशा मेरे इस्तेमाल के लिए मेज़ पर पड़ी रहती है, मुझे तब दिखाई देती है जब मुझे कुछ लिखना होता है और वह मेज़ से गायब होती है या उसकी निब टूट जाती है। हाइडेगर इस उदाहरण से वस्तुओ और देसिन के सबध को स्पष्ट करते हैं।

विश्व की सब वस्तुएं मनुष्य के आस-पास उपकरणों के रूप मे होती हैं। सामान्य व्यवहार में हम इन वस्तुओं की तरफ ध्यान नहीं देते। किंतु जब कही कुछ अड़चन पैदा होती है तो हमे वे वस्तुओं के रूप में दिखाई देती हैं।

हाइडेगर ने तीन प्रकार की बाधाएँ बताई हैं; (1) प्रत्यक्ष बाधा जैसे औजार का बेकार हो जाना; (2) औजार का वहां न मिलना जहा उसकी उम्मीद थी; और (3) औजार का किसी दूसरी वस्तु की आड़ में छिप जाना। साख्य दर्शन मे अति-दूरी, अति-समीपता, इंद्रिय-दोष, मन की घबराहट, पदार्थ की सूक्ष्मता, आडे आ जाना या पदार्थों का गड्डमड्ड हो जाना आदि अनेक बाधाएँ गिनाई गई हैं।

हाइडेगर अभेद की स्थिति मे 'एंटिटी' शब्द का प्रयोग करते हैं और भेद या

पहचान की स्थिति में थिंग या वस्तु शब्द का ।

हाइडेगर का कहना है कि विश्व के साथ हमारा आदिम परिचय ज्ञानात्मक नही होता। हम उसे वस्तुओ के रूप मे नही देखते । हम विश्व को उपकरणो के समुच्चय के रूप मे देखते है । आम आदमी (Des Mann) की स्थिति मे मनुष्य केवल व्यावहारिक होता है, केवल काम चलाऊ को प्रमुख मानता । इस स्थिति मे वह अपनी सफलता के मानदंड स्वय निश्चित करने के उत्तरदायित्व से मुक्त होता है। इस आदमी का जीवन सरल होता है। उसे अपने निर्णय, अपने चुनाव स्वय नही करने पड़ते।

किंतु मनुष्य केवल व्यावहारिक नही होता। उसकी अन्तिम चिंता होती है अपने को जानना। अपने स्व की खोज ही उसकी असली चिंता होती है। मैं कौन हूँ, इस प्रश्न का उत्तर देने के प्रयत्न मे मनुष्य अपने को अस्तित्व के तीन रूपों मे देखता है: अस्तित्व (Exitenz), तथ्यात्मकता (Facticity) और पतन (Falleness)।

अस्तित्व का मतलब है संभावना। विचार द्वारा संभावना को अपने रूप मे चुनना। तथ्यात्मकता का अर्थ है अपने को विश्व की अन्य सत्ताओ मे एक सत्ता के रूप में पहचानना और यह मानना कि उसकी नियति विश्व की अन्य सत्ताओं की नियति मे जुडी हुई है। तथ्यात्मकता हमे यह अहसास कराती है कि हम दिक्काल-युक्त विश्व मे 'फेंके हुए' की स्थिति में हैं। पतन का अर्थ है अन्य सत्ताओ और विशेष रूप से अपनी सत्ता के सबध में प्रश्न न करना। यह अपनी प्रकृति को विस्मृत करना है। यह स्थिति अप्रामाणिक अस्तित्व में होती है। हमें हमेशा पतन का खतरा बना रहता है और हममें से अधिकांश इस खतरे में अपने को खुद डाल देते हैं। रोजमर्रा का रूटीन पतन की ही स्थिति है।

हाइडेगर का कहना है कि चुनाव की स्वतंत्रता और इस स्वतंत्रता की पहचान अस्तित्व का सार या सत्त्व है। अस्तित्व, तथ्यात्मकता और पतन का अहसास मनुष्य का भविष्य, भूत और वर्तमान है और इन तीनो की एकता मनुष्य का सरोकार (Care) है। यदि मनुष्य वर्तमान के रूटीन मे ही फँसा रहता है तो यह अप्रामाणिक जीवन है। प्रामाणिक जीवन भविष्य, भूत और वर्तमान की एकीकृत दृष्टि है। अप्रामाणिक जीवन की ओर आदमी आमतौर पर इसलिए झुकता है क्योकि यह आसान होता है। इसके अतिरिक्त संत्रास प्रामाणिक जीवन से विमुख करता है।

हाइडेगर कहते हैं कि जैसे फल पककर गिरते है वैसे आदमी पकने की स्थिति मे कभी नही आता। ऐसा बहुत ही कम होता है कि मृत्यु के समय आदमी पूरी तरह पक जाए। अक्सर वह 'अभी नहीं' की स्थिति में अपने को पाता है।

अधिकांश मनुष्य अपनी मृत्यु को भूले रहते है। इसका मतलब है कि मनुष्य

अधिकाश जीवन मृत्यु की ओर बढ़ रहे अपने आपको छिपाए रखता है। किंतु तथ्य रूप मे यह सच है कि मनुष्य जब तक जीता है वह मृत्यु की ओर बढता रहता है किंतु वह 'पतन' (अपने को विस्मृत करने) की प्रवृत्ति के कारण इसे भूल जाता है।

मृत्यु आदमी को 'नथिंगनेस' का अहसास कराती है। नथिंगनेस या शून्यता की भीति दूसरो की मृत्यु के समाचार से पैदा नही हो सकती। इस मृत्यु को हम एक दुर्घटना की तरह लेते है जो आए दिन आस-पास होती है। मृत्यु को आमतौर पर आदमी एक अनिश्चित घटना की तरह लेता है जो कभी आ सकती है किंतु जो अभी समक्ष उपस्थित नही है। यह भी आदमी के पतन के कारण होता है। किंतु जब आदमी मृत्यु के आमने-सामने होता है तो उसे प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि सामने 'कुछ भी नही' (नथिंगनेस) है, उसका शरीर, उसका संसार, उसकी वस्तुए, उसके रिश्ते-नाते उसका मन, उसकी आत्मा और, ईश्वर, कुछ भी नही। सम्पूर्ण शून्यता की भीति ही मृत्यु का संत्रास (ड्रेड) है। यह मरने वाले की आखो मे प्रकट होता है।

हाइडेगर का कहना है कि यदि मनुष्य प्रामाणिक जीवन जीता है, यदि वह अपनी प्रकृति, अपने स्वभाव को (अपनी स्थितियो पर विचार करने की प्रवृत्ति को) निरतर काम मे लाता है तो वह मृत्यु को एक अनिवार्य संभावना मानकर चलेगा। वह मृत्यु के सम्मुख जाने के लिए मानसिक रूप से तैयार होगा। इस प्रकार आदमी अपनी मृत्यु का भी स्वतंत्र मन से वरण कर सकता है।

गैब्रियल मार्सल

गैब्रियल मार्सल को निराशा के बीच आशा का दार्शनिक कहा जा सकता है। उनका कहना है कि आधुनिक विज्ञान से मिला भौतिकवाद, तकनीकी ज्ञान की हमारी अतिशयता, सत्ता (बीइंग) के सरल बोध मे बाधक है। हम अपने को विचार में और दृश्य संसार को सामान्यो की समूह में बदलकर वस्तुओं के स्वरूप को नही जान सकते।

जैसे-जैसे तकनीकी ज्ञान के दावो और मानव की अनिश्चित स्थिति का प्रतिकूल अनुपात बढ रहा है वैसे-वैसे निराशा का खतरा बढ रहा है। अतः तक-नीकी प्रगति और निराशा के दर्शन के बीच सीधा सहसबंध है।

निराशा उस दुनिया की संरचना की उपज है जिसमे हम रहते हैं। वास्तविक जीवन मे कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे श्रेय कहा जा सकता है। इसमे कोई सुरक्षा नहीं, कोई गारटी नही।

निराशा की इस प्रवृत्ति के विपरीत आशा मे यह विश्वास निहित होता है कि तमाम सूचियों और आकलनों के परे एक सिद्धात ऐसा भी है जिसका मेरे साथ

तारतम्य बैठता है।

आशा के स्वरूप की झलक हमें महान संतों के जीवन में मिल सकती है जो आशा को चरम बिंदु तक ले जाते हैं। मार्सल के अनुसार सृजन आशा का सबसे बड़ा स्रोत है। जहां सृजन है वहां अवमूल्यन और ह्रास के लिए गुंजाइश नहीं। अवमूल्यन तब होता है जब सृजन अनुकरण या आत्म-मोह बन जाता है।

सृजन की ईमानदारी मार्सल के अनुसार निरे अनुकरण या किसी का अनुगामी बनने के ठीक विपरीत है। ईमानदारी उपस्थिति का साक्ष्य मात्र है। किसी व्यक्ति के प्रति उपस्थिति का मतलब है उसके लिए प्रयोज्य (disposable) बनना। यदि कोई वस्तु मेरे डिस्पोजल में है तो मैं जब चाहूं उसका उपयोग कर सकता हूं। व्यक्ति जब एक-दूसरे के डिस्पोजल के लिए होते हैं तो उनके बीच आत्मीय संबंध बनता है। साधारण संबंधों से यह एक-दूसरे के लिए उपस्थित होने का संबंध बहुत गहरा तथा स्थायी होता है। उपस्थिति में उपस्थित वस्तु या व्यक्ति हमारा विषय (आब्जेक्ट) नहीं होता बल्कि उससे कहीं अधिक होता है।

निराशा तब पैदा होती है जब हम अपने को किसी अन्य के लिए उपस्थित नहीं कर पाते। जो आत्मा किसी के लिए उपस्थित है वह पवित्र और समर्पित हो जाती है। वह निराशा और आत्महत्या से सुरक्षित हो जाती है।

वह आदमी यह महसूस करता है कि मेरा जीवन मेरा नहीं है, किसी और का है और वह अपनी स्वतंत्रता का भी इस तरह उपयोग कर सकता है कि यह मात्र उसकी अपनी स्वतंत्रता नहीं है। यह बोध ही सृजनात्मकता का आरंभ बिंदु है।

स्वतंत्रता विषयि और विषय का प्राथमिक संबंध है और ईमानदारी या निष्ठा विषयि-विषय का अंतिम संबंध।

उपस्थिति और निष्ठा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए मार्सल शवयात्रा के दृश्य का उदाहरण देते हैं। कुछ लोग इसमें ऐसे होते हैं जो केवल औपचारिकता निभाते हैं और जिनका व्यवहार स्वचालित मशीन की क्रिया लगता है। इसके विपरीत कुछ ऐसे होते हैं जो अपने मौन से या अपनी निगाहों से जता देते हैं कि वे शोक में डूबे हैं। पहली श्रेणी के व्यक्ति उपस्थित नहीं हैं जबकि दूसरी श्रेणी के व्यक्तियों की उपस्थिति असंदिग्ध है।

दो व्यक्तियों के बीच सच्चे प्यार और मित्रता का संबंध अन्यपुरुष की कल्पना को मिटा देता है। प्रत्येक दूसरे के लिए 'अन्य' हो जाता है। दोनों मिलकर उत्तम पुरुष (हम) हो जाते हैं। निष्ठा निरंतर उपस्थिति का सुख देती है। यदि एक व्यक्ति कहीं दूर चला जाए या उसकी मृत्यु हो जाए, तब भी उसकी उपस्थिति दूसरे के लिए बनी रहती है।

मार्सल कहते हैं कि ईश्वर के साथ मेरा संबंध, मित्र के साथ संबंध की तरह ही अन्य पुरुष का संबंध नहीं रहता। वह मेरा-तुम्हारा या हमारा संबंध बन

जाता है।

मार्सल कहते है कि हम दूसरो के लिए ही उपस्थित नही होते, अपने काम के लिए भी उपस्थित होते हैं जब वह काम वास्तव मे मेरा काम होता है। मौलिक सृजन में व्यक्ति की उपस्थिति निहित है। चुनौती का सामना करना, उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लेना, निर्णय करना, मूल्यांकन करना ये सब व्यक्ति के अस्तित्व की विशेषताए है।

आदमी अपने को दूसरो के लिए अप्रयोज्य बनाता है, यही उसकी निराशा का मूल कारण है।

आशा का मतलब भय का नकार मात्र नही है बल्कि यह निराशा का नकार है। यह व्यवस्था मे, मूल्यों की सुरक्षा मे विश्वास है। आशा ऐसी दुनिया मे ही सभव है जिसमे चमत्कारो के लिए जगह हो। मार्सल का विश्वास है कि सच्चे प्यार से 'नथिंगनेस' के अगाध गर्त्त को पार किया जा सकता है।

अपने ज्ञान और अपने विचारो के प्रति भी व्यक्ति की उपस्थिति वाछनीय है। इसका मतलब है अपने विचारों को निरतर प्रश्न और परीक्षण का विषय बनाकर सृजनशीलता बनाए रखना। जब कोई विचार निष्क्रिय सम्पत्ति बनकर मस्तिष्क मे बैठ जाते हैं तो मैं उन विचारो का इस्तेमाल करने के बजाय उनसे इस्तेमाल किया जाने लगता हूँ, जैसे आदमी अपने औजारो के वशीभूत हो जाता है। यह मताधता और असहिष्णुता का रास्ता है। सच्चा विचारक इस खतरे से अपने को बचाए रखता है।

मार्सल किर्कगार्द की तरह ही आस्तिक अस्तित्ववादी थे।

कार्ल जैस्पर्स

कार्ल जैस्पर्स किर्कगार्द और नीत्शे से प्रभावित थे, हालांकि उनके अनुयायी नहीं थे। वे कहते हैं कि यह स्थिति जिसे मैं पूरी तरह नही पकड़ सकता हूँ और नही समझ सकता हूँ मुझमे भय पैदा करती है। स्थिति एक गति है जो अपने को और मुझे बदल रही है और मुझे उस अंधकार से, जब मेरा अस्तित्व नही था, उस अधकार की ओर ले जा रही है जब मेरा अस्तित्व नही होगा।

जैस्पर्स अस्तित्व को चेतना के रूप में लेते है और वस्तुए उस चेतना का विषय है। दुनिया में, मेरी चेतना में प्रवेश किए बिना कुछ भी नही घट सकता है।

चेतना-युक्त होने का मतलब है किसी वस्तु या विषय की तरफ मुखातिब होना। जैस्पर्स इसे 'इंटेंशनलिटी' कहते है। चेतना वस्तुओं को ही लक्ष्य नही बनाती, अपने को भी लक्ष्य बनाती है। इस प्रकार मैं एक साथ दो चीजो के प्रति सचेत होता हूँ—एक वह जिसे मैं जानता हूँ और दूसरा यह कि मैं जानता हूँ।

ज्ञान और ज्ञान के ज्ञान का युगपत चेतना में होता है।

जैस्पर्स स्वतंत्र इच्छा और संकल्प को अलग-अलग क्रियाएँ मानते हैं। वे कहते हैं: "संकल्प में मैं स्वतंत्रता में छलांग लगाता हूँ इस उम्मीद के साथ कि नीचे तल में मैं अपने को पा लूँगा। यह इसलिए कि मैं इच्छा कर सकता हूँ किंतु मेरा संकल्प मेरे मूर्त चुनाव में अभिव्यक्त होता है। यह चुनाव पूर्णतया आवश्यक होता है क्योंकि यह संभावना के क्षेत्र की वास्तविक स्थितियों पर विचार करने के बाद किया जाता है और चिंतन-अनुचिंतन में गुजरता है, तब कहीं यह संकल्प निर्णय बनता है। यह इस सोच-विचार का परिणाम नहीं होता क्योंकि यह इस सोच-विचार की प्रक्रिया से गुजरता है अतः निर्णय सोच-विचार के बिना नहीं होता किंतु संकल्प पर छलांग से ही पहुँचा जा सकता है।"

मार्सल के अनुसार संकल्प में सत्य की अंतिम कसौटी सफलता नहीं, असफलता में भी संकल्प का सच्चा बने रहना है।

संकल्प अंतर्दृष्टि के विपरीत तत्काल इकतरफा क्रिया है। यह अपनी इच्छा को अपने अस्तित्व के ठोसपन में जानना है। यदि संकल्प में पहले कोई विचार नहीं किया है, सारी संभावनाओं को नहीं तोला गया है और सबसे चिंतन से वह नहीं गुजरा है तो इसे अंधे अंतर्बोध से प्रेरित कहा जाएगा, न कि इसे संकल्प कहा जाएगा।

अस्तित्व का सार है निर्णय। या तो मैं खुद निर्णय करूं या कोई दूसरा मेरे बारे में निर्णय करेगा जिससे मैं किसी अन्य की वस्तु या औजार बन जाऊंगा और अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व से हाथ धो बैठूंगा। बिना निर्णय के तो कुछ रह नहीं सकता। समय की एक सीमा होती है जिसके परे मैं निर्णय को स्थगित नहीं कर सकता।

मार्सल का कहना है कि बिना निर्णय के चुनाव नहीं होता, बिना इच्छा के निर्णय नहीं होता, बिना आवश्यकता के इच्छा नहीं होती, और बिना सत्ता (बीइंग) के आवश्यकता नहीं होती। इनमें से प्रत्येक सूत्र अलग-अलग मात्र होने का बोध कराता है किन्तु चारों मिलकर अस्तित्व का अहसास देते हैं।

जैस्पर्स का एक सिद्धांत है कि अस्तित्व ठोस वास्तविकता से जुड़ा होता है। सारी मानव जाति को प्यार करने वाला प्यार नहीं करता किंतु एक विशेष आदमी से प्यार करने वाला प्यार करता है। सारी दुनिया को स्थायी रूप से बदलने की इच्छा कोई इच्छा नहीं है। सही इच्छा वह है जो वास्तविक जीवन की किसी संभावना को अपना लक्ष्य बनाती है। भविष्य के रूप में काल संभावना है, भूत के रूप में निष्ठा का बंधन और वर्तमान के रूप में निर्णय। अस्तित्व की अनुभूति किसी समय में किए गए हमारे निर्णयों से ही होती है। यदि मैं किसी समय में समय से ऊपर खड़ा हो सकूं तो मैं काल की अस्थिरता पर विजय प्राप्त कर सकता हूं।

यदि मैं किसी समय मे सम्पूर्ण भाव से प्यार कर सकता हूं या अन्य कर्म कर सकता हू तो समय शाश्वत बन जाता है।

शाश्वतता न तो कालातीत होना है और न सर्वदा सातत्य, यह मानव के अस्तित्व की कालगत अभिव्यक्ति के रूप मे समय की गहराई है।

जैस्पर्स स्पिरिट, रीज़न और एक्जिस्टेंज (Spirit, Reason and Existenz) की अलग-अलग सत्ता को स्वीकार करते है। इन्हें आत्मा, बुद्धि और अहकार कहा जा सकता है। उनका कहना है कि आत्मा समग्र या सम्पूर्ण बनने की इच्छा है। अहकार प्रामाणिक बनने की इच्छा। आत्मा समग्र मे प्रकट होकर सतत बोधगम्य होती है। आत्मा के रूप मे मनुष्य अन्य सब मनुष्यों के साथ ऐक्यभाव मे होता है किन्तु अहंकार के रूप मे वह अन्य मनुष्यों के साथ या विरोध मे खडा होता है और वह दुर्बोध होता है। बुद्धि और अहकार के सबंध मे जैस्पर्स का कहना है कि ये एक-दूसरे की विरोधी शक्तिया नही है, पूरक शक्तिया हैं। दोनो साथ-साथ रहती हैं। एक के लोप हो जाने से दूसरी का भी लोप हो जाता है। बुद्धि अहकार का परिष्कार करती है और अहकार बुद्धि को सार्थकता देता है। तर्कहीन काम मनुष्य को मनोवेगो, भावावेशो या सनक का सहारा लेने को बाध्य करते है जो अन्तत उसके विनाश का कारण बनते हैं।

अल्बेर कामू

कामू विसगति या बेतुकेपन (Absurdity) के दार्शनिक के रूप में प्रसिद्ध हैं। वे जीवन मे बेतुकापन पाते हैं और इससे लडने के लिए आत्महत्या, भोलापन या विद्रोह के तीन मार्ग सुझाते हैं।

सरलता या भोलेपन का अर्थ है किसी चीज को स्वीकार न करना। यह एक निषेधात्मक मूल्य है। विद्रोह मे आस्था की ओर छलाग तथा अन्य सात्वनाकारी सिद्धातो का स्पष्ट नकार है। कामू का कहना है कि विसगति को जीने के लिए साहस और बुद्धि अनिवार्य संबल हैं।

विसंगति की नैतिकता यह दिखाती है कि सभी कार्य नैतिक दृष्टि से समान होते हैं इस अर्थ मे कि उन पर सही या गलत के कोई भी निरपेक्ष मानदंड लागू नही होते।

कामू विद्रोह के जीवन के चार आदर्श प्रस्तुत करते हैं। पहला है डॉन जुआन का आदर्श जो भविष्य के जीवन की आशा को निस्सार मानता है और वर्तमान क्षण को भोगने में यकीन करता है। दूसरा है अभिनेता जो निराशा को नही बेतुकेपन को ही जीता है। तीसरा आदर्श विजेता का है जो शाश्वतता के बजाय इतिहास को चुनता है क्योंकि इतिहास उसके अनुभव की सीमा मे आता है जबकि शाश्वतता उसे दूर की अनिश्चित वस्तु लगती है चौथा आदर्श सर्जक है जो यह है

कि सृजन करने का मतलब है दो बार जीना।

कामू ने अपने उपन्यास 'विद्रोही' में बताया है कि विद्रोह में सीमाओं को लांघने की कोशिश का अन्त हत्याओं को उचित ठहराने और तानाशाही में होता है। अब तक के सभी विद्रोहों और क्रांतियों ने पुलिस-राज को ही जन्म दिया है। कामू की यह पुस्तक विद्रोह के रोग का निदान है, रोग जो विभिन्न स्रोतों से आता है।

कामू का कहना है कि जैसे नीत्शे के विद्रोह का अन्त नाजीवाद में हुआ उसी तरह अतियथार्थवादियों (सुरीयलिस्ट) ने साम्यवाद को चुना। सर्वश्रेष्ठ की खोज में विफल इन लोगों ने सबसे बुरे को चुना।

कामू की मान्यता है कि भाषा का सही विनाश असंगति और स्वचालित लेखन से इतना नहीं होता जितना पार्टी-लाइन के लेखन से। कला राजनीति और दर्शन में सम्पूर्ण और निरपेक्ष की चाह विद्रोह की भावना का नाश करती है। अति-यथार्थवादी अपने समय के नकारवाद से बचने के लिए विचारों की सम्पूर्ण गुलामी में कूद पड़े।

कामू का विचार है कि फ्रांसीसी क्रांति ने हीगेलवाद को जन्म दिया। हीगेल-वाद ने भी इतिहास की प्रक्रिया में व्यक्ति को बलि का बकरा बनाया। वह भी इतिहास से निर्मित मूल्य (स्पिरिट) के अलावा किसी और मूल्य को नहीं मानता। उसने इतिहास के अन्त में विचार के निरपेक्ष सत्ता के रूप में उभरने की कल्पना की।

(उल्लेखनीय है कि इस समय जब सोवियत संघ के विघटन से अमरीकी पूंजी-वाद निरपेक्ष सत्ता के रूप उभरा है और इसे इतिहास का अन्त कहा जा रहा है। सम्भवतः इतिहास के अन्त के प्रवक्ता यह मान रहे हैं कि हीगेल की कल्पना साकार हुई है)।

कामू का कहना है हीगेल से प्रभावित रूस और यूरोप के कई विचारक रूसी क्रान्ति के विचार 'सर्वहारा का राज्य' को भी इतिहास के आदर्श के रूप में अवश्य-भावी मानते थे। लेकिन कामू का विचार है, कि मार्क्स ने अपनी भविष्यवाणी के विपरीत हुए ऐतिहासिक परिवर्तनों को नजरअंदाज किया। अतः मार्क्सवाद विज्ञान नहीं रहा, धर्म बन गया जो विरोधी विचार वालों को मृत्युदंड देता था।

कामू कहते हैं कि फ्रांसीसी क्रांति में ही विद्रोह ने क्रांति का रूप लिया जिसमें ईश्वर के प्रतिनिधि बादशाह को फांसी दी गई। यहीं से आधुनिक युग प्रारम्भ हुआ क्योंकि यहीं से ईश्वर के बिना और उसके विरुद्ध मनुष्य के राज्य के निर्माण की कोशिशें शुरू हुईं।

कामू की मान्यता है कि विद्रोह को हिंसा-अहिंसा, स्वतंत्रता-न्याय के विरोधा-भासों को सुलझाना होगा। हिंसा विद्रोह की भावना को खत्म करती है क्योंकि यह

व्यवस्था-चालित होती है और वह इतिहास के दूरगामी लक्ष्य के लिए व्यक्ति को मात्र वस्तु बना देती है।

ज्यां पाल सार्त्र

फ्रास के लेखक-दार्शनिक ज्यां पाल सार्त्र को अस्तित्ववाद का राजकुमार कहा जा सकता है। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के विश्व को सबसे अधिक प्रभावित करने वाले व्यक्तियों मे सार्त्र का नाम सभवतः सबसे ऊपर आएगा। उनकी पुस्तक 'बीइग एण्ड नथिगनेस' के अग्रेजी अनुवादक हैजल ई० बार्नेस ने उनकी गणना बीसवीं शताब्दी के उन बहुत कम दार्शनिको में की है जिन्होने एक समग्र प्रणाली प्रस्तुत की।

पैरिस मे 1905 मे जन्मे सार्त्र दर्शन के आचार्य रहे। दूसरे विश्वयुद्ध के आरम्भ होने पर वे फ्रांस की सेना मे भरती हुए। हिटलर की नाजी सेना ने उन्हे बन्दी बनाया और एक साल बाद 1941 मे उन्हे रिहा किया जिसके बाद वे नाजियो के आधिपत्य के खिलाफ प्रतिरोध के आंदोलन मे शामिल हुए। इसी स्थिति मे उन्होने अधिकाश रचनाएं—उपन्यास, नाटक, दार्शनिक निबन्ध आदि लिखी। उनका निधन 1980 मे पैरिस में हुआ।

शुरू मे सार्त्र की रचनाओ को पश्चिम में, विशेषकर अमरीका मे सन्देह की नजर से देखा गया। उदाहरण के लिए उनकी पुस्तक 'टु फ्रीडम कंडेम्ड' के अनुवादक वाडे बास्किन ने पुस्तक की प्रस्तावना मे प्रश्न किया: "क्या अस्तित्ववाद को लोकप्रिय बनाने वाले वीभत्स नाटकों और अश्लील उपन्यासों का लेखक वास्तव में दार्शनिक है या महज अवसरवादी धोखेबाज ?" 'बीइग एण्ड नथिगनेस' के अनुवादक ने भी अपनी प्रस्तावना मे विलियम जेम्स की 'सिद्धांत की यात्रा की तीन अवस्थाओ' का जिक्र करते हुए कहा कि अस्तित्ववाद को भी इन तीन अवस्थाओ से गुजरना पडा। पहले उसे अनर्गल कहा गया, फिर उसे सच किन्तु महत्त्वहीन कहा गया और अन्त में उसके आलोचक कहने लगे कि उन्होंने खुद इसकी खोज की।

'बीइंग एण्ड नथिगनेस' सार्त्र की दार्शनिक प्रस्थापनाओं का सबसे महत्वपूर्ण ग्रथ है। हालांकि इसकी कुछ प्रस्थापनाओं मे सार्त्र ने बाद मे खुद सशोधन किए लेकिन कुल मिलाकर इसे सार्त्र के विचारो का आधार ग्रथ माना जा सकता है।

जैसा कि शुरू मे कहा गया सार्त्र दो प्रकार की सत्ताएं (बीइंग) मानते थे। एक जो अपने मे पूर्ण है और दूसरी जो पूर्णता के लिए व्याकुल है। पहली को उन्होने en-soi और दूसरी को pour-soi कहा जिसे अग्रेजी मे in-itself और for-itself कहा जाता है। भारतीय दर्शन की शब्दावली में इसे सद् और चिद् अथवा सद्-असद् अथवा प्रकृति-पुरुष कहा जा सकता है। चिद को वे मानव-चेतना

(Human Consciousness) भी कहते हैं और इस सत्ता का गुण वे 'नथिंगनेस' बताते हैं। 'नथिंगनेस' 'नेति नेति' के अर्थ का बोध कराने वाला शब्द है, अतः इसे हम नेतित्व भी कह सकते हैं। यह मानव-चेतना की निषेध की शक्ति है जिसके द्वारा मानव-चेतना अपना और वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करती है। 'मैं वह नहीं' कहकर वह अपने को संसार की अन्य वस्तुओं से पृथक करती है और 'यह वह नहीं' अर्थात् आम, आमला नहीं, कहकर वह वस्तुओं को एक दूसरे से पृथक करती है। यह निषेध की शक्ति मानव-चेतना की स्वतंत्रता है जिसका प्रयोग मानव के जीने की अनिवार्य शर्त है। वह अपने अस्तित्व को स्वतंत्रता के प्रयोग से ही अनुभव कर सकती है और जीने का सही अर्थ अपने अस्तित्व को अनुभव करना ही है। इस प्रकार सार्त्र का अस्तित्ववाद एक प्रकार से स्वतंत्रता का दर्शन बन जाता है।

हीगेल, कांट आदि के आदर्शवाद या सत्त्ववाद (एसेंशियलिज्म), डार्विन आदि के प्रकृतिवाद, देकार्त आदि के विज्ञानवाद, न्यूटन आदि के मशीनवाद और मार्क्स आदि के इतिहासवाद सब ने मानव-स्वतन्त्रता का दमन किया। इस दमन के विरुद्ध अस्तित्ववादियों ने मानव-स्वतन्त्रता को सर्वोच्च मूल्य सिद्ध करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से अस्तित्ववाद आधुनिक सभ्यता, पश्चिमी सभ्यता, विज्ञान-मशीन और भोगवाद की सभ्यता के खिलाफ विद्रोह है जिसकी चरम परिणति सार्त्र में दिखाई देती है।

मानव-चेतना का स्वरूप

'बीइंग एण्ड नथिंगनेस' के प्रारम्भ में सार्त्र मानव-स्वतन्त्रता और उसके 'नथिंगनेस' के साथ सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि स्वतन्त्रता मानव के सत्त्व (आदर्शों, मूल्यों) या एसेंस से पहले मौजूद होती है क्योंकि मानव का अस्तित्व और उसकी स्वतन्त्रता एक ही चीज है। आदर्शवादी सत्त्व को अस्तित्व से पूर्व मानते थे किन्तु अस्तित्ववादी इसके विपरीत अस्तित्व को पूर्व और सत्त्व को उसका परिणाम मानते थे। सार्त्र ने कहा "मानव-स्वतन्त्रता ही मानव-सत्त्व को सम्भव बनाती है। जिसे हम स्वतंत्रता कहते हैं उसे मानव की वास्तविकता या उसकी सत्ता से अलग करना असंभव है। आदमी अस्तित्व में आने के बाद स्वतन्त्र नहीं होता। आदमी के होने और उसके स्वतंत्र होने में कोई फर्क नहीं है।"

पूर्व को पर से जुदा करने वाली 'कोई चीज नहीं' (नथिंग) है। हर सत्ता में कोई चीज बाधक होती है जिसे दूर करना पड़ता है लेकिन भूत और वर्तमान के बीच कोई चीज बाधक नहीं है अतः मानव के लिए आवश्यक है कि वह अपने को अपने अतीत से 'नथिंगनेस' के द्वारा जुदा माने। यह 'नथिंगनेस' निषेध का आधार है क्योंकि यह अपने भीतर 'न' कहने की शक्ति छिपाए हुए है क्योंकि यह कोई चीज नहीं है अर्थात यह सत्ता का निषेध है।

किर्केगार्द से प्रभावित हाइडेगर ने दुश्चिता (ऐंगुइश) मे 'नथिंगनेस' का बोध माना है। सार्त्र कहते है कि दुश्चिता मे मानव अपनी स्वतन्त्रता की चेतना प्राप्त करता है अर्थात् स्वतन्त्रता चेतना के रूप मे दुश्चिता में वास करती है। दुश्चिता मे ही स्वतन्त्रता अपने लिए प्रश्न बनती है। दुश्चिता मे जो स्वतन्त्रता अपने को प्रकट करती है वह कारण-कार्य के बीच स्थित 'नथिंगनेस' के समान होती है।

दुश्चिता या पीडा के कारण जब आदमी अपनी स्वतन्त्रता का प्रयोग करने मे बचता है तो वह अपने आप से झूठ बोलता है और बुरी नीयत (दुर्निष्ठा) को अपनाता है। सच्ची निष्ठा अपनी स्वतन्त्रता के प्रयोग मे निहित है भले ही उसमे यातना सहनी पड़े। व्यवस्था के नियमों के पालन को हम अक्सर ईमानदारी कहते है किन्तु यह बुरी नीयत (बैड फेथ) ही है क्योकि ये नियम मानव की स्वतन्त्रता का दमन करते है और आदमी अपनी स्वतन्त्रता के प्रयोग से बचकर ही इनका पालन कर सकता है।

सार्त्र कहते हैं कि मेरी स्वतन्त्रता मूल्यो का अप्रतिम आधार है अत. मेरे द्वारा इस या उस मूल्य को अथवा मूल्यो के मापदंडो को अपनाने का औचित्य कोई भी चीज सिद्ध नही कर सकती। चूंकि मेरे कारण ही मूल्यो का अस्तित्व है अत. मैं मूल्याकन से परे हू. मेरा औचित्य सिद्ध नहीं है। मेरी दुश्चिता का अथवा मेरी स्वतन्त्रता की दुश्चिता का कारण यही है कि मैं या मेरी स्वतन्त्रता सब मूल्यो का आधार है किन्तु खुद आधारहीन है।

'बीइंग फार-इटसेल्फ' अर्थात् स्व के लिए व्याकुल मानव-चेतना के सम्बन्ध मे सार्त्र कहते हैं कि यह ऐसी सत्ता है जो अपने मे ही प्रश्नाधीन है। इसका अर्थ है मानव चेतना अपने में सम्पूर्ण रूप से एकाकार नही है। यह पूर्णता सद् या 'इन-इटसेल्फ' मे होती है जिसके बारे में हम कह सकते हैं कि यह वही है जो है। इसका कोई भी अंश इससे अलग या दूर नहीं है, इसमें द्वैत की कोई संभावना नही है। इसमे कही जरा-सी भी खाली जगह नही है, अत्यन्त सूक्ष्म दरार भी नहीं जिसमे 'नथिंगनेस' का प्रवेश सभव है। किन्तु इसके विपरीत मानव चेतना की सत्ता मे रिक्ति है। मेज के सम्बन्ध में मैं कह सकता हूं कि यह मेज है किन्तु अपने विश्वास के सम्बन्ध मे मैं नही कह सकता हूं कि विश्वास, विश्वास है; मुझे कहना पडेगा कि यह विश्वास की मेरी चेतना है।

चूकि नथिंगनेस सत्ता का नकार है, यह उसी सत्ता के माध्यम से आ सकती है जो खुद अपना नकार हो। यह सत्ता है मानव चेतना जो नथिंगनेस का आधार है और खुद अपने को प्रश्न का विषय बनाती है। नथिंगनेस का आधार होने के बावजूद वह 'है' अर्थात् उसकी सत्ता है भले ही उस सत्ता का स्वरूप बिल्कुल भिन्न हो। सार्त्र मानव चेतना की सत्ता के स्वरूप के सम्बन्ध में कहते हैं कि वह 'वह नही है जो है और वह है जो नहीं है इस पहेली का सरलार्थ यह है कि आदमी न तो

अतीत की निर्मिति है और न वर्तमान स्वरूप उसका सही स्वरूप है बल्कि वह, वह है जो उसे अभी बनना है। वह अपनी स्वतंत्रता से जो लक्ष्य अपने लिए चुनता है जो होने का संकल्प करता है वही, वह है। वह न तो अतीत का दास है, न परि-स्थितियो का खिलौना है, वह अपना स्वतन्त्र संकल्प है, अपना भविष्य है जिसे वह खुद चुनता है।

चेतना की भौतिकता (तथ्यात्मकता)

लेकिन बावजूद इसके कि मानव चेतना अपने अतीत, अपनी परिस्थितियों का निषेध करती है, वह अतीत या परिस्थितियो से मुक्त नही होती बल्कि इनसे युक्त रहती है (तभी तो निषेध कर पाती है)। अलबत्ता, वह उनमे शामिल होने से इन्कार करती है। उसका यह अतीत, ये परिस्थितिया, मानव-शरीर सहित, उसकी तथ्या-त्मकता या Facticity है। ये मानव को 'दिए गए' तथ्य है। इनका चुनाव उसने स्वय नही किया है ये उसे अकस्मात् मिले हैं। मनुष्य न तो अपने जन्म, परिवार, देश और काल को चुन सकता है न अन्य सारी स्थितियो को जिनके बीच वह मौजूद होता है। ये उसके भूत है (अतीत के अर्थ मे भी और पंचमहाभूतो से निर्मित तथ्यो के अर्थ मे भी) और वह इनका दास नहीं, स्वामी (भूतनाथ) है। मानव जीवन की सार्थकता इस बात मे है कि वह भूतनाथ बने, अपनी तथ्यात्मकता मे शामिल न हो। इसके लिए उसे स्वतन्त्र इच्छा का प्रयोग करके अपनी तथ्यात्मकता का निषेध करना पडता है और अपना लक्ष्य चुनना पड़ता है। यही उसका सृजन है और इसी के माध्यम से वह अपने अस्तित्व को स्थापित कर सकता है।

सार्त्र का कहना है कि यदि मानव-सत्ता निर्दोषता एवं पूर्णता का आदर्श अपने में लिए हुए होगी तो खुद अपना आधार नहीं होगी क्योंकि यदि वह अपना आधार होगी तो वह अपने जैसी पूर्ण और निर्दोष सत्ताओ का निर्माण करेगी। दूसरे शब्दो में स्वाधार वाली सत्ता मे और उसकी कल्पना अथवा सृष्टि में जरा-सा भी भेद नही हो सकता क्योकि वह कल्पना या सृष्टि उसके आदर्श के ही अनुरूप होगी। (भाव से अभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है)। मानव स्वचिंतन की अवस्था में अपने को आधारहीन पाता है, अपने को अधूरा पाता है। देकार्त का आत्मोन्मुख अहं (ईगो) भी अपने को अधूरा पाता है क्योंकि वह सन्देह करता है। किन्तु देकार्त अपूर्ण सत्ता मे भी पूर्णता के विचार या आदर्श की विद्यमानता मानते है जो उनके सिद्धात की विसगति है।

मानव का यह अपूर्णता का बोध तथ्यात्मकता का बोध है। यह तथ्यात्मकता उसकी चुनी हुई नही, उसे दिए गए तथ्यो के रूप में मिली है। दूसरे शब्दो मे यह उसकी स्थिति है जिसमे उसे फेंक दिया गया है और अकेला छोड़ दिया गया है।

यदि यह तथ्यात्मकता उसकी अपनी अर्जित वस्तु होती, अकस्मात मिली हुई

न होती तो मानव चेतना जैसे चाहे उसका उपयोग कर सकती थी, उस पर शासन कर सकती थी और उस पर गर्व भी कर सकती थी। किन्तु चूकि यह उसे अकस्मात मिली है अतः वह उस पर निर्भर नही कर सकती, उसे अपना आधार नही बना सकती। मानव चेतना विचार की प्रक्रिया में ही तथ्यात्मकता के इस स्वरूप को समझती है और उसे आधारहीनता का बोध होता है। यह बोध ही हाइडेगर के शब्दों में प्रामाणिक जीवन है और यह बोध न होना अर्थात् तथ्यात्मकता को अपना समझ लेना अप्रामाणिक जीवन है। यह बोध अपराध-भावना के समान नही है तथापि इस बोध से हम अपनी नजरो मे असंगत बन जाते हैं। यह जीवन की निस्सारता और बेतुकेपन की अनुभूति है।

मूल्य-चेतना

मनुष्य में इच्छा का होना ही इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि मनुष्य अधूरा है। उसकी अपूर्णता या अभाव ही उसका मूल्य है जिसे प्राप्त करने के लिए मानव अपनी स्वतन्त्र इच्छा का प्रयोग करके अपने लक्ष्य की ओर बढ़ता है। यह लक्ष्य उसकी सभावना है जो अपने अभाव के रूप मे उसके सामने प्रकट होती है। यह अभाव अस्तित्व के बाद प्रकट नही होता, अस्तित्व के साथ-साथ प्रकट होता है। जन्म के साथ ही मनुष्य अपूर्णता या अभाव के साथ अपने को पाता है। अपूर्ण मानव-चेतना पूर्णता की ओर बढ़ती है। चूंकि मानव-चेतना का अपना कोई आधार नही है (उसका आधार नथिंगनेस है) अतः वह ऐसी सत्ता बनना चाहती है जिसका अपना आधार हो। यह सत्ता जिसकी ओर वह बढ़ना चाहती है चेतना रूप ईश्वर नही है (क्योंकि सद्-चिद् की एकता असंभव कल्पना है)। बल्कि यह सत्ता समग्रता है जिसका व्यक्ति एक अंश है। मानव इसलिए दुखी है कि वह उस समग्रता को प्राप्त करने के लिए सदा व्याकुल है जिसका वह अंश है किन्तु जिसे वह पा नही सकता क्योंकि सद् को प्राप्त करने के लिए उसे अपना चिद् खोना पड़ता है।

आदमी जो दुख झेलता है, जो यातना अनुभव करता है वह हमेशा अपर्याप्त या अधूरी होती है क्योंकि चेतना मे प्रवेश करते ही वह यातना से यातना की चेतना बन जाती है। दूसरे की यातना, ठोस प्रतिमा बन जाती है, इसलिए हमे आकृष्ट करती है। वह उस वास्तविक चेतना का जो निरन्तर हमारा पीछा करती है, स्खलित समरूप होती है।

सार्त्र मानव-चेतना को निर्वैयक्तिक चेतना और अहं (ईगो) की पथक् सत्ता नही मानते। वे मानव-चेतना के वैयक्तिक रूप को अहं कहते है। मेरेपन का भाव चेतना में हमेशा मौजूद रहता है और इस दुनिया के सम्बन्ध में मेरेपन का भाव इस अर्थ में होता है कि दुनिया मेरी संभावनाओ से भरी है और प्रत्येक सभावना

की चेतना आत्म-चेतना अर्थात् मैं हूँ। इन संभावनाओं से दुनिया की एकता और सार्थकता है।

चेतना की काल-गति

कालिकता, काल अर्थात् समय के साथ हमारा सम्बन्ध है और यह हमारी तथ्यात्मकता का ही एक रूप है। लेकिन भूत, वर्तमान और भविष्य काल के तीन अलग-अलग खंड नहीं है अपितु यह अखंड काल-रचना है। अतीत स्मृति के रूप में वर्तमान के साथ रहता है। कुछ दार्शनिकों ने इन स्मृतियों को वर्तमान से अलग करने के लिए अचेतन, निष्क्रिय आदि कहा किन्तु सार्त्र अतीत और वर्तमान के बीच कोई पुल नही मानते, वे दोनो को बल्कि भविष्य को भी उनके साथ अविच्छिन्न मानते है।

मारलो ने कहा था कि मृत्यु इसलिए भयानक है कि वह जीवन को नियति में बदल देती है। सार्त्र का कहना है कि मृत्यु होने पर जो आदमी दूसरों याने मित्र, सगे-सम्बन्धियों की स्मृति में बना रहता है, वह ठोस अतीत में बना रहता है किन्तु जहा ऐसा नहीं होता वहा उन्हें तथा उनके अतीत को पूर्णतया नष्ट किया जा सकता है। अतीत की वर्तमान में विद्यमानता नदी के तल में पड़े पत्थर के समान मानी जा सकती है। अतीत वर्तमान के साथ प्रेत-छाया की तरह रहता है लेकिन वर्तमान नही बन सकता।

सार्त्र कहते हैं कि मेरा अतीत वह है जो मुझे अभी बनना है किन्तु इसका स्वरूप मेरी संभावना से अलग है। मेरी संभावना मेरी ठोस संभावना है जिसकी विपरीत सभावना भी उतनी ही संभव है अर्थात् उसमें सफलता-असफलता दोनों निहित हैं। किन्तु अतीत मेरी ऐसी सभावना है जो पूर्णतया निश्चित है। इससे बचा नहीं जा सकता। अतीत मेरा सद् है और मुझे यह सद् रूप अन्ततः प्राप्त करना ही है (मृत्यु पर), इससे कोई बचाव नही। मेरा सद् जिसका मैंने निषेध किया है, मेरे पीछे लगा हुआ है। यह मेरी तथ्यात्मकता है, मेरा अतीत है। मुझे इसे एक दिन प्राप्त करना ही होगा। यदि मैं अपने अतीत मे पुनः प्रवेश नही कर सकता हू तो इसका कारण है कि यह सद् है और मैं चिद् हू। अतीत के विपरीत वर्तमान मेरा चिद् है। वर्तमान का अर्थ किसी के समक्ष उपस्थिति। प्रश्न है कि किस के समक्ष कौन उपस्थित होता है? जो वर्तमान है, उपस्थित है, वह सद् नही हो सकता क्योंकि सद् सिर्फ स्थिति है, उसकी भूत, भविष्य या वर्तमान में गति नही है। अतः वर्तमान में सिर्फ चिद् की उपस्थिति हो सकती है और यह उपस्थिति सद् के समक्ष होती है। चिद् की उपस्थिति समग्र रूप में सद् की स्थिति को संभव बनाती है।

वर्तमान को तत्क्षण के रूप मे पकड़ना असभव है क्योंकि तत्क्षण वह क्षण होगा जिसमें वर्तमान ठहरा हुआ होगा। किन्तु वर्तमान कभी ठहरा हुआ नहीं होता, वह

केवल गति के रूप में ही रह सकता है।

वर्तमान चिद् रूप है। वह चिद् रूपी मानव चेतना की तरह ही 'वह' नहीं है जो है (अतीत) और 'वह है', जो नहीं है (भविष्य)।

जहां तक भविष्य की बात है सद् न तो भविष्य हो सकता है और न भविष्य का कोई अंश। पूर्ण चन्द्रमा चन्द्रलेखा का भविष्य है इस तथ्य का प्रकाश मानव-चेतना के द्वारा ही संभव है; अतः भविष्य का आगमन मानव-चेतना के माध्यम से होता है। भविष्य केवल उसी का हो सकता है जिसकी संभावनाएं हैं जिसे अभी कुछ होना है। जो हो चुका है उसका भविष्य नहीं हो सकता।

मैं भविष्य की ओर उन्मुख इसलिए होता हूं ताकि मैं अपने अभाव, अपनी अपूर्णता को प्राप्त करके वह बन सकूं जो मैं हूं। इस प्रकार मानव-चेतना जिस चीज के समक्ष उपस्थित होती है वह है उसकी अपनी संभावना। भविष्य वह कल्पित बिन्दु है जहां तथ्यात्मकता (अतीत), चेतना (वर्तमान) और उसकी संभावना (भविष्य) के सहसा अनन्त संयोजन में स्व, चिद् के सद् रूप मे प्रकट होता है। इस चिद् की भविष्य यात्रा सद् की ओर (अर्थात् मृत्यु की ओर) है।

भविष्य अतीत से बिल्कुल विपरीत है। अतीत 'मैं' हूं लेकिन अपने से परे हूं लेकिन इस 'मैं' का न होना मेरे लिए संभव नहीं है अर्थात् मुझे अपना अतीत बनना ही है। भविष्य, इसके विपरीत, ऐसी चीज है जिसे मैं सिर्फ पा सकता हूं, पाता नहीं हूं, मेरी स्वतन्त्रता उसे पाने के लिए हमेशा व्याकुल रहती है। मेरा भविष्य शाश्वत संभावना है जिसे मैं पूर्णतया कभी नहीं पा सकता। इस प्रकार मेरी स्वतन्त्रता जो संभावना को पकड़ने के लिए व्याकुल है, इस व्याकुलता के लिए अभिशप्त है।

काल या समय मुझे अपने से अलग करता है, जो मैं रहा हूं और जो मैं बनना चाहता हूं, जो मैं करना चाहता हूं उससे और वस्तुओं तथा अन्य व्यक्तियों से। समय को ही दूरी के व्यावहारिक पैमाने के रूप मे चुना जाता है जैसे वह शहर आधा घंटा दूर है, इस काम को समाप्त करने में तीन दिन लगेंगे आदि-आदि। यहां दिक्काल की एकता देखी जा सकती है। विश्व और मानव का कालिक सम्बन्ध चकनाचूर होकर पूर्वापर सम्बन्ध रह जाता है। इस चूर-चूर हुए काल का एक कण क्षण है जिसकी स्थिति कुछ निश्चित क्षणों मे पहले और कुछ के बाद है किन्तु वह क्षण अपने रूप में पूर्वापर का समावेश नहीं करता। यह अविभाज्य है और कालातीत है क्योंकि काल एक प्रवाह है।

भ्रूण मे चेतना के विकास का अध्ययन करने से ऐसा लगता है कि एक क्षण ऐसा रहा होगा जब भ्रूण के पिंड में चेतना नहीं होगी और फिर सहसा चेतना प्रकट हुई होगी जिसका कोई अतीत नहीं होगा। सार्त्र कहते हैं कि इस चेतना का भी अतीत होता है किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि यह चेतना सद् में स्थित किसी

पूर्व चेतना से आई है। इसका मतलब यह है कि चेतना सद् के निषेध से प्रकट होती है इसलिए हर चेतना के पीछे सद् अर्थात् अतीत होता है। वास्तव में चेतना द्वारा निषेध से ही अतीत प्रकट होता है। सद्-चिद् का पूर्व रूप है।

चेतना प्रकट होने की घटना जन्म है। प्रश्न उठता है कि सद् से चिद् कैसे प्रकट होता है? क्या वह सद् से पैदा हुआ या किसी अन्य [illegible] कहते हैं कि, इस तथ्य की उपेक्षा करते हैं कि चेतना के निषेध करने पर ही अतीत का उदय होता है। अर्थात् सद् से चिद् का जन्म नहीं होता बल्कि चिद् से सद् की सत्ता स्थापित होती है। जन्म के माध्यम से अतीत विश्व में प्रकट होता है।

ऐसा लगता है कि जब चेतना अपने नेतित्व (नथिंगनेस) में चूक जाती है और सद् की गिरफ्त में आती है तो उस क्षण एक नई चेतना जन्म लेती है जो विश्व के समक्ष उपस्थिति के रूप में अपना निषेध करती है और सद् में विलीन हो जाती है। प्रश्न है कि सचमुच यह नई चेतना का प्रकटीकरण है? सार्त्र इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं: "सब कुछ ऐसे घटित होता है गोया वर्तमान चेतना का [illegible] विवर (छेद) हो—जो तत्काल भर जाता है, [illegible] जन्म के माध्यम—(अर्थात् एक चेतना के विलीन होने और दूसरी के प्रकट होने का [illegible] वर्तमान में चलता है), गोया वर्तमान सद् या अतीत की पकड़ से दूर रहने के लिए लगातार भागता है किन्तु अन्त में सद् उसे पकड़कर अतीत में बदल देता है जो किसी अन्य का अतीत नहीं होता। सद् की यह अन्तिम विजय मृत्यु है जो कालिकता को बन्दी बनाकर समूची दुनिया को अतीत में बदल देती है।

चेतना जब अपने प्रति सचेत होती है तो वह अनुचिंतन (Reflection) की स्थिति है। इसमें मूल चेतना में प्रकट सत्ता का पुनः प्रकटीकरण होता है और वह अधिक प्रामाणिक होता है। यह सज्ञान की पुष्टि है।

चेतना की दिक्-गति

सद् और चिद् का पारस्परिक सम्बन्ध ज्ञान है। ज्ञान वस्तुतः अन्तर्ज्ञान होता है। हुसरल ने तथा अन्य कई दार्शनिकों ने भी कहा है कि यह चेतना के समक्ष वस्तु की 'निजी' उपस्थिति है। अतः ज्ञान को उपस्थिति कहा जा सकता है।

मानव-चेतना प्रतिबिम्ब-प्रतिबिम्बी के छाया-द्वैत के रूप में अपने नेतित्व (नथिंगनेस) का आधार है। प्रतिबिम्ब और प्रतिबिम्बी एक-दूसरे पर आश्रित हैं उसी तरह जैसे नेतित्व और चेतना अन्योन्याश्रित हैं। अतः ज्ञान न तो दो सत्ताओं (सद् और चिद्) के बीच सम्पर्क के बाद स्थापित सम्बन्ध है, न यह इन दो सत्ताओं की गतिविधि या गुण है। यह मानव-चेतना की किसी के समक्ष उपस्थिति है।

ज्ञान मानव-चेतना को ही हो सकता है क्योंकि वह नेतित्व है, वह निषेध कर

सकती है और वह ज्ञेय की सत्ता मे अपनी सत्ता को पृथक् कर सकती है। मानव-चेतना अपने समक्ष उपस्थित वस्तु को अपनी सत्ता मानने से इन्कार करती है, यही ज्ञान का आधार है। वस्तु के समक्ष उपस्थित होने पर वह घोषणा करती है कि यह मैं नही हू (नेति-नेति) तभी उसे उस वस्तु का ज्ञान होता है।

चूकि ज्ञान अनुपस्थिति नही, उपस्थिति है अतः ज्ञाता-ज्ञेय का पार्थक्य 'नथिंग-नेस' से ही संभव है।

विश्व के समक्ष चेतना की उपस्थिति एक या अनेक विशेष वस्तुओ के समक्ष उपस्थिति के द्वारा ही हो सकती है और इसी तरह विशेष वस्तु के समक्ष उपस्थिति विश्व के समक्ष उपस्थिति की पृष्ठभूमि मे ही होती है।

चेतना किसी वस्तु के समक्ष अपनी समग्रता में उपस्थित होती है और चूकि वह स्वय समग्र निषेध है अतः वह निषेध भी समग्र का करती है। उसकी प्राप्त समग्रता अप्राप्त समग्रता के अश के रूप में होती है। इस प्रकार चेतना विश्व के माध्यम से अपने को समग्रता मे पृथक् हुई समग्रता के रूप में जानती है। भारतीय चिंतन मे इस स्थिति को 'पूर्णस्यपूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' से व्यक्त किया गया है। इस प्रकार ज्ञान ही विश्व है। हाइडेगर के शब्दों में विश्व और उसके बाहर कुछ नही (नथिंग) है किन्तु इस नथिंगनेस मे मानव-चेतना का उदय नही होता, मानव-चेतना ही यह नथिंगनेस है, यह मौलिक निषेध है जिसके द्वारा विश्व प्रकट होता है।

दिक् या आकाश (स्पेस) कोई सत्ता नही है। यह असंबद्ध सत्ताओं के बीच एक गतिशील सम्बन्ध है। आकाश या दिक् का ज्ञान मानव-चेतना को होता है जो समग्र के समक्ष भी उपस्थित होती है और 'इस' विशेष वस्तु के समक्ष भी। आकाश विश्व नही है किन्तु यह समग्र के रूप मे देखी गई विश्व की अस्थिरता है। यह न सतत है और न विच्छिन्न अपितु सतत से असतत की स्थायी यात्रा है। आकाश का होना इस बात का प्रमाण है कि चेतना किसी वस्तु के 'वहां होने' का कारण बन-कर उस वस्तु की सत्ता में 'कुछ नही' जोडती है।

मानव-चेतना के गुण व्यक्ति की आंतरिक विशेषताए होती हैं जो आदतो तथा चरित्र का निर्माण करती हैं। चेतना की स्थितिया (मनोदशाएं) गुणो से भिन्न होती हैं जो अधिक सयोगिक और बाह्य परिवेश से प्राप्त होती है। जैसे घृणा, प्यार, ईर्ष्या आदि।

किसी वस्तु का गुण उसकी निजी सत्ता है जो अन्य वस्तुओ के साथ सभी सम्बन्धो से उसे अलग करने पर प्रकट होती है। वस्तु का गुण उसकी समूची सत्ता है जो आकाश (स्पेस) की सीमाओं के भीतर अपने को प्रकट करती है। इस गुण को 'पूर्णता' नहीं कहा जा सकता। यह रिक्ति को गुण की निर्धारित रिक्ति का देता है इस रूप में गुण की, पहुच से दूर शाश्वत उपस्थिति रहती है

वस्तु के गुण का निरपेक्ष निर्धारण मानव-चेतना की स्वतन्त्रता करती है, उसके वर्तमान रूप में नहीं उसके भावी रूप में।

अपूर्णता और अपूर्ण का कालातीत सम्मिलन एक असम्भव सम्भावना या कल्पना है जो मानव-चेतना को निरन्तर व्याकुल बनाए रखती है। यह कल्पना सद्-चिद की एकता है। वस्तुओं में भी अमूर्त और मूर्त के समागमन से सौन्दर्य की सृष्टि होती है। सत्त्व और अस्तित्व का यह मिलन भी असम्भव लगता है। मनुष्य इस सौन्दर्य को अपूर्णता में ही पकड़ पाता है।

समस्त आदर्शवादी दार्शनिकों से भिन्न सार्त्र सम्पूर्ण अथवा निरपेक्ष की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। न तो वे निरपेक्ष और सम्पूर्ण सत्य की सम्भावना करते हैं और न निरपेक्ष तथा सम्पूर्ण सौन्दर्य की। शिव भी सार्त्र के दर्शन में सम्पूर्ण भाव की तरह है जिस पर उनकी बाद की रचनाओं में [illegible] विचार हुआ है।

पूर्णता की कल्पना ईश्वर से जुड़ी हुई है। पूर्ण और निरपेक्ष ईश्वर ही हो सकता है। सार्त्र कहते हैं कि मनुष्य ईश्वर बनना चाहता है, वह सर्वोच्च रूप में रहना चाहता है जो असंभव कल्पना है। पूर्ण सत्य इसलिए असम्भव है कि यह सद्-चिद् का विलय है। सम्पूर्ण सौन्दर्य भी इसलिए असंभव है कि यह भी मूर्त और अमूर्त का, सद् और चिद् का परस्पर विलय है। सत्य और सौन्दर्य, क्षितिज की तरह हमसे हमेशा कुछ दूर ही रहते हैं। हम उसके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं किन्तु उसे पूर्ण रूप से पाना असमव है। आदर्शवाद से अस्तित्ववाद इसी अर्थ में भिन्न है कि आदर्शवादियों का आदर्श या अन्तिम लक्ष्य संभव कल्पना है किन्तु अस्तित्ववादियों के लिए अन्तिम लक्ष्य या मंजिल या अन्तिम पड़ाव कोई है ही नहीं। सतत यात्रा ही उनकी मजिल है।

ऐसा लगता है कि सार्त्र चिद् का सौन्दर्य काल के साथ उस के सम्बन्ध में और सद् का सौन्दर्य दिक् या स्पेस के साथ उसके सम्बन्ध में देखते हैं। मानव जब काल के साथ अपनी संगति बिठाता है अर्थात् अतीत के साथ रहते हुए भी उससे स्वतन्त्र रह कर भविष्य को चुनता है तो उसका कर्म सृजन अर्थात् सौन्दर्यपूर्ण बनता है। सद् अर्थात् जड वस्तुए स्पेस के साथ संगति बिठाती हैं। यह संगति वे स्वयं नहीं बिठाती, मानव-चेतना ही यह संगति बिठाती है। चेतना अपने लक्ष्य के अनुरूप वस्तुओं को अलग-अलग पहचानकर उनका स्थान निर्धारित करती है। यह भी उसका सृजन अथवा सौन्दर्य-सृष्टि है।

मानव चेतना का अन्य के साथ संबंध

लज्जा की अनुभूति स्व-परक होती है। हम अपने पर शर्मिंदा होते हैं। हम इसके माध्यम से अपनी किसी कमी से अपने स्व के किसी पक्ष से

करते है। किंतु यह अनुभूति मूलतः स्वचिंतन की नही है, यह हमेशा दूसरे के साथ सम्पर्क मे होती है। हम हमेशा दूसरों के आगे शर्मिंदा होते हैं। स्वचिंतन या आत्म-निरीक्षण की अवस्था मे किसी दूसरे का हमारी चेतना मे अस्तित्व नही होता। इस अवस्था में मै अपनी चेतना के सिवा किसी अन्य से सम्पर्क नही करता। किंतु मैं और मेरी चेतना का मध्यस्थ अन्य होता है! दूसरे को मैं जिस रूप मे दिखाई देता हू उस पर मुझे लज्जा का अनुभव होता है।

एक चेतना दूसरी चेतना को कैसे प्रभावित करती है या उससे कैसे प्रभावित होती है, इस प्रश्न को यथार्थवादियो और आदर्शवादियो, दोनों ने लगभग नजर अदाज किया है। यथार्थवादी मन पर पड़ने वाले स्थितियो के प्रभाव पर ही अधिकतर विचार करते हैं और चेतनाओ के परस्पर प्रभाव की (तथा मन द्वारा परिस्थितियों पर डाले जाने वाले प्रभाव की भी) उपेक्षा करते है। दूसरी ओर आदर्शवादी (जैसे काट) मानव चेतनाओ के सार्वभौम अथवा सामान्य नियमो की खोज के लिए इतने अधिक उत्सुक होते हैं कि उनके लिए व्यक्ति का अस्तित्व ही नही रहता।

अन्य व्यक्ति का केवल वैचारिक अस्तित्व नही होता। वह हाड-मास का व्यक्ति होता है, उसी तरह जैसे मेरा हाड-मास का अस्तित्व है, मैं महज एक विचार नही हूँ।

आदर्शवादी के लिए दो ही रास्ते है। या तो वह अन्य व्यक्ति की सकल्पना बिल्कुल खारिज करदे और यह सिद्ध करे कि मेरे अनुभव की दृष्टि से अन्य व्यक्ति बेकार की चीज है या वह अन्य व्यक्ति के वास्तविक अस्तित्व को मान ले। पहला रास्ता अहंमात्रवाद (Solipsism) है। शोपनहावर इस स्थिति को पत्थरो के मजबूत मकान मे बद पागल की स्थिति कहते हैं।

अन्य व्यक्ति वह है जो मैं नही हूँ। दोनो के बीच नकार का (नथिंगनेस) का सबध है। आदर्शवादी इस संबध को बाह्य निषेध से ही जान सकता है और इसके लिए उसे 'तीसरी चेतना' की कल्पना करनी पड़ती है जो मैं और अन्य दोनो को बाहर से देख सके। लेकिन तीसरा व्यक्ति दोनो को एक साथ नही देख सकता क्योंकि वह दोनो के लिए एक साथ उपस्थित नही हो सकता (ज्ञान उपस्थिति है) अतः तीसरी चेतना के रूप मे ईश्वर की कल्पना करना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है क्योकि ईश्वर ही एक साथ सब जगह होता है और मैं तथा अन्य दोनो के लिए उपस्थित होता है।

सार्त्र कहते हैं कि यदि हम अहंमात्रवाद से बचना चाहते हैं तो हमे मैं और अन्य का सबंध सत्ता और सत्ता का मानना होगा, न कि ज्ञान और ज्ञान का। हुसरल और हीगेल दोनो सत्ता और ज्ञान को एक मानते है। हाइडेगर इन दो दार्शनिको से गहरे प्रभावित थे। उन्होंने कहा कि दो मनुष्यो का सबंध दो सत्ताओ

का होना चाहिए और इस संबंध में दोनों को अपनी सम्पूर्ण सत्ता (मन और शरीर) में परस्पर निर्भर होना चाहिए।

यदि अन्य मेरे समक्ष उपस्थित नहीं होता, यदि उसका अस्तित्व मेरे अस्तित्व के समान ही असंदिग्ध नहीं होता तो उसके संबंध में मेरे पास [illegible] होता।

एक व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति पर नजर डालता है तो उनके बीच [illegible] का संबंध नहीं बनता जैसा कुर्सी-मेज आदि किसी वस्तु का [illegible] बनता है। दो व्यक्तियों का संबंध विषयि-विषय का होता है। यह संबंध दर्शाता है कि मानव की सत्ता 'स्व' के लिए ही नहीं, 'पर' के लिए भी होता है। आदमी अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी जीता है।

अन्य के प्रकट होने से मेरी दुनिया, मेरी स्थितियां बदल जाती हैं। ये स्थितियां उसकी ओर उन्मुख हो जाती हैं। मेरी दुनिया और उसकी सारी चीजें जो पहले मेरी ओर देख रही थीं, इसलिए मेरी थीं, अब उसकी ओर देखने लगती हैं और उसकी हो जाती हैं। मैं उन वस्तुओं के साथ एक वस्तु बन जाता हूं, उसकी नजरों का विषय।

उसकी नजर उसकी आंखों को छिपा लेती है, वह उन आंखों के आगे सामने प्रकट होता है। इस आभास का कारण यह होता है कि उसकी आंखें जो मेरी दृष्टि का विषय थीं ठीक उसी दूरी पर रहती हैं जहां मैं उन आंखों के लिए प्रकट होता हूं (मैं उन आंखों के समक्ष बिना दूरी के उपस्थित होता हूं किंतु मैं उनसे जितनी दूरी पर ही होता हूं।) अतः मैं उसकी नजर से नजर मिलाने की कोशिश करता हूं तो मेरी नजर कुम्हलाकर पृष्ठभूमि में चली जाती है। अर्थात् जब मैं किसी की नजरें अपने ऊपर गड़ा हुआ पाता हूं तो मेरी आंखें सामने की दुनिया नहीं देख पाती हैं। वे मुझे अपनी ओर देखने को विवश करती हैं।

इस बात को स्पष्ट करने के लिए सार्त्र एक उदाहरण देते हैं। मान लो मैं ईर्ष्या या दुष्टतापूर्ण जिज्ञासा के कारण दरवाजे में कान लगाकर कमरे की अंदर का रहस्य जानने की कोशिश कर रहा हूं और चाबी के छेद में अपनी आंखें गड़ाए हूं। यह ऐसी स्थिति होगी जब मेरी चेतना अपने बारे में बेखबर होगी। वह शुद्ध चेतना होगी जो अपने अहं से मुक्त होगी और सारी वस्तुएं मेरी शुद्ध चेतना के समक्ष अपनी तरह तमाम क्षमताओं के साथ उपस्थित होंगी। इस स्थिति में दरवाजे के कपाट, चाबी का छेद आदि वस्तुएं मेरे औजार होंगे और मेरे सारे काम प्राप्त किए जाने वाले लक्ष्य और उसमें इस्तेमाल किए जाने वाले औजारों से निर्देशित होंगे। मेरी मनःस्थिति होगी साध्य के लिए हर साधन का उपयोग जबकि मेरा स्व, मेरा विवेक, वस्तुओं द्वारा उसी तरह सोख लिया गया होगा जैसे ब्लाटिंग पेपर स्याही को चूस लेता है। यह स्थिति साध्य की सिद्धि या लक्ष्य की प्राप्ति में साधनों का औचित्य सिद्ध करती है।

किंतु जैसे ही हाल मे मुझे किसी के कदमो की आवाज सुनाई देती है और मुझे लगता है कि कोई मुझे देख रहा है तो मुझे अपना भान होता है। मैं अपने को तब देखता हूँ, जब दूसरा मुझे देखता है। मेरी चेतना आत्म-निरीक्षण करने लगती है और मेरा स्व, उसका विषय बन जाता है। यह स्व चेतना के आगे तभी उपस्थित होगा जब वह किसी और की नजरों का विषय बनेगा। मुझे तब लगता है कि मेरा स्व मुझ से छूटा जा रहा है, इसलिए नहीं कि मैं अपनी नथिंगनेस का आधार हूं बल्कि इसलिए कि मेरा आधार मुझ मे कहीं बाहर है। मुझे अनुभव होता है कि दूसरे के संदर्भ मे ही मेरा स्व मेरा है।

यह स्व मेरा अह है और यह मैं हूँ। यह मुझे मिला है मेरे बिना जाने क्योंकि लज्जा, गर्व आदि की स्थिति मे ही मेरा इससे परिचय होता है। लज्जा, गर्व आदि मे ही मुझे अन्य की दृष्टि और उस दृष्टि के दूसरे छोर पर अपने स्व (अह) का बोध होता है। लज्जा और गर्व में ही दूसरे द्वारा देखे जाने की स्थिति को जाना नहीं, जिया जा सकता है।

यदि अन्य पुरुष है (साख्य का शब्द 'पुरुष' मानव-चेतना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है) तो मेरा एक बाह्य पक्ष भी है। मेरी एक प्रकृति है। मेरा प्रारंभिक पतन (स्वर्ग से आदम और हौवा का पतन) अन्य पुरुष की विद्यमानता है। लज्जा और गर्व में मैं प्रकृति के रूप में अपने स्व का बोध प्राप्त करता हूँ यद्यपि यह प्रकृति मुझसे बाहर अज्ञात-सी रहती है। सही शब्दों में कहे तो मैं वस्तु बनने के क्रम मे अपनी स्वतत्रता को खोता हुआ नहीं पाता हू बल्कि मेरी प्रकृति ही मेरी जी जा रही स्वतंत्रता के बाहर होती है, मेरी उस सत्ता के पूर्वनियत गुण के रूप में जो दूसरो के लिए है।

इस प्रकार अन्य सर्वप्रथम वह सत्ता है जिसके लिए मैं विषय हूँ अर्थात् वह सत्ता जिसके माध्यम से मैं अपनी विषयता का बोध प्राप्त करता हूँ। यदि मैं अपने किसी एक गुण को भी वस्तुनिष्ठ रूप में जानना चाहता हूँ तो अन्य का मेरे जीवन मे प्रवेश अत्यत आवश्यक है।

कभी-कभी हम बड़े सहज भाव से ऐसे काम करते हैं जिन्हे करने के लिए यदि कोई दूसरा आदेश दे तो हमे बहुत झुझलाहट होती है। ऐसा द्वेष के कारण नहीं होता है। यह इसलिए होता है कि आदेश और निषेध से हमे अपनी गुलामी के समकक्ष दूसरे की स्वतत्रता का बोध होता है।

आदमी अपने वस्तुरूप (जो दूसरों की नजरों का विषय है) को छिपाने के लिए कपडे पहनता है। यह अपने को शुद्ध विषयि के रूप में जीने का प्रयास है जिसे दूसरों को देखने का अधिकार है लेकिन जिसे कोई दूसरा न देख सके।

गर्व और आत्म-प्रदर्शन की प्रवृत्ति बुरी नीयत है, अपने आपसे झूठ बोलने जैसा। आत्म-प्रदर्शन मे मैं वस्तु (विषय) के रूप में दूसरो पर अपना प्रभाव

डालना चाहता हूँ। मैं दूसरे द्वारा दिए गए गुणों को (जैसे सुंदरता, शक्ति या बुद्धिमत्ता को) दूसरों को प्रभावित करने में इस तरह इस्तेमाल करता हूँ कि दूसरा मेरे उन गुणों को प्यार करने लगे। किंतु साथ ही मैं यह भी चाहता हूँ कि वह विषयि के रूप में उन गुणों को सराहे अर्थात् अपनी स्वतंत्रता के साथ। वह मेरी शक्ति या सुंदरता को वास्तविकता प्रदान करने का एक माध्यम रहता है। यह भावना बुरी नीयत या झूठ-मूठ के विश्वास के [illegible] और इसकी परिणति इसके विघटन में होती है। चूँकि मेरा वस्तु बनना दूसरे पर निर्भर है और मैं दूसरे को इस तरह प्रभावित करता हूँ कि वह मेरा वस्तु रूप मेरे लिए छोड़ दे, इस क्रिया में मैं दूसरे को विषय या वस्तु बना देता हूँ ताकि मैं उसके दिल में प्रवेश करके अपने वस्तु-रूप को (जो मेरे अस्तित्व का रहस्य है) प्राप्त कर सकूँ। लेकिन यह अंडे देने वाली मुर्गी को मार डालने जैसा है। दूसरे को वस्तु बनाकर मैं वस्तु की नजर में वस्तु (जो अर्थहीन है) बन जाता हूँ और इस प्रकार आत्म-प्रदर्शन व्यर्थ बन जाता है।

मानव-देह

मेरी देह मेरी भौतिकता, मेरी तथ्यात्मकता है, एक ही साथ वस्तु है। लेकिन यह मुझे अन्य वस्तुओं की तरह 'विश्व में' दिखाई नहीं देती। यह मेरे लिए अन्य के माध्यम से ही प्रकट होती है।

स्पर्श करना और स्पर्श पाना दो बिल्कुल पृथक अनुभूतियां हैं और दो संवाद रहित छोरों पर होती हैं।

"आत्मा को जानना शरीर को जानने की अपेक्षा आसान होता है", देकार्त ने यह इसलिए कहा था कि मानसिक तथ्यों को चेतना ग्रहण कर सकती है किंतु शारीरिक तथ्यों की गारंटी दिव्य नियति ही दे सकती है।

मेज के आमने-सामने बैठे दो व्यक्तियों के लिए मेज पर रखा गिलास दाईं या बाईं ओर होगा। मानव-चेतना विश्व को इस तरह नहीं देख सकती कि वह गिलास उसे एक ही समय दाएं-बाएं, नीचे-ऊपर दीखे। दिशाओं के विलोपीकरण से यह-वह का भेद ही मिट जाएगा। जो सब हमें इस या उस वस्तु के रूप में दिखाई देता है अभेद की स्थिति में चला जाएगा। शुद्ध बाहरी संबंध के रूप में आकाश (स्पेस) का भी लोप हो जाएगा।

आदर्शवाद ने कहा संबंध ही विश्व का निर्माण करता है। न्यूटन के विज्ञान ने भौतिक वस्तुओं की परस्पर क्रिया के संबंध को अपना आधार बनाया। किंतु उनका विश्व मानव-रहित मरुस्थल था।

शरीर मानव-चेतना से अलग कोई वस्तु नहीं है। यह चित् में विलीन सत् नहीं है क्योंकि उस स्थिति में वह हर चीज को ठोस बना देगा। लेकिन यह सच

है कि मानव-चेतना आधारहीन है और इस तथ्य के कारण वह दी गई सत्ताओ के बीच एक दी गई सत्ता के रूप मे कार्य-रत रहती है। अत: शरीर चेतना की स्थिति से भिन्न नहीं है क्योकि चेतना का अस्तित्व और उसका स्थितिरत होना एक ही बात है। दूसरी ओर शरीर विश्व के साथ अभेद की स्थिति मे होता है क्योकि विश्व चेतना की समग्र स्थिति और उसके अस्तित्व का मापदड है।

किंतु स्थिति शुद्ध रूप से दी गई विद्यमान चीज नही है। यह उसी सीमा तक प्रकट होती है जिस सीमा तक मानव-चेतना उसे अपना विषय बनाती है। परिणामत. शरीर जो चेतना से अलग नही होता चेतना का विषय नही बनता।

चेतना के स्वभाव का तकाजा है कि वह शरीर हो अर्थात् जब वह निषेध द्वारा अपनी सत्ता से पलायन करती है (मै वह नही हूँ जो हूँ और वह हूँ जो नही हूँ) तो यह पलायन विश्व मे कार्य-रत होने के रूप मे ही होता है जिसमें शरीर अनिवार्य हैं।

प्लेटो ने कहा था कि शरीर आत्मा को व्यक्तित्व प्रदान करता है। सार्त्र इससे सहमति व्यक्ति करते हैं किंतु यह भी कहते हैं: "तथापि यह मानना गलत होगा कि आत्मा शरीर से अलग होकर अपने व्यक्ति रूप को छोड़ सकती है, मृत्यु के समय अथवा शुद्ध चिंतन द्वारा, क्योंकि चेतना के वैयक्तीकरण मे आत्मा और शरीर अभिन्न हैं।

इंद्रियाँ

सार्त्र, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की अनुभूतियों की सत्ता स्वीकार करते हैं और इन्हे आँख, कान, नाक आदि इंद्रियों (शारीरिक अगों) से अलग मानते हैं। (साख्य में भी इंद्रियों और तन्मात्राओ को अलग किया गया है)।

सार्त्र विश्व की तमाम वस्तुओ को जिनमें हमारा शरीर भी होता है, औजारो के रूप मे देखते है। ये औजार मानव-चेतना द्वारा अपने लक्ष्य को प्राप्त करने मे उपयोगी होते है। इस क्रम मे एक औजार दूसरे औजार पर दूसरा तीसरे पर निर्भर होता है। इस शृखला मे अंतिम औजार हमारा शरीर है। औजारो की इस दुनिया मे प्रवेश करने का मतलब है अपने को भी औजार बनाना और यह काम शरीर करता है। लेकिन चूकि मेरा शरीर अतिम औजार है और यह मै ही हूँ इसलिए मैं इसका इस्तेमाल नही कर सकता, कोई दूसरा ही इसे औजार के रूप में इस्तेमाल कर सकता है।

दूसरे के शरीर का अवबोध प्राप्त करते समय एक अबूझ तरीके से मुझे अपने शरीर का भी अवबोध प्राप्त होता है। यह अवबोध दूसरे की नजरो और इरादो के केन्द्र बिंदु के रूप में होता है।

दूसरे व्यक्ति का शरीर मुझे सश्लिष्ट समग्रता के रूप मे मिलता है। मैं उस

शरीर को और वस्तुओं से अलग-थलग रूप में नहीं देखता हूँ तथा उसके प्रत्येक अंग को अपनी दिशा में मुखातिब पाता हूँ, प्राण-मांस की समग्रता के रूप में। इस प्रकार मेरा दूसरे व्यक्ति के शरीर को देखना अन्य वस्तुओं को देखने से भिन्न कोटि का होता है।

मेरे शरीर के तीन आयाम हैं :

(1) मैं अपने शरीर को जीता हूँ।

(2) मेरे शरीर को दूसरा व्यक्ति जानता है और वह उसका उपयोग करता है।

(3) मैं अपने शरीर को उस रूप में जीता हूँ जिस रूप में दूसरा व्यक्ति उसे जानता है।

प्रेमी-प्रेमिका एक दूसरे के सामने आने पर लजाने, शरमाने या पसीना-पसीना होने की स्थिति से गुजरते हैं जिसका मतलब है कि वे अपने शरीर के प्रति लगातार सचेत हैं लेकिन यह शरीर वह है जिसकी कल्पना दूसरे ने की है।

दूसरे की नजर का उद्देश्य होता है मेरे शरीर को वस्तु या औजार बनाना। वह मेरा विषयि और मैं उसका विषय बन जाता हूँ। मेरा शरीर मुझ से पलायन करके औजारों के विश्व में एक औजार बन जाता है। मेरा विश्व मुझ से नजरें हटाकर दूसरे की ओर देखने लगता है। इसी परिवर्तन की अनुभूति लज्जा, शरम या पसीना-पसीना होने में होती है।

ऐसा लगता है कि दूसरा व्यक्ति हमारे लिए वह काम करता है जिसे मैं खुद नहीं कर सकता लेकिन जो मेरे लिए लाज़िमी होता है, अर्थात् अपने को उस रूप में देखना जिस रूप में मैं हूँ। हम दूसरों की नजर से ही अपने को वस्तु या विषय के रूप में देख सकते हैं। हम आइने में भी अपने को देख सकते हैं लेकिन वह हमारी समूची सत्ता को नहीं दिखा सकता। यह काम अन्य व्यक्ति ही कर सकता है।

अन्य के साथ मूर्त्त सम्बन्ध

अन्य के प्रति सम्बन्ध शुरू में तीन प्रवृत्तियों में प्रकट होता है : प्रेम, भाषा और आत्मपीड़न।

प्रेम—अन्य के लिए चेतना के होने का पहला मौलिक अर्थ टकराव है। हम अपने को दूसरे की गिरफ्त में पाते हैं। हमारा स्व किसी के कब्जे में होता है। हम उसे वापस पाना चाहते हैं ताकि उसे अपना आधार बना सकें। यह तभी सम्भव है जब मैं सामने वाले की स्वतन्त्रता को अपने में जज़्ब कर लूं। तथापि यह काम इस प्रकार होना चाहिए कि सामने वाले की प्रकृति ज्यों-की-त्यों बनी रही। मैं उसे विषय के रूप में जज्ब नहीं करना चाहता हूं क्योंकि उस सूरत में मैं विषय नहीं रह जाऊंगा। मैं उसे विषयि के रूप में अपने में जज्ब करूं तभी मैं अपने को उसके

दृष्टि-बिन्दु से विषय के रूप मे पा सकता हूं।

अपने लिए अन्य व्यक्ति बनना अन्य के साथ सम्बन्ध का प्राथमिक मूल्य है। यह आदर्श असंभव है। यह बात दूसरे की उपस्थिति मे मुझे निरन्तर परेशान करती है। यह ऐसा प्यार नहीं है जिसका स्वरूप उद्यम होता है अर्थात् अपनी सभावनाओ की और समस्त योजनाओ का जैविक समीकरण। यह प्यार का आदर्श है, उसकी प्रेरणा और लक्ष्य दोनों। यह एक अनन्य मूल्य है।

अन्य की स्वतन्त्रता मेरी सत्ता का आधार है। किन्तु चूकि मैं अन्य की स्वतन्त्रता के रहम पर अपना अस्तित्व बनाए रखता हू अत. मै अपने को सुरक्षित महसूस नही करता। इस स्वतन्त्रता के रहते मैं अपने को खतरे मे महसूस करता हू। इस लक्ष्य को प्राप्त करने का रास्ता है प्यार।

हम चाहते हैं कि कोई हमे प्यार करे। क्यो ?

यदि प्यार वास्तव में शरीर पर अधिकार करने की इच्छा है तो इसे अधिकतर आसानी से संतुष्ट किया जा सकता है। लेकिन तब अधिकार मे लिया गया शरीर महज लाश होगी। अत: यह निश्चित है कि प्रेमी प्रेमिका की चेतना को अपने वश मे करना चाहता है।

प्यार मे हम दूसरे को उसकी स्वतन्त्रता के साथ, विषयि के रूप मे पाना चाहते हैं ताकि हम अपने को वस्तु-रूप मे जान सकें या अपनी वास्तविक सत्ता को जो उसके अधिकार में है, वापस प्राप्त कर सकें।

प्रिय की पूर्ण गुलामी से प्रेमी का प्यार भी मर जाता है। यदि प्रिय मशीन बनकर रह जाए तो प्रेमी का लक्ष्य ही नष्ट हो जाता है। किन्तु दूसरी ओर प्रेमी प्रिय की स्वतन्त्रता के उस उच्च रूप से सन्तुष्ट नही होता जो वास्तव में स्वतन्त्रता होती है। प्रेम करने वाला चाहता है कि दूसरा उसे ऐसी स्वतन्त्रता से प्यार करे जो वास्तव में स्वतन्त्र न हो। वह चाहता है कि प्यार करने वाला प्यार करने के लिए विवश हो। उसकी स्वतन्त्रता सद् के वशीभूत होकर पागलपन की स्थिति मे या स्वप्न की स्थिति मे पहुच जाए और अपने को मेरे वश में करने के लिए स्वयं ही तैयार हो जाए। प्रेम करने वाला चाहता है कि जिससे वह प्रेम करता है वह प्रेमी को ही अपनी समूची दुनिया मान ले।

प्यार चाहने का अर्थ है कि प्यार करने वाला उसे दुनिया के तमाम मूल्यो का स्रोत माने। इसीलिए प्रेमिका प्रेमी से सवाल करती है कि क्या वह उसके लिए सारे पारम्परिक नैतिक बन्धनो को तोड़ सकता है ?

प्यार से पहले हर आदमी महसूस करता है कि वह इस दुनिया मे फेंका गया है। वह एक बेकार चीज है जिसका कोई उपयोग नही है। लेकिन प्यार मिलने पर उसे लगता है कि उसके अस्तित्व को किसी ने अपना लिया है और उसको सम्पूर्ण रूप मे किसी ने अपनी पूरी स्वतन्त्रता के साथ चाहा है। प्यार के आनन्द का यही

आधार है। जब आनन्द होता है तो हमें अपना जीवन सार्थक लगता है।

भाषा—हाइडेगर ने कहा, "मैं वही हूं जो मैं कहता हूं।" भाषा अन्य व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करने से भिन्न नहीं है। मेरे सामने दूसरे व्यक्ति का अपनी निगाह के साथ प्रकट होना मेरी सत्ता की शर्त के रूप में भाषा को जन्म देता है।

शब्द जब इस्तेमाल किया जाता है तब पवित्र होता है और दूसरा उसे सुनता है तो वह जादू होता है। इस प्रकार मैं अपनी भाषा को खुद नहीं समझता हूं उसी तरह जैसे मैं अपने शरीर को, जो दूसरों के लिए है, नहीं जानता हूं। मैं अपने को नहीं सुन सकता हूं और न अपनी मुस्कान को देख सकता हूं। मेरी भाषा की समस्या मेरे शरीर की समस्या की तरह ही है। भाषा मोहासक्ति के रूप में मुद्रित शब्द की तरह तुरन्त अपना प्रभाव दिखाती है।

अच्छा वक्ता अपने श्रोताओं को सम्मोहित कर देता है किन्तु श्रोता वक्ता को प्यार नहीं करने लग जाते। भाषा का सम्मोहन प्रेम के सम्मोहन से भिन्न है।

सम्मोहन दूसरे को विषय के रूप में जीतने की इच्छा है लेकिन यह भी प्यार नहीं है। प्रिय के मन में प्यार तभी पैदा हो सकता है जब प्रेमी अपने से पृथक् होने और प्रिय का हो जाने का प्रमाण जुटाए।

इस प्रकार प्यार करना मूलतः प्यार किए जाने का उपक्रम है।

प्रेमी की स्वतन्त्रता प्रेम पाने की कोशिश में अलग होकर (नोथगनेस में हट-कर) उस शरीर में प्रवेश हो जाती है जो दूसरे के लिए है अर्थात् दूसरे की ओर गमन करते हुए अस्तित्व में आ जाती है।

इस प्रकार प्यार का सच्चा आदर्श है अपने से कटी हुई स्वतन्त्रता। किन्तु जो प्यार पाना चाहता है किसी के द्वारा प्यार किए जाने की चाह में अपनी स्वतन्त्रता को अलग करता है। मेरी स्वतन्त्रता दूसरे के विषयि भाव के समक्ष ही विलग हो सकती है जो मेरे विषय भाव की स्थापना करती है। यदि दूसरा व्यक्ति विषय भाव में होगा तो मेरी स्वतन्त्रता कभी विलग नहीं होगी।

प्रेमी और प्रिय दोनों एक-दूसरे से प्यार पाना चाहते हैं किन्तु वे इस बात को ध्यान में नहीं रखते कि प्यार करने का मतलब है प्यार किए जाने की चाह और दूसरे से प्यार पाने की कोशिश में वह चाहता है कि दूसरा भी प्यार पाने की चाह करे।

इस प्रकार प्यार एक विसंगत प्रयास है।

मैं चाहता हूं कि प्रेमी मुझे प्यार करे किन्तु यदि वह मुझे प्यार करता है तो वह अपने प्यार से मुझे धोखा देता है। मैंने उससे चाहा था कि वह अपने विषयि भाव को बनाए रखते हुए मुझे विषय भाव (वस्तु) बना दे। किन्तु जैसे ही वह मुझे प्यार करता है वह मुझे विषयि के रूप में अनुभव करता है और मेरे विषयिभाव

के समक्ष वह सम्पूर्ण रूप से विषयिभाव बन जाता है।

तीसरे व्यक्ति के प्रकट होने मे प्रेमी और प्रिय दोनों विषय भाव का अनुभव कर सकते है किन्तु उस स्थिति मे दोनो की स्वतन्त्रता छिन जाएगी और दोनो वस्तु बनकर रह जाएंगे। इस प्रकार प्यार में उसके विनाश के बीज मौजूद रहते है।

आत्मपीड़न — इस परिणाम से उत्पन्न पूर्ण निराशा की स्थिति मे अपने और अन्य के बीच तादात्म्य स्थापित करने की नई कोशिश की जाती है। इसमे उपर्युक्त स्थिति के विपरीत को आदर्श माना जाता है। दूसरे के अन्य भाव को बनाए रखते हुए उसे आत्मसात करने के प्रयास मे मैं अन्य के द्वारा आत्मसात किए जाने का प्रयास करता हूं ताकि मैं अपने विषयिभाव से मुक्त होने के लिए उसके विषयिभाव मे अपने को विलीन कर दू। यह आत्मपीडन का प्रयास है। इस प्रयास मे मैं अपने को सम्पूर्ण रूप से विषय या वस्तु बना लेता हूं। इसमे अपने विषय भाव के लक्षण के रूप मे मैं अपनी लज्जा को चाहने और प्यार करने लगता हू। मैं किसी की चाह का विषय बनना चाहता हूं और इसके लिए अपनी लज्जा तथा अपमान को प्यार करने लगता हूं।

परपीड़ारति की तरह ही आत्मपीड़ारति में अपराध के स्वीकार का भाव रहता है। मैं विषयभाव होने के कारण ही अपराधी हू, ऐसा मानने लगता हू।

आत्मपीडन-रति मे मैं दूसरे को अपने विषयभाव से मोहित करने का प्रयास नही करता हू बल्कि अपने को ही अपने विषयभाव से मोहित करने का प्रयास करता हूं।

किन्तु आत्मपीड़ारति का प्रताडित होना भी निश्चित है। जो आत्मपीडक किसी स्त्री को इसलिए पैसे देता है कि वह उसे पीटे वह उस स्त्री को औजार की तरह इस्तेमाल करता है और ऐसा करने मे वह उसके सन्दर्भ मे अपने विषयभाव को खोकर विषयिभाव अपना लेता है।

अन्य के प्रति दूसरी प्रवृत्ति उपेक्षा, चाह, घृणा और परपीड़ारति की है।

उपेक्षा—जब मैं दूसरे की दृष्टि के प्रत्युत्तर में अपनी दृष्टि उस पर डालता हू तो मैं दूसरे के विषयिभाव को धराशायी करके अपने विषयिभाव का निर्माण करता हू। यह दूसरे के प्रति उपेक्षा का भाव है। इस स्थिति में मैं एक प्रकार का अहमाश्रवाद अपनाता हू। मैं उसके प्रति अन्धा बन जाता हूं अथवा मै अपने आपको उससे छिपाने का निश्चय करता हूं। मैं इस तरह व्यवहार करता हू गोया वह है ही नही और मैं दुनिया में अकेला हू।

मैं शरमीलेपन या दीनता की मन.स्थिति से बिल्कुल विपरीत मन:स्थिति मे आ जाता हू। मैं सहज हो जाता हू और अपने को कटा हुआ, विलग, महसूस नही करता

यद्यपि दूसरे के प्रति इस उपेक्षा भाव से मैं अपनी स्वतन्त्रता के छिन जाने के डर से मुक्त दिखाई देता हूं लेकिन वास्तव में मेरी स्वतन्त्रता को इसमें खतरा होता है। मैं विषयभाव की चरम सीमा पर पहुंच जाता हूं क्योंकि मुझे कोई देखता है और मैं यह अनुभव नहीं कर पाता हूं कि मैं देखा जा रहा हूं और इसलिए मैं उस देखे जाने से अपना बचाव नहीं कर पाता हूं।

इस परेशानी के कारण मैं दूसरे की स्वतन्त्रता को अपने अधिकार में लेने का प्रयास कर सकता हूं।

वासना या चाह—दूसरे की पार्थिव काम-धर्मिता का बोध होना ही चाह है। मैं दूसरे को चाह कर (या अपने को उसे चाहने के अयोग्य पाकर) या अपने लिए उसकी चाह का बोध प्राप्त कर ही उसे कामासक्त देख सकता हूं। चाह, एक साथ मुझे अपने शरीर और दूसरे के शरीर की कामधर्मिता का बोध कराती है।

चाह अपने में संभोग की क्रिया का अर्थ नहीं देती है। वह इसका संकेत भी नहीं देती। उदाहरण के लिए छोटे बच्चे को देखकर मन में जो चाह पैदा होती है उसमें कहीं भी रति-क्रिया की चाह का संकेत नहीं होता। इसी प्रकार चाह में रति-क्रिया की एक विशेष शैली का संकेत भी निहित नहीं होता है। यह इस तथ्य से सिद्ध होता है कि विभिन्न सामाजिक समूहों में रति-क्रिया की अपनी-अपनी शैलियां होती हैं।

सामान्य तौर पर चाह क्रिया की चाह नहीं होती। क्रिया घटना के बाद की चीज है। यह चाह के साथ बाहर से जुड़ती है और इसके लिए एक प्रशिक्षणावधि को पार करना पड़ता है। यह एक उद्देश्य, एक विषय को प्राप्त करने की चाह है।

इसका विषय या उद्देश्य क्या है? क्या शरीर? एक अर्थ में यह सही है। लेकिन हमें इस अर्थ पर सावधानी से विचार करना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि शरीर ही हमें व्याकुल करता है। भुजा, वक्ष आदि शरीर का उघड़ा हुआ भाग हमें चंचल बनाता है। लेकिन हम उस भुजा या उघड़े वक्ष को जीवंत तथा प्राणवत समग्र शरीर के साथ प्राप्त करना चाहते हैं। किसी के मन में सोई हुई स्त्री के प्रति चाह पैदा हो सकती है किन्तु यह चाह तब होगी जब उस स्त्री की नींद चेतना-युक्त होगी। अत: चाहे जा रहे शरीर के क्षितिज पर हमेशा चेतना होगी। शरीर की चाह वस्तुत: उसकी चेतना की चाह होगी।

चाह एक स्पष्ट और पारदर्शी कामना होती है जो हमारे शरीर को पार कर किसी निश्चित उद्देश्य तक पहुंचना चाहती है। चाह किसी अदृश्य की व्याकुल चेतना है।

चाह में हमें अपना शरीर, (जिसकी तथ्यात्मकता से हमारी चेतना निरन्तर दूर भागती रहती है—अपनी सम्भावनाओं को प्राप्त करने के लिए

हमारी तत्काल सभावना बन जाता है। यह इसलिए कि चाह हमारे लिए न केवल दूसरे के शरीर को उद्‌घाटित करती है बल्कि हमारे अपने शरीर को भी हमारे लिए उद्‌घाटित करती है।

इस प्रकार चाह एक शरीर की दूसरे शरीर के प्रति चाह बन जाती है। वास्तव में यह दूसरे शरीर की ओर उन्मुख भूख बन जाती है और यह अपने शरीर के समक्ष मानव-चेतना की पतन-भीति का रूप ले लेती है अर्थात् चेतना को अपना नियंत्रण खोने तथा शरीर के आदेश का पालन करने की विवशता का बोध होता है।

चाह मे मैं अपने शरीर को दूसरे के समक्ष मास बना लेता हू और दूसरे के शरीर की मांस के रूप मे चाहना करता हूं। चाह दूसरे शरीर को अपना बनाने की चाह है जो मुझे अपने शरीर की मांसलता को अनुभव करने मे सहायक होती है।

जैसे विचार की अभिव्यक्ति भाषा मे होती है वैसे ही चाह की अभिव्यक्ति स्पर्श या सहलाने में होती है। यह स्पर्श या सहलाने की क्रिया मुझे दूसरे के शरीर की मासलता और दूसरे को भी अपने शरीर को मासलता का अनुभव देती है। मेरे शरीर की मांसलता दूसरे के शरीर की मासलता को जगाती है जो मेरे लिए और दूसरे के लिए भी सुखदायी होती है।

चाह का अर्थ या अभिप्राय

चेतना के मुड़कर पीछे की ओर देखने से चाह को अर्थ अथवा अभिप्राय मिलता है। प्रश्न है कि चेतना चाह के रूप में स्वयं का निषेध क्यो करती है? वह चाह क्यों बनती है?

मनोवेग या राग की तरह चाह भी विश्व के आमूल परिवर्तन के रूप में अपने को अभिव्यक्त करती है। कामेच्छा के जागने से चेतना मे आमूल परिवर्तन होता है और वह पार्थिव सत्ता (देह) की सतह पर अपने को स्थापित करती है। वह भिन्न प्रकार से अपनी देह को जीने लगती है और अपनी तथ्यात्मकता में फस जाती है। इसके साथ ही वह विश्व को बिल्कुल भिन्न रूप मे देखने लगती है।

यह तो निश्चित है कि मैं दूसरे की देह को अपने अधिकार मे लेना चाहता हूं लेकिन मैं उसे दूसरे की चेतना की सम्पत्ति के रूप मे अपने अधिकार मे करना चाहता हूं। यह चाह का असंभव आदर्श है कि वह दूसरे की चेतना को शुद्ध चेतना के रूप में प्राप्त करना चाहती है और साथ ही उसकी देह को भी जिससे दूसरा तथ्यात्मकता में बदल जाए किन्तु यह सब इस तरह से हो कि दूसरे की यह तथ्यात्मकता निरन्तर उसकी निषेधकारी चेतना के सम्मुख उपस्थित रहे।

देह की सतह पर चेतना के अवस्थित होने का अर्थ है कि देह को निष्क्रिय

मासलता है सहसा दूसरे का स्पर्श पाकर जाग उठती है। स्पर्श करने वाले को स्पर्शित देह मे उसकी स्वतन्त्र चेतना का स्पर्श मिलता है। चाह, चाह को आमंत्रित करती है। मासलता, मासलता को ढूढती और उसे जगाती है। देह को धीरे-धीरे स्पर्श करने या सहलाने की क्रिया मे मासलता को मासलता का जीवत बोध मिलता है। इस स्थिति में जो आनन्द की सिहरन पैदा होती है वह देह मे चेतना के जाग्रत होने की सूचक है। लेकिन यह तब होता है जब देह निष्क्रिय, शिथिल और तनाव-मुक्त होती है। सहलाने वाला हाथ तन जाए या अगुलियाँ मास नोचने लगे तो देह फिर मास बन जाती है।

यही कारण है कि चाह, समग्र देह को पाने के प्रयास मे शरीर के मासल भागो को विशेष रूप से स्पर्श के लिए चुनती है। ये भाग—जैसे उरोज, नितब, जघाए आदि—विशेष मासल होने की वजह से शुद्ध तथ्यात्मकता या सद् की प्रतिमा जैसे होते है। रति-क्रिया मे उदर, वक्ष, जाघो आदि के अत्यधिक मासल भागो का मिलन भी इसी तथ्य पर प्रकाश डालता है।

किन्तु चाह देह को सचेतन करने तक ही अपने को सीमित नहीं रखती। वह उस देह को पाने, उस पर अधिकार करने की ओर बढ़ती है। यह सभोग क्रिया है जिसमे हाथ सहलाने के बजाय औजारों की तरह काम करने लगते है। दो देहों का परस्पर स्पर्श और घर्षण यांत्रिक क्रिया में बदल जाता है।

चेतना के चाह बनने का उद्देश्य अर्थात् देह और चेतना के मिलन का उद्देश्य सभोग की चरम परिणति के साथ विफल हो जाता है क्योंकि इस अवस्था मे मिलने वाला अद्भुत सुख चाह को अतिम सीमा मे पहुचा कर उसका अंत भी कर देता है। सभोग-सुख चाह का अतिम लक्ष्य या अभिप्राय नही था, वह तो था चेतना और देह का मिलन, देह को सचेतन बनाना। यह कार्य देहों के सहज और तनाव मुक्त होने पर स्वतः क्रिया के रूप में होता है। जननेंद्रियों की सहज उत्तेजना एक स्वतः क्रिया है। इस क्रिया को सायास बनाने का मतलब है जननेन्द्रियों को औजार की तरह इस्तेमाल करना।

तथापि देह द्वारा चेतना को बदी बनाने का अपना विचित्र परिणाम होता है। एक खास किस्म का आनदातिरेक जिसमें चेतना मात्र देह की चेतना बनकर रह जाती है और इसके बाद वह उस आनद की पार्थिवता का अनुचितन करने वाली चेतना बन जाती है। चाह का अंत हो जाता है और उसका स्थान सुख की स्मृति ले लेती है। चेतना अपने उस रूप या अवतार की याद मे खो जाती है जो उसे अभी-अभी मिला था। किन्तु वह दूसरी चेतना (प्रिय की) के नये अवतार को भूल जाती है और अपने मे खो जाती है। इस स्थिति मे दूसरी देह को सहलाने का आनंद अपनी देह को सहलाए जाने का आनद बन जाता है। चेतना माग करने लगती है कि वह अपने को अपनी देह में प्रसारित होता महसूस करे यह

स्थिति अक्सर आत्मपीड़ारति की ओर ले जाती है।

परपीड़ारति : अन्य की चेतना को सदेह अपने अधिकार मे लेने की चाह जब अपने असली लक्ष्य को छोड़कर अपनी देह को औजार की तरह इस्तेमाल करने लगती है तो दूसरी देह भी मात्र वस्तु बन जाती है। चाह उस देह को चेतनायुक्त सजीव अवस्था में लाना चाहती है, किन्तु इसके लिए वह हिंसा और बल का प्रयोग करती है। इससे दूसरी देह का ठोसपन और बढ जाता है और चाह करने वाले की स्थिति नींद मे चलने वाले की-सी हो जाती है जो यह समझ नही पाता कि क्या कर रहा है और क्यों कर रहा है। यह परपीड़ारति की स्थिति है।

परपीड़ारति ग्रस्त व्यक्ति का लक्ष्य भी चाह के लक्ष्य की तरह दूसरी देह को न केवल वस्तु के रूप में बल्कि शुद्ध चेतना के रूप में भी प्राप्त करना होता है। किन्तु परपीड़ारत व्यक्ति का जोर दूसरे की सचेतन देह को औजार की तरह प्राप्त करने पर होता है। इसमे दूसरे की देह को सचेतन बनाने के लिए हिंसा का सहारा लिया जाता है और उस कायातरित देह को औजार की तरह इस्तेमाल किया जाता है। परपीड़ारत व्यक्ति चाहता है कि दूसरे की चेतना को उसकी देह, मात्र मास के रूप मे प्रस्तुत करे और यह काम वह पीड़ा देकर करता है।

शील-अश्लील : परपीड़ारत व्यक्ति देह को जिस रूप में प्राप्त करना चाहता है, वह अश्लीलता है। अश्लीलता शील या प्रसाद (ग्रेस) के विपरीत कल्पना है। शील म देह चेतनायुक्त होती है और उसकी हर गति मे भविष्य की नींव पर खडा वर्तमान दिखाई देता है। शीलपूर्ण गति में एक ओर सुपरिष्कृत यत्र का नपातुलापन दिखाई देता है और दूसरी ओर सचेत मन की सम्पूर्ण अननुमेयता भी चूंकि मन या चेतना दूसरे के लिए अनुमेय नही होती। शील मे देह ऐसा औजार होता है जो स्वतंत्रता को प्रकट करता है। शीलयुक्त गति में देह यान्त्रिक यथार्थता के साथ-साथ अपनी विद्यमानता के औचित्य को भी क्षण-प्रति-क्षण सिद्ध करती है। यह आवरणयुक्त दैहिकता है जिसमें देह अपनी सम्पूर्ण पार्थिवता के साथ विद्यमान होती है किन्तु उसकी पार्थिवता दिखाई नहीं देती। यह अदृश्य नग्नता है।

इसके विपरीत अश्लीलता प्रकट होती है जब देह ऐसी मुद्राए अपनाती है जो देह की निर्जीव मासलता के रूप मे प्रकट करती हैं। नग्नदेह को पीछे से देखने मे अश्लीलता प्रकट नहीं होती किन्तु कूल्हो को मटकाना अश्लील हरकत लगती है। यह इसलिए कि कूल्हे टागो के ऊपर अलग से रखे गद्दो की तरह लगते हैं, वे टागो की गति के साथ समरस नही होते, उनका सतुलन निर्जीव पदार्थ के गति-नियमो से निर्धारित होता है।

शील में देह की मांसलता दूसरे की पहुंच से दूर होती है। परपीड़ारत व्यक्ति इस शील को, मासलता की दूरी को नष्ट करना चाहता है। वह शील की आवरण युक्त मांसलता को निरावरण करना चाहता है।

परपीडारति भी अपने लक्ष्य में प्रताडित होती है क्योंकि वह देह को मात्र मांसलता बना देती है जो औजार की तरह काम में लाई जा सकती है। इससे परपीडारत व्यक्ति मे पुन: चाह जाग्रत होती है। इस प्रकार परपीडारति चाह की विफलता है और चाह परपीडारति की।

घृणा जब मानव-चेतना अन्य के साथ एकात्मकता के लक्ष्य को बिल्कुल छोड देती है तो वह घृणा के रूप में अन्य की मृत्यु को अपना लक्ष्य बनाती है।

घृणा एक अन्य व्यक्ति मे सभी अन्य व्यक्तियो के प्रति घृणा है। घृणा घृणा की मांग करती है जिसका अर्थ है कि घृणा करने वाला अपनी स्वतन्त्रता में परेशानी महसूस करता है। किन्तु घृणा अन्य के संदर्भ मे चलने वाले विषयि-विषय द्वद्व से निजात नही दिलाती। यह इस द्वद्व से निकलने का अन्तिम प्रयास, हताशा का प्रयास है। इस प्रयास के विफल होने के बाद मानव-चेतना के पास विषयि-विषय के द्वंद्व-चक्र मे कभी इधर, कभी उधर भटकने के सिवा कोई चारा नही रह जाता।

अधिकार, कर्म और जीवन

किसी चीज को प्राप्त करना (अपने अधिकार में लेना) कर्म करना और जीना (जीवन जीना) इन तीनों का पारस्परिक सबंध है। किसी वस्तु के ज्ञान को भी उसे प्राप्त करना माना जाता है। किसी विषय के ज्ञानी के बारे में कहा जाता है कि उसे उस विषय का अधिकार है। कांट ने कर्म को जीवन से अभिन्न माना है। इस प्रकार मुख्य चर्चा कर्म पर केन्द्रित हो जाती है। कर्म यहां सृजन का पर्याय है।

कर्म करने का मतलब है दुनिया को नया रूप देने का प्रयास। सिद्धांततः कर्म इच्छा का द्योतक है। यदि किसी मजदूर की लापरवाही के कारण, उसके सिगरेट पीने से, कारखाने में दुर्घटना हो जाती है तो उसे मजदूर का काम नही कहा जा सकता किन्तु यदि मजदूर डाइनामाइट से खान में विस्फोट करता है तो यह उसका कर्म है।

कर्म लक्ष्य को चुनना है और लक्ष्य को चुनने के लिए यह जानना जरूरी है कि उसकी दुनिया मे कोई कमी है, कोई अभाव है। जब तक आदमी ऐतिहासिक स्थितियो के बीच डूबा होता है वह उस राजनैतिक अथवा आर्थिक व्यवस्था की कमियों को नही देख पाता अतः उन स्थितियों मे रहते हुए वह उन्हे बदलने का प्रयास नही कर पाता। यह सिर्फ इसलिए नही कि वह उन स्थितियों में जीने का आदी हो जाता है बल्कि इसलिए कि उसे लगता है कि यही उसके जीने की समग्र स्थितियां हैं और इनके बिना वह अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकता। जिस दिन हम एक नई व्यवस्था की कल्पना करते हैं उसी दिन से हमारी समस्याए एक

नई रोशनी मे प्रकट होती हैं और हम फैसला करते हैं कि ये स्थितिया असह्य है।

जब वह अपनी स्थितियों को असह्य मानने के बजाय अक्सर उनके आगे समर्पण कर अपने को उनके अनुसार ढाल लेता है क्योंकि शिक्षा और विचार-शक्ति के अभाव मे वह ऐसी नई व्यवस्था की कल्पना नही कर पाता जिसमे वे समस्याए न हों तो वह सहज जीवन-यापन करता है, कर्म नही करता।

सिर्फ कष्ट झेलकर आदमी कर्म के लिए प्रेरित नही होता, लक्ष्य-निर्धारण ही कर्म का प्रेरक होता है।

कोई भी तथ्यात्मक स्थिति कर्म की प्रेरणा नही बन सकती क्योंकि कर्म मानव द्वारा अपने को वह बनाने की योजना है जो वह नही है। कोई भी मौजूदा वास्तविक स्थिति मानव चेतना को अपने अभाव (लैक) का बोध नहीं करा सकती।

सगठित मजदूर अपने कष्टो को स्वाभाविक मानता है जिन्हे वह दूर भी करना चाहता है। किन्तु जब तक वह इन संगठनो से अपने को काट कर अलग नहीं करेगा तब तक वह अपने कष्टों को असह्य रूप देकर क्रातिकारी कदम के लिए तैयार नही हो पाएगा।

कर्म एक कदम है जो हमेशा आगे की ओर बढता है। अतः अतीत खुद मे कर्म का प्रेरक नही हो सकता अर्थात् ऐसा लक्ष्य जो अपने अतीत की ओर उन्मुख हो सृजन नही कर सकता। कर्म ही लक्ष्य और उसका अभिप्राय निर्धारित करता है और कर्म स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति है।

मैं ऐसी स्वतत्रता का वर्णन नही कर सकता हू जो मेरे और दूसरो के लिए सामान्य (एक ही) हो इसलिए मैं स्वतत्रता के आदर्श की कल्पना नही कर सकता। मैं स्वतंत्रता को सब आदर्शों, सत्त्वो का आधार मानता हूं।

कारण, कार्य और लक्ष्य एक अविच्छिन्न संकल्पना है।

आदमी स्वतत्र है क्योकि वह अभावग्रस्त है और वह शाश्वत रूप से अपने अतीत और भविष्य से नेतित्व (नथिंगनेस) के द्वारा कटा हुआ है।

इच्छा और स्वतत्रता

स्वतंत्रता खुद कोई सत्ता नही है किन्तु वह नथिंगनेस के रूप में आदमी की सत्ता है उसका स्व है।

स्वतत्र कर्म को सहज-स्वैच्छिक कर्म (बिना किसी के अनुरोध से किया गया कर्म) मानने की आम प्रवृत्ति के अंतर्गत कर्म का निर्धारण रागात्मक दुनिया मे सीमित किया जाता है। देकार्त की इच्छा स्वतंत्र है किन्तु वे आत्मा मे रागात्मक भावों को भी मानते है। सार्त्र का कहना है कि या तो मानव का कर्म पूरी तरह किसी बाहरी शक्ति से नियत है (जो अमान्य है क्योंकि चेतना का बाहर से निर्धारित होना उसे चेतना नही रहने देगा) अथवा वह पूर्णतया स्वतंत्र है।

इच्छा लक्ष्य निर्धारित नहीं करती लक्ष्य निर्धारित करना एक वैचारिक

निर्णय है। इच्छा आदेश देती है कि लक्ष्य का अनुसरण विचार-विवेक से किया जाए। रागात्मक आवेग भी लक्ष्य का अनुसरण करते हैं किन्तु यह कर्म राग-प्रेरित होता है, बुद्धि-प्रेरित नहीं।

अंतिम लक्ष्य निर्धारित करना मेरी सत्ता की विशेषता है और यह स्वतन्त्रता के अचानक हस्तक्षेप से होता है। यह सहज क्रिया तक सीमित नहीं है। राग आदि से प्रेरित सहज क्रियाएं विषयिगत प्रवृत्तियां है जो मूल स्वतन्त्रता द्वारा निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए होती है। मूल स्वतन्त्रता का मतलब सहज या रागात्मक क्रिया से पहले की कोई स्वतन्त्रता नहीं, इच्छा या राग के साथ-साथ बल्कि उनके माध्यम से, अपने-अपने ढग से प्रकट होने वाली स्वतंत्रता है।

मैं स्वेच्छा से काम करूंगा या राग से, इसका निर्णय मेरे सिवा कौन कर सकता है ? यदि हम यह मान लेते है कि परिस्थितियां हमारा लक्ष्य निर्धारित करती हैं तो हम सभी प्रकार की स्वतन्त्रता का दमन करते हैं।

राग-प्रेरित कर्म की तुलना मे स्वेच्छा से और विचार-विवेक से किए गए कर्म मे स्थिति पर वैज्ञानिक रीति से विचार किया जाएगा, जादुई समाधान को खारिज करके निश्चित क्रम और साधनो का पता लगाया जाएगा जो समस्या के समाधान मे समर्थ हो। इस प्रक्रिया में अचानक हमारे सामने साधनों (उपकरणों) की दुनिया प्रकट होगी। एक उपकरण दूसरे उपकरण तक पहुँचने मे मदद करेगा और इस प्रकार अंतिम उपकरण पर पहुंचकर साध्य को प्राप्त किया जाएगा।

कर्म का कारण उसका विचार तत्त्व है और प्रेरणा उसका राग-तत्त्व। अत विगत प्रेरक और विगत कारण, वर्तमान प्रेरक और वर्तमान कारण तथा भविष्य का लक्ष्य ये सभी स्वतंत्रता के प्रकट होने के साथ ही सम्पूर्ण एकता मे संयोजित हो जाते हैं। दूसरे शब्दो मे कारण, प्रेरक और लक्ष्य के प्रकट होने और स्वतंत्रता के प्रकट होने को एक ही प्रक्रिया माना जाना चाहिए।

संक्षेप में स्वतंत्रता के संबंध में सार्त्र के विवेचन के निष्कर्ष इस प्रकार हैं :—

(1) मनुष्य के होने का मतलब है कर्म करना (स्वतन्त्र इच्छा से लक्ष्य को चुनना और उसकी ओर बढना)। कर्म के बिना आदमी का होना (अस्तित्व) भी संभव नहीं है।

(2) कर्म का संकल्प भी कर्म है। यह संकल्प अतीत से या पूर्वस्थिति मे निर्देशित नहीं हो सकता। इनसे स्वतंत्र निर्णय ही कर्म है।

(3) कर्म मात्र गति नहीं है, वह संकल्प है जो यथास्थिति के पार जाकर लक्ष्य का चुनाव है।

(4) इस चुने हुए लक्ष्य के अनुरूप ही विश्व की विभिन्न वस्तुओं का क्रम निर्धारित होता है। इसी के अनुरूप आदमी अपने मूल्य निर्धारित करता है।

(5) यथास्थिति या दिए गए तथ्य कर्म का कारण नहीं बन सकते जब तक कि हम उस यथास्थिति को समझ न लें। यथास्थिति का बोध यथास्थिति में रहते हुए नही हो सकता, उसके लिए यथास्थिति से अपने को अलग करना पड़ता है या यथास्थिति को कोष्ठक मे डालना पड़ता है। इसके अलावा यथास्थिति का मूल्यांकन भी लक्ष्य के प्रकाश मे करना जरूरी है।

(6) स्वतन्त्र लक्ष्य मेरे अस्तित्व की मूल शर्त है अतः यही मूलभूत परियोजना है। महत्वाकांक्षा, प्यार की चाह, हीन ग्रंथि आदि को मूलभूत परियोजना नही कहा जा सकता।

स्वतंत्रता और तथ्यात्मकता: स्थिति

मानव की स्वतंत्रता को हर जगह कुछ बाधाओ का सामना करना पड़ता है। ये बाधाएँ उसकी निर्मिति नहीं होती किंतु इन बाधाओ को अर्थ, मानव के स्वतंत्र चुनाव या लक्ष्य से मिलता है।

मानव की तथ्यात्मकता उसका स्थान या देश, उसका शरीर उसका अतीत और उसकी हैसियत है जो अन्य के साथ मेरे मूलभूत संबंध से निश्चित होती है।

स्वतन्त्रता द्वारा बनाए गए घेरे में सद् (जो सामान्यतया उदासीन अवस्था मे होता है), बाधा के रूप में प्रकट होता है किंतु स्वतन्त्रता को अपने लक्ष्य की ओर इन्ही बाधाओं से गुजरना होता है। उसे इन बाधाओ वाले विश्व पर विजय प्राप्त करनी होती है।

अक्सर इन बाधाओं को पार करना मुश्किल होता है और अंतिम बाधा (मृत्यु) को पार करना तो असंभव ही होता है। ये बाधाएं हमारे मन में दुश्चिता पैदा करती हैं, परित्याग अर्थात् अपने लक्ष्य को छोड़ने के लिए बाध्य करती हैं और हम में बाधाओ से लड़ने-टकराने की दायित्व-भावना भी पैदा करती हैं।

जीवन का इतिहास असफलता का इतिहास है। इसमे प्रतिकूल शक्तियां इतनी प्रबल होती हैं कि मामूली सा परिणाम प्राप्त करने के लिए वर्षों के धैर्य की अपेक्षा होती है। हम प्रकृति के निर्देशो के खिलाफ नही जा सकते। मेरी स्वतन्त्र इच्छा मेरे छोटे कद को बड़ा नहीं कर सकती। देश, काल, स्थितियो और शरीर के रूप में तथ्यात्मकता मानव-स्वतंत्रता के रास्ते मे निरंतर बाधाएं उपस्थित करती है। एक तरह से आदमी अपनी जन्मभूमि, जलवायु, नस्ल, परिवार, वर्ग, भाषा, इतिहास, वंश-परंपरा, बचपन की स्थितियों, आदतों और जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं की निर्मिति होता है। 'आदमी अपना निर्माता स्वयं है' इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि उपर्युक्त तथ्यात्मकता की वास्तविक सत्ता नही है। अभिप्राय यह है कि वह इस को पार करने के लिए अपनी स्वतन्त्रता

के बल पर प्रयास कर सकता है। उसे सफलता मिलती है या नहीं, यह दीगर बात है। वास्तव मे उसे यह मानकर चलना पडता है कि सफलता नही मिलेगी। यह निराशा (डिस्पेयर) की भावना उसको कर्म से विचलित न करे, वह निराशा रहते हुए कर्म करता जाए, यही कर्म का तथा मानव-स्वतन्त्रता का सर्वोच्च लक्ष्य है।

यदि हम मृत्यु को छोड़ दें जो अजेय बाधा और मानव की नियति है, तो ससार की अन्यबाधाएँ मानव-स्वतन्त्रता के लिए चुनौती होती हैं और वह उनसे लड सकती है। हम देखते हैं कि भयानकतम यातनाए और क्रूरतम दंड भी आदमी को अपनी स्वतंत्रता जीने से नहीं रोक सकते। देश-काल की स्थितियो से भी और यहां तक कि अपने स्वभाव से, अपनी आदतों से भी आदमी लड़ सकता है।

इच्छा के व्यापक रूप

आदमी मूल रूप से ईश्वर बनने की चाह है।

चाह या वासना जो इच्छा का ही एक रूप है किसी चीज का अभाव है अत: उसका सीधा सबध उस अभाव मे है। यह अभाव है सद् और चिद् का तादात्म्य जिसमें चेतना पदार्थ बन जाए और पदार्थ अपना कारण खुद बन जाए। यह मानवेश्वर (अथवा भूतेश्वर) की कल्पना है।

सम्पत्ति : हम किसी चीज को अपने अधिकार मे लेने (उसे अपनी सम्पत्ति बनाने) या कुछ करने या कुछ होने अथवा बनने की इच्छा करते हैं। करना, पाना और होना मानव-कर्म की ये तीन श्रेणिया हैं। कुछ करने मे कुछ पाने का भाव निहित होता है। इस प्रकार दो ही श्रेणिया मूल रूप से रह जाती हैं : कुछ पाना और कुछ होना। (लेखक की एक बाल-कथा 'आजा-होजा' में दो बच्चों का निष्कर्ष भी यही है)।

किसी चीज को पाना आत्म-अनात्म का मिलन है। यह चिद् या विचार की पारदर्शियता और सद् के ठोसपन का निकट सबंध है जो स्वामित्व को निश्चित करती है।

ज्ञान : ज्ञान भी एक प्रकार की सम्पत्ति है। खोजा गया सत्य, कला-कृति की तरह, मेरा ज्ञान हैं। अज्ञात वस्तु निष्कलंक, बेदाग (श्वेत) और कौमार्यपूर्ण होती है जिसने अपना रहस्य अभी नही खोला हैं, जिसके रहस्य को आदमी ने अभी नही छीना है। प्रत्येक खोज मे आवरण को हटाकर निरावरण करने का भाव निहित होता है।

पशु की जिज्ञासा या तो काम से सबंधित होती है या भक्षण से। ज्ञान आंखो से किसी चीज को निगलना है।

कला-कृति मन का बाहर निकलकर स्थिरता प्राप्त करना है। मन उसका

लगातार निर्माण करता है तथापि वह उस कृति को तटस्थ भाव से ग्रहण करता है। ज्ञान मे भी यही संबंध बनता है। ज्ञान की प्रक्रिया में चेतना, विषय को अपनी ओर खीचती है और अपने में रूपाकार कर लेती है। इस प्रकार ज्ञान आत्मसात करने की क्रिया है।

ज्ञान एक साथ सतह को सहलाना और वस्तु मे प्रवेश करना है, वस्तु को दूर से देखना और पचाना जो अपना रूप कभी नहीं छोडती; सतत सृजन से विचार का निर्माण और विचार की सम्पूर्ण वस्तुनिष्ठता में प्रस्तुति।

गभीरता . गभीर ज्ञान दुनिया-समाज की चिंता से गाढ़ा हो जाता है। यह समाज और विश्व के लिए मानव-वास्तविकता की पूर्ण उपेक्षा करता है। गंभीर आदमी बाहर की दुनिया का आदमी होता है और उसका निजी स्रोत कोई नहीं होता। वह दुनिया से बाहर निकलने की कल्पना भी नही करता क्योंकि उसने अपने को एक शिला बना लिया होता है। वह स्थिरता, जडता और ठोसपन लिए विश्व मे अवस्थित होता है। जाहिर है, गभीर आदमी अपने को स्वतत्रता की चेतना से छिपाता है। वह बुरी नीयत या दुर्निष्ठा मे जीता है और उसकी दुर्निष्ठा का उद्देश्य होता है अपने को अपनी नजरो में परिणाम के रूप मे प्रस्तुत करना। उसके लिए सब कुछ परिणाम है, प्रारंभ कभी नहीं।

क्रीड़ा : क्रीड़ा आदमी के विषयिभाव को मुक्त करती है। जब कभी आदमी अपने को स्वतत्र महसूस करता है या फुर्सत मे पाता है तो वह अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग क्रीडा में करता है। क्रीड़ा का पहला सिद्धात स्वय मनुष्य है। इसके माध्यम से वह प्रकृति से पलायन करता है। अपने कार्य के नियम वह स्वयं निर्धारित करता है और उन अपने बनाए हुए नियमो के अनुसार ही कार्य (क्रीडा) करता है। (कृष्ण-भक्तो की लीला की कल्पना भी ऐसी ही है)।

खेल की इच्छा मूलतः होने की, अपने अस्तित्व की छाप छोड़ने की इच्छा है। इस दृष्टि मे खेल को भी सृजनात्मक कला कहा जा सकता है।

स्वामी-सम्पत्ति संबंध : कला, विज्ञान और क्रीड़ा तीनो पूर्ण या आंशिक रूप से किसी चीज को अपने अधिकार में लेने की गतिविधियां हैं और जिसे वह अपने अधिकार मे लेना चाहती हैं वह मूर्त्त विषय से परे विषय का निरपेक्ष सद्रूप है। किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा उस वस्तु के साथ आतरिक रूप से जुडना है अर्थात् स्वामी-सम्पत्ति की एकता।

विलासता : विलासता स्वामित्व का ऐसा रूप है जिसमे सम्पत्ति का निर्माण स्वामी के अपने आदमियों, दासों, नौकरों आदि द्वारा होता है। धन की शक्ति से प्राप्त की गई वस्तुएं सम्पत्ति नहीं, उपकरण होती हैं। धन विषयि-विषय के तकनीकी सबध को नष्ट करता है और इच्छा को परीकथाओं के जादू की तरह तुरत फलीभूत बनाता है

सृजन : किसी चीज को प्राप्त करने या उस पर अपना स्वामित्व स्थापित करने के लिए पहले उसका सृजन करना आवश्यक है। सृजन से प्राप्त सम्पत्ति के साथ सतत सृजन का लगाव बना रहता है। ऐसी सम्पत्ति को मैं अपने पूरे वाता-वरण के साथ जोड़ता हूँ। उसका अस्तित्व मेरी स्थिति में और उसके स्थिति में समेकन से निश्चित होता है।

यदि सृजन का अर्थ विषय और रूप को अस्तित्व में लाना है तो मैं जिस चीज का सृजन करता हूँ वह मैं ही होता है। परम सर्जक की (ईश्वर—यदि कोई है तो) विडंबना यह है कि वह अपने से बाहर नहीं आ सकता क्योंकि वह जो भी रचना करेगा वह उसकी अपनी रचना होगी। यदि रचना का विषय और रूप दोनो मुझसे आएंगे तो रचना को वास्तविकता कैसे मिलेगी ?

इस प्रकार से सार्त्र ने चिद् और सद् अथवा चेतना और उसकी भौतिकता के स्वरूप की चर्चा तक अपने को सीमित रखा है ('बीइंग एंड नथिंगनेस' में) और आध्यात्मिक तथा नैतिक प्रश्नों को खुला छोड़ दिया है जैसे चेतना का उदय क्यों होता है, कैसे होता है ? यदि चेतना सद् से प्रकट होती है तो वह प्रक्रिया क्या है ? क्या सद् में गति का तत्व ही चेतना का रूप ग्रहण करता है और यदि वह करता है तो चेतना सद् का निषेध क्यों करती है ? इसके अतिरिक्त चेतना की स्वतन्त्रता, जो उसकी निषेधकारी शक्ति है, यदि अंत मे प्रताड़ित होने के लिए अभिशप्त है, उसका अंत निराशा ही है तो समाज के लिए वह किस रूप में उपयोगी है, उसका नैतिक महत्व क्या है ? अपने दर्शन के नैतिक निहितार्थों का प्रतिपादन करने का प्रयास उन्होंने अपनी बाद की रचनाओं मे किया है। इसकी संक्षिप्त-सी झलक प्रारंभ में दी गई है। वे अस्तित्ववाद को मानवतावाद कहते हैं और एक स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए इसे आधार बनाने की कल्पना करते हैं। यद्यपि सार्त्र का दर्शन मुख्य रूप से स्वतंत्रता का दर्शन है और सम्पूर्ण निरपेक्ष स्वतन्त्रता के आधार पर नये समाज की कल्पना करता है, अपने अंतिम दिनों में उन्होंने, स्वतंत्रता के अलावा समता और बंधुता को भी मानव की मूलभूत आकांक्षाएं माना तथा सिमोन बेवूर एवं बेनी लेवी को दिए गए साक्षात्कारो में उन पर विचार किया। कहने का मतलब यह कि अस्तित्ववाद सार्त्र के साथ रुक नहीं गया है। वह धारगमन की प्रक्रिया मे है और इसकी संभावनाओं का अध्ययन किया जाना चाहिए।

खंड दो : अस्तित्ववाद से परे

अस्तित्ववाद का वैचित्र्य और उसकी प्रासंगिकता

अस्तित्ववाद को सारे विश्व में विद्रोह और उत्पाती दर्शन के रूप में लिया गया। इसका कारण संभवतः यह था कि इसका परिचय लोगों को अधिकतर साहित्य-कला के माध्यम से मिला। एक तरह से अस्तित्ववाद साहित्यिक आंदोलन के रूप मे ही लोगों की नजरों मे रहा जिसने अपने समय की साहित्यिक धाराओं से हटकर विध्वंसक तेवर और विद्रोही स्वर में अपनी बात कही। अमरीका के बौद्धिक जगत मे सार्त्र को वीभत्स, भयानक नाटकों और अश्लील उपन्यासो के लेखक के रूप में देखा गया। 'बीइंग एंड नथिगनेस' के अनुवादक, हैजल ई० बार्नेस ने भी स्वीकार किया कि अस्तित्ववाद को स्वीकृति से पूर्व विलियम जेम्स द्वारा बताई गई सिद्धांत की तीन यात्राओं को पार करना पड़ा अर्थात् पहले उसे अनर्गल कहा गया, फिर सही किन्तु महत्त्वहीन और अन्त में स्वीकार्य।

बीसवी सदी के उत्तरार्द्ध मे पश्चिमी दुनिया में जितने भी नकारात्मक विध्वंसात्मक या विद्रोही आंदोलन चले उन सबको किसी न किसी रूप मे अस्तित्ववाद से प्रभावित बताया जाता है। इन आंदोलनों मे साठ के दशक में फ्रांस में और बाद मे अन्य युरोपीय-अमरीकी देशो मे चले छात्र आंदोलन, स्त्री-स्वातंत्र्य आंदोलन से लेकर अस्मिता के नाम से चले अनेक आतंकवादी आंदोलन शामिल हैं। इनमे हिप्पी, बीटनिक आदि आंदोलनो को भी गिनाया जाता है और अनेक धार्मिक अथवा आध्यात्मिक आंदोलनों को भी शामिल किया जाता है। भारत मे भी यह दर्शन अधिकतर कामू, काफ्का और सार्त्र की साहित्यिक रचनाओ के अनुवाद के माध्यम से पहुंचा और इसे उपद्रवकारी साहित्य-धारा के रूप मे ही ग्रहण किया गया। किसी ने इसे महज व्यक्तिवाद कहकर तिरस्कार से देखा, किसी ने ऊब-उबकाई का साहित्य कह कर इसे समाज-विरोधी कहा। कुछ बुद्धिमान लोगो ने तो अस्तित्ववाद का इतना ही अर्थ लगाया कि आदमी अपने अस्तित्व के लिए, खुद की भूख-प्यास मिटाने के लिए जो भी करता है, सब जायज है अर्थात् यह सामाजिक दायित्व या नैतिकता-बोध से पूर्णतया शून्य स्वार्थवाद और अहंकारवाद का दर्शन है

किन्तु पूर्व पृष्ठो का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट होगा कि अस्तित्ववाद एक समूची दार्शनिक प्रणाली है। इसमे वे तमाम विषय उठाए गए है जो सुकरात, अरस्तू और अफलातून से लेकर पश्चिम के तमाम दार्शनिको ने उठाए थे हालाकि अस्तित्ववादियों की दृष्टि अन्य दार्शनिको से भिन्न रही है। अस्तित्ववादियो ने दर्शन की समस्याओ को नया सन्दर्भ दिया किन्तु उनके विचार्य विषय अन्य दार्शनिको से भिन्न नही थे। इतना ही नही, भारत की दार्शनिक परम्परा मे जिन विषयों पर विचार-विमर्श हुआ, उनका समावेश भी अस्तित्ववादी दर्शन मे है। इसका कारण है कि दर्शन की मूल समस्याए एक ही हैं चाहे वह ग्रीक दर्शन हो, पश्चिमी दर्शन या भारतीय दर्शन। दर्शन के मूल प्रश्न है : ससार क्या है ? मनुष्य क्या है ? इन दोनो के बीच क्या सम्बन्ध है ? क्या इन्हे नियन्त्रित करने वाली कोई तीसरी शक्ति है, यदि है तो उसका स्वरूप क्या है ? मनुष्य की भूमिका इस सारी रचना मे क्या है ? वह इस भूमिका को कैसे अदा करता है या उसे कैसे अदा करनी चाहिए ? मनुष्य कैसे सोचता है ? कैसे ज्ञान प्राप्त करता है ? दूसरे मनुष्यो के साथ उसका क्या सम्बन्ध है ? उसका सही कर्म क्या है ? उसके जीवन का लक्ष्य क्या है और इस लक्ष्य को वह कैसे प्राप्त कर सकता है ? ये सारे प्रश्न भारतीय दर्शन का विषय भी रहे और ग्रीक, युरोप तथा अन्य देशो के दार्शनिक चिन्तन का विषय भी।

ग्रीक दर्शन की विरासत को लेकर युरोप मे जिस दार्शनिक चिंतन का विकास हुआ उसमे 17वी शताब्दी में प्रमुख भूमिका निभाने वाले थे देकार्त, बेकन, लॉक स्पिनोज़ा और लीबनेज़। देकार्त और बेकन को पश्चिमी दर्शन के पितामह माना जाता है। देकार्त ने प्रसिद्ध सूत्र दिया, "मैं सोचता हूं इसलिए मैं हूं।" उन्होने इस सूत्र के द्वारा मनुष्य को मूलतः बौद्धिक प्राणी माना। इसके अतिरिक्त उन्होंने गणित के सूत्रों को विज्ञान का आधार बनाया। बेकन ने विज्ञान के वर्चस्व को स्थापित किया। उनका कहना था कि मनुष्य के ज्ञान का लक्ष्य प्रकृति पर (और मनुष्य पर भी) वर्चस्व स्थापित करना है। देकार्त ने आत्मा को चेतना युक्त और विस्तार रहित तथा प्रकृति को विस्तार युक्त और चेतना रहित माना। उन्होने द्रव्य (सब्सटेंस) में चेतन-अचेतन, आत्मा-प्रकृति का भेद किया। स्पिनोज़ा और लीबनेज़ दोनो ने प्रकृति और आत्मा मे अद्वैत देखा। उल्लेखनीय है कि सृष्टि या ससार के स्वरूप की व्याख्या के लिए सभी दार्शनिको ने परतमजातियों या कैटेगरीज़ की कल्पना की। ग्रीक दार्शनिको ने जहां द्रव्य, अनन्यत्व, विभिन्नता, गति और अगति को परतम जातिया कहा वहा भारतीय दर्शन वैशेषिक में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय को पदार्थ कहा गया। स्पिनोज़ा ने हमारे वेदान्तियो की तरह ब्रह्म और ब्रह्मांड को एक ही सब्सटेंस माना और इसे चिंतन तथा विस्तारयुक्त बताया। स्पिनोज़ा की तरह लीबनेज़ ने भी चेतन-अचेतन में अद्वैत

देखा। जॉन लॉक ने प्रकृति और पुरुष में स्पष्ट भेद देखा। उनके अनुसार चेतन पुरुष ज्ञाता है और प्रकृति ज्ञान का विषय। उन्होंने प्रकृति में प्रधान और अप्रधान गुण देखे। उनके प्रधान गुणों मे आकृति, विस्तार, गति और अगति तथा अप्रधान गुणो में रूप, रस, गध, स्पर्श आदि हैं। प्रधान-अप्रधान का यह भेद वैसा ही है जैसा हमारे यहां महाभूतो और तन्मात्राओं मे हुआ है।

18वीं शताब्दी मे काम्टे, कांट, रूसो, ह्यूम, वाल्तेयर, बर्कले और उन्नीसवी शताब्दी में हीगेल, डार्विन, स्पेंसर, मार्क्स, हेर्नीबर्गसा आदि नाम दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र मे प्रसिद्ध हैं। इन सबके सामने प्रश्न वही थे किन्तु किसी ने प्रकृति की रचना पर अपनी शक्ति लगाई, किसी ने मन की रचना पर। जार्ज बर्कले ने मन की रचना पर विशेष जोर देते हुए अनुभव या ज्ञान की प्रक्रिया का विश्लेषण किया। उन्होने तीन प्रकार का अनुभव बताया : इन्द्रियों के सम्पर्क से प्राप्त, मन के उद्वेगों से प्राप्त और स्मृति-कल्पना से प्राप्त। कांट से पहले कुछ विचारकों ने कहा सारा ज्ञान बाहर से आता है। अर्थात् मन चीटी की तरह एक-एक कण बाहर से लाकर अपने भीतर संजोता है। इन दार्शनिको को अनुभववादी कहा जाता है। इसमे भिन्न विवेकवादी दार्शनिकों का मत था कि मन मकडी की तरह अपने भीतर के पदार्थ से ही सारा ताना-बाना बुनता है। काट अंतर-आलोचनवादी कहलाते हैं जिनकी मान्यता थी कि मन शहद की मक्खी की तरह बाहर से रस ग्रहण करके उसे अपने भीतर ज्ञानरूपी शहद का रूप देता है। अनुभववाद बाहरी अनुभवो के विश्लेषण तक अपने को सीमित रखता है। विवेकवाद अनुभव से ज्यादा अनुभव प्राप्त करने वाले का अध्ययन करता है। अतरावलोचन प्रत्यक्ष ज्ञान (इंद्रियों से प्राप्त प्रभाव) और मन के आवेगो को तर्क और बुद्धि से विश्लेषण के बाद प्राप्त ज्ञान को सही ज्ञान मानता है। भारतीय दर्शन मे प्रत्यक्ष को सम्पूर्ण विश्वसनीय नहीं माना जाता। उसकी पुष्टि अनुमान प्रमाण और आप्तप्रमाण से करनी होती है। विषयि और विषय (चेतन मन और बाह्य प्रकृति) के सम्पर्क को तीन चरणो में देखा जाता है। दोनों का सम्पर्क मात्र बोध या परसेप्शन है। चेतना का चेत्य पर प्रभाव क्रिया और चेत्य का चेतना पर प्रभाव अनुभूति है।

सभी दर्शनो का प्रारम्भ मनुष्य की इस आदिम जिज्ञासा से होता है कि मैं कौन हूं मेरे आस-पास की दुनिया क्या है? मुझे या इस दुनिया को किसने बनाया? मैं यहां क्या करने आया हूं? मुझे बनाने वाला या इस दुनिया का सचालन करने वाला कौन है? इस आदिम जिज्ञासा ने हमारे उपनिषदों के रहस्यवाद को जन्म दिया। ग्रीक दर्शन का प्रारम्भ भी इस आदिम जिज्ञासा से हुआ। वस्तुतः सभी देशो और समाजो ने मिथक कथाओं को जन्म दिया। इन मिथक कथाओ को तमाम दर्शनों का उत्स कहा जा सकता है। संसार को भय, आश्चर्य, कुतूहल और सम्मोहन की दृष्टि से देखने पर एक अमूर्त और रहस्यपूर्ण सत्ता की कल्पना मैं

दर्शन का प्रथम उन्मेष होता है। उपनिषदो के ब्रह्म या आत्मन् की खोज इसी का परिणाम थी। ग्रीक दार्शनिको मे आइडिया या प्रत्यय (आदर्श) की कल्पना भी इसी का रूप है। प्रत्येक सवाद, प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक वस्तु मे आइडिया की खोज की गई और उसके सर्वोच्च स्वरूप को ब्रह्म की तरह सत्य, शिव और सुन्दर का मूल स्रोत माना गया। यही कल्पना ईश्वर के रूप मे विकसित हुई। भारत मे इसका विकास विभिन्न अवतारो और उनके अनुरूप बने धार्मिक पंथो मे हुआ। युरोप मे भी ग्रीक आइडिया ईसाई धर्म के ईश्वर के रूप में विकसित हुआ। भारत मे और ईसाई जगत मे ब्रह्म अथवा आइडिया की कल्पना ने धार्मिक सत्ताओं को जन्म दिया। चीन में यह प्रत्यय नैतिक नियम के रूप मे विकसित हुआ।

युरोप मे नवजागरण काल मे ज्ञान का विस्फोट हुआ। विज्ञान के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों मे नई खोजो का क्रम चला। इस ज्ञान का टकराव धार्मिक विश्वासों के साथ हुआ और युरोप का चिन्तन, प्रकृति के रहस्यो, वैज्ञानिक खोजो और मानव-मन की गहराइयो की छानबीन करने की ओर उन्मुख हुआ। अब प्रत्येक क्रिया जगत्-व्यापार और मानव-व्यवहार को शासित-अनुशासित करने वाले अमूर्त प्रत्यय की खोज होने लगी। इससे प्रत्ययवादी चिन्तन का विकास विभिन्न धाराओं मे होने लगा। देकार्त ने गणित के सूत्रों को विज्ञान का आधार बनाया। न्यूटन आदि ने भौतिक विज्ञान के नियमों को जगत के सारे व्यापार और मानव-व्यवहार का नियता बनाने का मार्ग प्रशस्त किया। डार्विन, हर्बर्ट स्पेंसर आदि ने प्राकृतिक नियमों को सर्वव्यापी प्रत्यय के रूप मे देखा। मन की गहराइयों की छानबीन करने वालों में किसी ने प्रसुप्त वासना को, किसी ने इन्द्रियानुभव को, किसी ने भावना या राग को और किसी ने बुद्धि-तर्क को मानव-व्यवहार को अनुशासित करने वाला प्रत्यय माना। डेविड ह्यूम ने बुद्धि, तर्क और विवेक का जो प्रत्यय रखा उसे काट ने चरम परिणति तक पहुचाया, नैतिक-बोध को मानव-व्यवहार का आदर्श बना कर। फ्रायड, युंग, एडलर आदि मनोवैज्ञानिकों ने इस नैतिक आदर्श को अस्वीकार करके प्रसुप्त वासनाओं, जिजीविषा और अभाव की पूर्ति को मानव-व्यवहार का नियंता बनाया। हीगेल ने हिस्टॉरिकल स्पिरिट (इतिहास-चेतना) को भारतीय दर्शनों के ब्रह्म की तरह सर्वोच्च आदर्श मानकर राज्य के रूप में उसकी प्रतिष्ठा की। ग्रीक दार्शनिको (प्लेटो आदि) ने भी आइडिया की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति के रूप मे राज्य (रिपब्लिक) की कल्पना की थी। इस समग्र चिन्तन के आधार पर एक नई सभ्यता का ढाचा तैयार हुआ जिसे पश्चिमी सभ्यता या आधुनिक सभ्यता का नाम दिया गया। इस सभ्यता के अन्तर्गत जिस समाज की रचना हुई, राज्य का जो स्वरूप विकसित हुआ, उसमे जगत-व्यापार और मानव-व्यवहार को शासित करने के लिए अमूर्त्त प्रत्ययो या आदर्शों को ही आधार बनाया गया। विभिन्न प्रत्ययवादियों में आपस मे टकराव जरूर रहे जैसे प्रकृतिवादियों-विज्ञानवादियों का

नैतिकतावादियो या ऐतिहासिक चेतनावादियों के साथ (जिसे यथार्थ और आदर्श का टकराव कहा जाता है जो वास्तव में सही नही है) किन्तु सबकी दृष्टि में एक समानता थी और वह यह कि मानव को नियमो से नियंत्रित किया जा सकता है। किसी ने आध्यात्मिक नियमो को, किसी ने नैतिक नियमो को, किसी ने प्राकृतिक और वैज्ञानिक नियमो को और किसी ने ऐतिहासिक नियमो को मानव का नियंता बनाया। इससे पहले धार्मिक सत्ताओ ने भी धार्मिक या ईश्वरीय नियमों को मानव का नियंता बनाया था। दूसरे शब्दो मे यह सारा चिन्तन और उसकी नीव पर बनी सारी व्यवस्थाएं मानव की स्वतत्रता को मानने के लिए तैयार नही थी। मानव को हर हालत मे कुछ नियमों के, कुछ अमूर्त प्रत्ययों और आदर्शों के अधीन रहकर ही जीना है, यह इस सारे दार्शनिक चिन्तन का सार था। अस्तित्ववाद ने इसके खिलाफ आवाज उठाई और मानव की स्वतत्रता को सर्वोच्च मूल्य के रूप मे प्रतिष्ठित किया। इस दृष्टि से अस्तित्ववाद समूची पश्चिमी सभ्यता के खिलाफ विद्रोह है।

अस्तित्ववाद भारतीय दार्शनिक प्रणाली के काफी निकट है, विशेषकर साख्य दर्शन के। सार्त्र के शब्द en-soi और pour-soi जिनके लिए अग्रेजी मे इन-इट-सेल्फ और फार-इटसेल्फ शब्दो का प्रयोग किया जाता है और जो अस्तित्ववाद के सारे दर्शन का विषय है, साख्य के प्रकृति-पुरुष या सद्-चिद् के पर्याय हैं। साख्य दर्शन ईश्वर की सत्ता को नही मानता हालाकि कुछ लोगो ने (जैसे आर्य समाजियो ने) वितडावाद द्वारा उसमें ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। यह केवल प्रकृति और मानव-चेतना का दर्शन है। अस्तित्ववाद भी केवल इन दो सत्ताओ को स्वीकार करता है। सांख्य मे सृष्टि के सारे कार्य-व्यापार का उद्देश्य पुरुष को बध-मुक्त करना माना गया है जो अस्तित्ववाद के स्वतत्रता के मूल्य के समान है। सांख्य में सृष्टि का क्रम है: सत्त्व, रज, तम गुणयुक्त मूल प्रकृति, महत्तत्व अहकार, दस इद्रियां और मन, पंच तन्मात्राएं और पचमहाभूत। इस क्रम मे अन्त मे पुरुष को रखा गया है। यह क्रम मूल प्रकृति से जो अभेदमूलक और अलिंग प्रकृति भी कहलाती है, मानव-चेतना के सम्पूर्ण विकास तक की यात्रा है। सत्त्व, रज, तम गुण-प्रधान प्रकृति जब तक साम्यावस्था मे रहती है उसमे कोई गति-परिवर्तन नही होता। किन्तु सत्त्व, रज, तम गुणयुक्त अणुओ में क्षोभ से उसमे गतिशीलता आती है और वह निर्माण करने लगती है। इस निर्माण की पहली सीढी पर महत्तत्व प्रकट होता है। इसे कुछ लोग बुद्धि भी कहते है। लेकिन यह वह बुद्धि नही है जो अन्तःकरण के पूर्ण विकास के बाद इंद्रियजन्य ज्ञान को तर्क की कसौटी पर कसती है। यह मात्र जीव-बुद्धि या जीव-चेतना है जो अपने परिवेश के प्रति जागरूक होती है, उसके संवेदनों को ग्रहण करती है। जब यह जीव-बुद्धि या जीव-चेतना अपने परिवेश के साथ द्वंद्व को अनुभव करने लगती है तो वह अपने वुजूद के

प्रति सचेत होती है और अपने को परिवेश से अलग करके देखने लगती है। अपने वुजूद के प्रति जागा यह अहसास ही अहंकार है। यह 'मैं' की भावना है जो उसे परिवेश से अलग करती है। वह परिवेश का निषेध करती है। मैं परिवेश नहीं हूं, मैं जड प्रकृति नही हूं। मैं इससे अलग हू। मैं भोक्ता हू और मेरी प्रकृति मेरी भोग्या है, मेरा औजार है। जब जीव की यह अहकार-चेतना प्रकृति या परिवेश का औजारों के रूप में इस्तेमाल करने लगती है तो इन्द्रियों का विकास होने लगता है क्योकि इन्द्रिया भी औजार है और ये अन्तिम औजार हैं जिसके बिना परिवेश का उपयोग नही किया जा सकता। इन अन्तिम औजारो के संचालन और नियत्रण के लिए मन की जरूरत पडती है अतः मन का विकास होता है। इन्द्रियो और मन का तन्त्र जीव को प्रकृति के शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध के गुणों के प्रति जागरूक बनाता है जिसे पंच तन्मात्रा का बोध कहा जाता है और अन्त में इन पंच-तन्मात्राओ के स्थूल रूप अग्नि, वायु, जल, आकाश और पृथ्वी आदि पंचमहाभूतो के प्रति उसका बोध जागता है। जीव-चेतना के इस विकास की अन्तिम सीढ़ी पुरुष या पूर्ण चेतन मनुष्य है।

सांख्य के इस सृष्टि-क्रम को हमारे लगभग सभी दर्शनो ने स्वीकार किया है। आगे चलकर धार्मिक उपासना पद्धतियों के विकास में भी इस क्रम को स्वीकार किया जाता रहा। यद्यपि उन्होंने प्रकृति और पुरुष की कल्पनाओं को अपने-इष्ट देवताओ के साथ जोड़ लिया। उदाहरण के लिए काश्मीर शैव दर्शन में आदि प्रकृति और आदि पुरुष की कल्पना परम शिव और परम शक्ति में की गई। वैष्णवो ने विष्णु और लक्ष्मी को आदि पुरुष, आदि प्रकृति माना। प्रकृति की साम्यावस्था या प्रलयावस्था को शिव-शक्ति या विष्णु की प्रगाढ़ निद्रा की स्थिति माना और उनके निद्रोन्मेष को प्रकृति की प्रथम हलचल के रूप में लेकर सांख्य के क्रम को दुहराया गया।

स्मरणीय है कि सांख्य का यह सृष्टि-क्रम, सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम नहीं है, यह सृष्टि के प्रकटन का क्रम है। यह प्रकटन मानव-चेतना के समक्ष होता है इसलिए प्रकटन का क्रम मानव-चेतना के विकास का क्रम भी बन जाता है। प्राचीनकाल में कहीं भी सृष्टि की उत्पत्ति का (जिसे वैज्ञानिक प्रक्रिया कहा जा सकता है) वर्णन नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में या तो अलग-अलग देशों में अलग-अलग मिथकों की रचना हुई या उसके प्रकटन की प्रक्रिया का वर्णन हुआ। ज्ञान को भी प्रकटन कहा गया है और सृष्टि-ज्ञान की मीमासा को फिनोमिनोलाजी या प्रकटन-शास्त्र कहा जाता है।

मानव-चेतना का विकास और प्रकृति अथवा सद् के साथ उसका सम्बन्ध अस्तित्ववादियों ने भी लगभग इसी रूप में दिखाया। उसकी इन-इटसेल्फ और फार-इटसेल्फ, (स्वयम्-और स्व के लिए) की कल्पनाएं भारतीय दर्शन की सद् और चिद्

की कल्पनाओं से बहुत हद तक मिलती हैं। हमारे यहां मूल-प्रकृति, अलिंग प्रकृति या प्रधान की जो विशेषताएं बताई गई हैं लगभग वैसी ही विशेषताएं सार्त्र ने en soi या इनइटसेल्फ की गिनाई हैं। उनका pour-soi या फार इटसेल्फ चिद्-शक्ति है और इसके विकास का क्रम भी लगभग वैसा ही है जो सांख्य में दिखाया गया है। सार्त्र का कहना है युग-बिन्दु में किसी एक क्षण में चेतना प्रकट होती है तो वह अपने परिवेश के प्रति जागरूक होकर (महत्तत्व बनकर) अपने को निषेध के द्वारा सद् से पृथक कर लेती है। उसी क्षण में सद् उसका अतीत बन जाता है बल्कि चेतना सद् का निषेध करके उसे अतीत घोषित करती है। एक तरह से चिद् ही सद् की सत्ता स्थापित करता है क्योंकि चिद् के निषेध द्वारा उसकी पहचान होती है, उसे चिद् से भिन्न सद् का नाम मिलता है। चेतना अपने को परिवेश के बीच उस परिवेश से भिन्न स्थिति में पाती है। वह परिवेश से 'नथिंगनेस' के द्वारा पृथकता का अनुभव करती है अब वह कहती है कि यह मैं नहीं हू (नेति नेति)। उसमें 'मैं' के बोध का आगमन होना ही अहकार का उदय है। (सार्त्र अहकार को चेतना की एक अवस्था मानते हैं। उसे स्वतंत्र तत्व नहीं मानते।) इसके बाद चेतना परिवेश को अपने संदर्भ में देखने लगती है, उसे अपने उपयोग की चीज मानने लगती है। वह परिवेश की प्रत्येक वस्तु को अपनी निषेध की शक्ति द्वारा अलग-अलग पहचानने और उसका उपयोग करने की ओर प्रवृत्त होती है। इसके लिए उसे अपनी देह को औजार के रूप में विकसित करना पड़ता है जिस क्रम मे इद्रियों और मन का विकास होता है। इस प्रकार अन्तःकरण के विकास के बाद महाभूतों और उनके सूक्ष्म गुणों को समझने, जानने तथा उपयोग करने में पूर्ण सक्षम मनुष्य बनता है। सार्त्र ने 'बीइंग एण्ड नथिंगनेस' मे अध्यायों का क्रम भी लगभग यही रखा है।

मानव-जीवन के विविध कार्य-व्यापार सद् और चिद् के द्वंद्व परिणाम हैं। सद्, चिद् का अतीत है जो निरन्तर पीछा करता है। चिद् उसकी पकड़ से बचने का प्रयास करता है और अपनी स्वतंत्रता की चेतना से भविष्य की ओर उन्मुख रहता है। चिद् का अस्तित्व भविष्य के लक्ष्य से निर्धारित होता है इसलिए वह अतीत को हमेशा अपने से अलग रखने का प्रयास करता है जिसके लिए वह अपनी निषेध की शक्ति का इस्तेमाल करता है। इस दौड़ में अंतिम विजय सद् की होती है जो अततः चिद् को अपनी गिरफ्त में लेता है। यही मृत्यु है। मानव-चेतना के प्रकट होने और उसके सद् में विलीन होने के बीच की अवधि मनुष्य का जीवन है जिसमें मानव-चेतना, जो स्वभाव से स्वतंत्र अथवा मुक्त है, अपनी स्वतंत्रता की बाधाओं के साथ, निरन्तर संघर्षरत रहती है। यह संघर्ष बहुत यातनापूर्ण होता है अतः स्वतंत्रता उसके लिए अभिशाप बन जाती है और वह इस स्वतंत्रता को जीने के लिए अभिशप्त होती है। स्वतंत्रता की उसकी बाधाएं सद् की उपज होती हैं, परिवेश,

देह, संस्कार या चित्तवृत्तियाँ, अतीत सब सद्रूप हैं जो उसकी स्वतंत्रता में बाधक होते हैं और जिनसे उसे निरन्तर लड़ना पड़ता है। मनुष्य इस संघर्ष से बच नहीं सकता, भाग नहीं सकता, क्योंकि ऐसा करने के प्रयास में उसे अपनी स्वतंत्रता खोनी पड़ती है और यह चिद् के अस्तित्व का नाश होता है। इस प्रकार मनुष्य हमेशा आजादी और गुलामी के तनाव के बीच जीने के लिए अभिशप्त है। यह तनाव इसीलिए भी है कि चिद् नथिंगनेस है, निषेध है और इसका कोई ठोस आधार नहीं है। सद् उसका ठोस आधार हो सकता है लेकिन इस आधार को वह अपना अस्तित्व खोए बिना प्राप्त नहीं कर सकता। वह सद्चिद् बनना चाहता है ताकि उसे सद् का ठोस आधार भी मिले और उसे अपना चिद्, अपनी स्वतंत्रता भी न खोनी पड़े। यह सद्चिद् रूप ईश्वर की कल्पना है, वह ईश्वर बनना चाहता है। किन्तु यह असंभव कल्पना है और इसीलिए हमेशा उसे असम्भव लक्ष्य को प्राप्त करने के तनाव में जीना पड़ता है और इस तनाव की यातना (ऐंगुइश) भोगनी पड़ती है। इस प्रकार मानव जीवन की नियति है निराशा (डिस्पेयर)। इस निराशा को स्वीकार करते हुए और स्वतंत्रता में अपने लक्ष्य के लिए प्रयत्न करते हुए जीना ही सही जीना है। यही उसका सही अस्तित्व है। अस्तित्व-वाद का निराश कर्म गीता का निष्काम कर्म ही है और यही सच्चा कर्म अथवा सृजन है। यह मनुष्य की सर्वोत्तम उपलब्धि है क्योंकि यह उसे सद् के तमाम दबावों से मुक्त करती है, उसे बन्ध-मुक्त करती है।

किन्तु इस साम्य के बावजूद अस्तित्ववाद और हमारी दार्शनिक परम्परा में मौलिक अन्तर है। दोनों में मानव की स्वतंत्रता को सबसे बड़ा मूल्य माना गया। भारतीय दर्शन में इसे मुक्ति या मोक्ष का नाम दिया गया और अस्तित्ववाद ने इसे मानव की स्वतंत्रता कहा। लेकिन भारतीय परम्परा में मुक्ति या मोक्ष को इहलोक से निकाल कर परलोक की वस्तु बना दिया गया। यह इस जीवन में सम्भव नहीं है, जन्म-मरण की अनंत शृंखला को पार करने के बाद किसी काल्पनिक जीवन में ही सम्भव है। इस जीवन में स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए न केवल उसने विशेष प्रयत्न नहीं किया बल्कि इसके विपरीत मूल्य को अपनाया। यदि यह इस जीवन में असम्भव है तो इसके लिए प्रयत्न ही क्यों किया जाए अतः शक्तिशाली के आगे समर्पण को ही बड़ा मूल्य माना गया। क्योंकि इससे सुरक्षा और शांति मिलती है। शक्तिशाली के आगे समर्पण की प्रवृत्ति केवल ईश्वर के आगे अपनी सम्पूर्ण स्वतंत्रता के समर्पण तक सीमित नहीं रही, अत्याचारी शासक, विदेशी हमलावर और डाकुओं-लुटेरों के आगे समर्पण में भी प्रकट हुई। परिणाम-स्वरूप भक्ति आंदोलन और गुलामी का दौर साथ-साथ लगभग दो हजार साल तक चलता रहा। वास्तव में आज भी चल रहा है।

स्वतंत्रता को जीने का मतलब है कष्ट और यातना को भोगने के लिए मन

को तैयार करना। स्वतंत्रता के समर्पण में सुरक्षा, शांति और मन का सकून मिलना है। हम शांति और सकून के लोभ में समझौते करते है। अपनी आजादी की किमत के आगे गिरवी रखते हैं। हम कर्म से बचते है और कर्मकाड के पीछे भागते है। यथार्थ से घबराते है और स्वप्न के मोह मे फसे रहते है। इस जीवन का अपमान करते हैं और मृत्योपरान्त के कल्पित जीवन की झूठी आशा में मन को बहलाए रखते हैं। हम मोक्ष की आशा में अपने बंधनो को प्यार करते है, समता की आशा मे विषमता को जीने मे गर्व अनुभव करते हैं और सत्य को पाने की आशा मे असत्य की पूजा-उपासना मे लगे रहते हैं।

कभी-कभी यह सोचकर आश्चर्य होता है कि इतना अच्छा चिन्तन, इतनी अच्छी ज्ञान-संपदा पास होने पर भी हमारे समाज का यह स्वरूप क्यों बना, कैसे बना? हमारा दार्शनिक चिन्तन ग्रीक या युरोपीय देशों के दार्शनिक चिन्तन से किसी भी रूप मे कम नही था। क्या वजह है कि जहां ग्रीक-युरोप के दार्शनिक चिन्तन ने एक कर्मठ, गतिशील और वर्धिष्णु समाज का निर्माण किया, हम गतिशीलता से जड़ता की ओर बढ़ते गए?

एक बार मैंने इस प्रश्न को लेख के माध्यम से हिन्दी दैनिक 'नवभारत टाइम्स' मे उठाने की कोशिश की (देखें पहला लेख)। लेख तो उस पत्र में नही छपा लेकिन पत्र के सम्पादक डॉ० विद्यानिवास मिश्र ने 18 लेखों की एक लेखमाला अपने पत्र मे प्रकाशित कर दी जिसमें भारतीय चिन्तन और भारतीय संस्कृति का विशद विवेचन किया गया था। अर्वाचीन और प्राचीन भारतीय साहित्य के मर्मज्ञ और उच्चकोटि के लेखक की कलम से निकले ये लेख निश्चय ही भारतीय सस्कृति का एक मनोहारी चित्र प्रस्तुत करते हैं। सहज और लालित्यपूर्ण शैली के कारण ये लेख पाठक को सम्मोहन में बाधने की क्षमता रखते हैं। इनसे भारतीय सस्कृति और भारतीय जीवन के अनेक अनबूझे और अनचीन्हे पहलुओ पर प्रकाश पडता है किन्तु यह प्रश्न अनुत्तरित बना रहता है कि इतनी अच्छी विचार-सम्पदा के होते हुए हमारे समाज का पतन क्यो हुआ? अन्तिम लेख मे उन्होंने स्वीकार किया कि आदर्शों के अनुरूप समाज नहीं बना और इसके उत्तर को उन्होने प्रत्येक व्यक्ति के विवेक पर छोड़ दिया। मुझे लगता है कि भारत मे विचार का उपयोग समाज के निर्माण में नहीं किया गया। इसका उपयोग व्यक्तिगत साधना मे अधिक हुआ। अपने-अपने लिए मोक्ष या बन्ध-मुक्ति की तलाश मे समर्थ व्यक्ति दैवी शक्तियों और सिद्धियों के बल पर शिव, विष्णु, सिद्ध, तथागत और अर्हंत बनने का प्रयास करते रहे। शक्ति को जगाकर शिव बनने की साधना ने तो अनेक वामाचारो को जन्म दिया। कृष्ण-राधामय या राम-सीतामय होने के लिए भक्ति का ऐसा ज्वार उठा कि सामाजिक निर्माण के सारे काम उपेक्षित हो गए। भिक्षुओ भिक्षुणियो सिद्धों-साधुवों और साध्वियों पडे-पुजारियों के परजीवी हुजूम समाज

की निर्माण-शक्ति का क्षय करने लगे । जन्म-आधारित वर्ण-व्यवस्था ने वैसे ही समाज को जातियों के हजारों बन्द कपाटों में बांट रखा था । इन सब कारणों से समाज दुर्बल और क्षीण होता गया और उसे लम्बी गुलामी झेलनी पड़ी ।

इस समाज का पुनर्निर्माण अब अतीत की विचार-सम्पदा के आधार पर नहीं हो सकता भले ही यह कितनी ही बहुमूल्य रही हो । अतीत को पुनर्जीवित करना असम्भव कार्य है । हमें नये सिरे से सोच शुरू करनी होगी । इसमें हमारी बहुमूल्य विरासत सहायक हो सकती है लेकिन केवल विरासत के भरोसे ही पुनर्निर्माण का सपना पालना मूर्खता होगी । स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हमने इस दिशा में कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया । हमने पश्चिमी सभ्यता के अनुकरण में ही अधिक शक्ति लगाई है जो अब अस्ताचल की ओर बढ़ रही है । हमारे जिन चिन्तकों ने इस सभ्यता के क्षय का पूर्वानुमान लगाकर एक नए समाज की रचना के सम्बन्ध में सोचा उनकी हमने प्रमादवश उपेक्षा की किन्तु पश्चिम के विद्वान समाजशास्त्री जो एक नई सभ्यता और नई समाज-व्यवस्था के लिए चिन्तित हैं, भारत के इन मनीषियों की ओर देख रहे हैं । ये मनीषी हैं महात्मा गांधी और राममनोहर लोहिया । नई सभ्यता के निर्माण के लिए अस्तित्ववाद से भी बहुत-सी बातें ग्रहण करनी होंगी क्योंकि अस्तित्ववाद पश्चिमी सभ्यता के खिलाफ विद्रोह से निकला है । लेकिन अस्तित्ववाद एक स्थान पर आकर ठहर गया दर्शन नहीं है । यह निरन्तर गतिशील दर्शन है । यह मानव-चेतना का दर्शन है जिसका धर्म रुकना या ठहरना नहीं निरन्तर पारगमन करना है । अतः अस्तित्ववाद से परे देखने की जरूरत है ।

सामाजिक-राजनैतिक संदर्भ

(नया समाज)

अस्तित्ववाद की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह मानव-स्वतंत्रता को सबसे बडा मूल्य मानता है और इसके आगे तमाम नैतिक-सामाजिक-राजनैतिक और धार्मिक मूल्यो को गौण मानता है। उसकी इस विशेषता के कारण ही इसे उन लोगों द्वारा नकारात्मक और विध्वंसात्मक दर्शन कहा गया जिनकी चिंता व्यक्तिगत नैतिकता, सामाजिक और राजनैतिक कर्तव्य-बोध तथा धार्मिक मूल्यो के रक्षण-पोषण की रही है। अस्तित्ववाद अन्य सभी मूल्यों को मानव-स्वतंत्रता से प्रवाहित होने वाले मानता है, उन्हें मानव-स्वतंत्रता के अधीन मानता है जबकि अन्य विचारधाराए स्वतंत्रता को अन्य मूल्यो के अधीन बनाए रखने के लिए प्रयत्नशील रही हैं।

इस दृष्टि से अस्तित्ववाद भारतीय चिंतन के बहुत अधिक निकट है जिसमे मोक्ष या मुक्ति को परम पुरुषार्थ कहा गया और उसे धर्म, अर्थ, काम की सभी मानव-गतिविधियों का लक्ष्य कहा गया। मोक्ष या मुक्ति परम स्वतंत्रता की कल्पना है किन्तु उसे इस जीवन में संभव अथवा प्राप्य नही माना गया। यह कल्पना की गई कि जन्म-मरण की अनंत शृंखला के बाद मन की साधना से या ईश्वर-भक्ति से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु यह स्थिति एक प्राक्कल्पना ही है, एक विश्वास ही है जिसे निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह प्राक्कल्पना कई और प्राक्कल्पनाओं पर निर्भर है जैसे आत्मा नाम की किसी अनश्वर चीज की कल्पना जो मरने के बाद दूसरी देह धारण करती है, ईश्वर या ब्रह्म नाम की किसी सर्व-शक्तिमान शक्ति की कल्पना जिसके सन्निध्य से अथवा जिसमे एकाकार होने जाने से मुक्ति संभव होती है। ये सहायक प्राक्कल्पनाए भी मात्र विश्वास हैं तथा इन्हे सिद्ध नही किया जा सकता। इस प्रकार भारतीय दार्शनिक चिंतन के अनुसार मानव की पूर्ण स्वतंत्रता महज विश्वास एवं आस्था की चीज है, -कुसुम है अथवा ग़ालिब के शब्दों में दिल को बहलाने के लिए

एक अच्छा खयाल भर है। प्रत्यक्ष जीवन मे तो स्वतंत्रता का लगभग निषेध है।

अस्तित्ववाद की स्वतंत्रता एक ठोस वस्तु है, वास्तविक अहसास है जिसे जीवन के प्रत्येक क्षण में महसूस किया जा सकता है और जिया जा सकता है। कम-से-कम इसकी पीडा को, यातना को, तो मनुष्य भोगता ही है। लेकिन यह स्वतंत्रता सरसरी तौर पर देखने पर कुल मिलाकर नकारात्मक मूल्य है। इसकी तलाश का अंत निराशा या डिस्पेयर है। निराशा जीवन मे प्रवृत्त करने वाला भाव नही, उससे विमुख करने वाला भाव है। निराशा की चरम सीमा का क्षण मृत्यु का क्षण होता है जिसमे स्वतंत्रता के लिए निरंतर व्याकुल मानव-चेतना हार जाती है और अपनी सारी कोशिशों को त्याग देती है। जीवन का अंत मृत्यु को सामने पाकर एक भयावह सन्त्रास (ड्रेड) में होता है जिसमें मानव-चेतना को अपनी शून्यता का (नथिंगनेस) का बोध होता है। मृत्यु के भय (भारतीय शब्दा-वली मे अभिनिवेश) से मुक्ति अस्तित्ववाद के अनुसार संभव नही है। मृत्यु अटल है, अनिवार्य है इसे तो हर विचारधारा स्वीकार करती है, प्रत्येक मनुष्य भी इसे स्वीकार करता है। किन्तु मनुष्य हमेशा यह स्वप्न पाले रहता है कि वह एक दिन मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेगा, वह अमर हो जायेगा। कम से कम अभी नही मरेगा जैसा कि युधिष्ठिर ने एक यक्ष प्रश्न के उत्तर मे कहा अथवा हाइडेगर ने कहा कि आदमी फल जैसी पकने की स्थिति मे अवसर अपने को नही पाता। भारतीय मोक्ष या मुक्ति की कल्पना मे अमरता का विश्वास निहित है। इस विश्वास ने (भले ही यह झूठ-मूठ का हो) मनुष्य को मृत्यु के भय को झेलने की शक्ति दी है। किन्तु अस्तित्ववाद से यह झूठमूठ का आश्वासन भी नही मिलता। यदि जीवन मृत्यु के अंधकारपूर्ण विवर की ओर बढ़ने का ही नाम है तो आदमी मे जीने की इच्छा क्यों होती है ?

अस्तित्ववाद में यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है। इसी विरोधाभास मे परा-जित होकर किर्केगार्द अंत मे ईश्वर की गोद मे अंधी छलांग लगाने के लिए कहता है। हाइडेगर ने प्रामाणिक (सही) जीवन द्वारा मृत्यु को सहजभाव मे स्वीकार किए जाने की संभावना अवश्य व्यक्त की किन्तु कुल मिलाकर अस्तित्ववाद इस गुत्थी को नही सुलझा पाता कि निराशा आदमी को जीवन की प्रवृत्ति की ओर कैसे ले जाएगी।

सार्त्र आदि सभी अस्तित्ववादियो ने (गैब्रियल मार्सेल को छोड़कर) निराशा को मानव-जीवन मे अनिवार्य माना है। यह बौद्धो के दु:खवाद के समान है। सार्त्र ने निराश कर्म को सर्वोत्तम कर्म (सृजन) कहा। यह गीता के निष्काम कर्म की स्थिति से भी एक कदम आगे की स्थिति है क्योकि गीता मे उस कर्म के फल की किसी न किसी रूप मे व्यवस्था की गई है। यह फल या तो ईश्वर देता है या कर्म-फल के नियम के अनुसार स्वयं मिलता है। अस्तित्ववादियो का निराश कर्म

शुद्ध निराश कर्म है। डॉ० लोहिया के निराशा के कर्त्तव्य की तरह यह काम यह मानकर किया जाता है कि मुझे फल नहीं मिलेगा, मैं सफल नही हूंगा। इस स्थिति के लिए अपने आपको तैयार करना बहुत कठिन साधना है। यह हर मनुष्य के बस की बात नही है। अतः इसे सामान्य जीवन के लिए व्यावहारिक नही कहा जा सकता। किन्तु यह कहा जा सकता है कि सृजन भी हर एक मनुष्य के बस की बात नही है। सही मायनो मे सर्जक बिरले ही व्यक्ति होते हैं और सृजन भले ही निराशा तथा भयकर यातना से जन्म ले, अततः वह सर्जक के लिए अपूर्व आनद-दायक होता है। इसे सुख की सज्ञा तो नही दी जा सकती किन्तु उसके आनद-दायक अथवा तृप्तिदायक स्वरूप से कैसे इन्कार किया जा सकता है? अतः यह जीवन के प्रति विरति पैदा करने वाला कर्म नही हो सकता। इस प्रकार अस्तित्व-वाद सर्वोत्तम व्यक्ति के सर्वोत्तम कर्म (सृजन) का दर्शन है। निश्चय ही यह आम आदमी की पहुच से बाहर है। किन्तु दुनिया के सभी दर्शन सर्वोत्तम लक्ष्य को ही निर्धारित करते हैं। आम जीवन और सृजनात्मक जीवन में हमेशा अतर रहता है, बल्कि विरोध रहता है, जैसाकि हाइडेगर ने कहा कि आम आदमी केवल कामचलाऊ प्रवृत्ति का होता है, रुटीन मे बँधा हुआ। दर्शन उसकी मजिल तय करता है जिसकी ओर बढ़ने का वह कभी भी निश्चय कर सकता है। अस्तित्व-वाद व्यक्ति को सृजनोन्मुख बनाने वाला दर्शन है, अतः इसे नकारात्मक दर्शन नही कहा जा सकता।

किन्तु अस्तित्ववाद मात्र व्यक्तिवादी दर्शन नही है जैसा कि आमतौर पर माना जाता है। यह वर्त्तमान सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्थाओ को त्रुटिपूर्ण मानता है इस मायने में कि ये व्यवस्थाए अनिवार्यतः व्यक्ति-स्वातत्र्य को कुचलती हैं। किन्तु वह समाज-विरोधी दर्शन नहीं है। वह एक बेहतर समाज की तलाश करता है। इस संदर्भ में सार्त्र के निम्ननिखित शब्द द्रष्टव्य हैं जो उनकी पुस्तक 'ऐक्जिस्टेंशियलिज्म एंड ह्यूमैनिज्म' मे लिए गए हैं :

> "अस्तित्ववाद महज व्यक्तिवाद नहीं है। इसमें सारी मानवता की चिन्ता अतर्निहित है। मानसिक पीड़ा (ऐंगुइश) हमे कर्म से जुदा नही करती, बल्कि यह कर्म की मूल शर्त है। प्रत्येक व्यक्ति के साथ जो कुछ घटता है वह सारी मानवता को प्रभावित करता है गोया सारी मानवता की नजरें इस बात पर लगी रहती हैं कि वह व्यक्ति क्या करता है और कैसे जीता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने से यह प्रश्न करना चाहिए कि क्या वह इस तरह अपने लक्ष्य को चुन सकता है कि सारी मानवता के लिए वह कर्म उपयोगी हो। यदि आदमी ऐसा नही करता तो वह अपनी दुश्चिता या मानसिक पीड़ा को व्यर्थ गँवाता है।"

अस्तित्ववाद को समाजोन्मुख दर्शन बनानेवाला सबसे महत्वपूर्ण सिद्धांत अन्य पुरुष का सिद्धांत है। व्यक्ति का अस्तित्व दूसरे व्यक्ति के अस्तित्व पर निर्भर होता है। दूसरे व्यक्ति (अन्य पुरुष) की सहायता से मनुष्य को अपने अस्तित्व का बोध होता है। व्यक्ति अपने को वस्तुगत रूप में नहीं जान सकता। वह अपने उस रूप को अन्य पुरुष के माध्यम से ही जान सकता है। मैं क्या हूं, कैसा हूं, सुंदर हूं या असुंदर हूँ, भला हूं या बुरा हूं, उपयोगी हूँ या अनुपयोगी हूं इस बात का निर्णय मैं खुद नहीं कर सकता। अपने बारे में मैं खुद जो कहता या मानता हूं उसका कोई महत्व नहीं होता, मेरे लिए भी नहीं। महत्व इस बात का होता है कि दूसरा मेरे बारे मे क्या कहता है, क्या सोचता है। मेरे मन में हमेशा यह जानने की इच्छा रहती है कि दूसरों की नजर में मैं क्या हूँ। विषयि के रूप मे मैं खुद अपना विषय नहीं बन सकता किन्तु दूसरे विषयि की नजरों का विषय बन सकता हूं। मैं अपने को विषय के रूप में जानना चाहता हूँ (यह जाने बिना मैं अपने सम्पूर्ण अस्तित्व को नहीं प्राप्त कर सकता) अतः मैं किसी का विषय बनना चाहता हूँ। मेरी यह चाह प्रेम किए जाने की चाह है। किसी का प्रिय बनकर मैं किसी का विषय बनता हूँ फिर मैं प्रेम करने वाले को अपना विषय बनाकर (उससे प्रेम करके) उसके हृदय में बसी अपने विषय रूप की छवि को पाना चाहता हूँ। प्रेम सबसे शक्तिशाली सामाजिक भाव है। सार्त्र जैसे अस्तित्ववादियों के मतानुसार प्रेम का लक्ष्य रति-क्रीड़ा या संभोग नहीं है (संभोग तो प्रेम का विनाश है), प्रेम का लक्ष्य अपने को वस्तु रूप, विषय रूप, मे जानना और प्राप्त करना है।

सार्त्र के अनुसार अन्य पुरुष के साथ संबंध की दो प्रकार की परिणतियाँ होती हैं। अन्य पुरुष को विषयि के रूप में ग्रहण करने पर प्रेम, भाषा और आत्मपीड़ा रति में व्यक्ति की परिणति हो सकती है और अन्य पुरुष को विषय के रूप में ग्रहण करने पर उपेक्षा, वासना या चाह, घृणा और परपीड़ारति में व्यक्ति की प्रवृत्ति हो सकती है। मानव जीवन के ये सारे स्थायी भाव अन्य पुरुष के अस्तित्व पर ही निर्भर हैं और ये सभी व्यक्ति को सामाजिक बनाते हैं। अतः अस्तित्ववाद मूलतः समाजोन्मुख दर्शन है।

सांख्य दर्शन की तरह अस्तित्ववाद में भी पुरुषों की बहुलता को स्वीकार किया गया है। इन्हें अस्तित्ववाद मे 'सब्जेक्टिविटीज' कहा गया है। मानव जाति असंख्य मानवों का समूह है। ये मानव विषयि भी हैं और दूसरे के विषय भी। इनके बीच जो विषयि-विषय द्वंद्व चलता है वही मानव समाज की विविध गतिविधियों को जन्म देता है।

लेकिन यह सच है कि इस स्पष्ट समाजोन्मुख चेतना के बावजूद अस्तित्ववाद नये समाज की रचना के लिए कोई रूपरेखा नहीं दे पाया। इसका एक कारण तो संभवतः यह है कि अस्तित्ववाद मूलतः साहित्य-कला के क्षेत्र का आंदोलन रहा

और वह क्षेत्र व्यक्तिगत लड़ाई का क्षेत्र होता है। साहित्य व्यक्ति के सृजनात्मक क्षणों की चीज होता है। झुंड बांधकर या पार्टी बनाकर साहित्य की रचना नहीं होती। हालांकि अस्तित्ववादी दार्शनिक और लेखक अपने समय की राजनैतिक और सामाजिक गतिविधियों के साथ जुड़े रहे, उन्हें अपने विचारों का सामाजिक-राजनैतिक संदर्भों में व्यावहारिक प्रयोग करने का अवसर बहुत कम मिला। केवल दूसरे विश्वयुद्ध में जब नाजी सेनाओं ने फ्रांस को अपने कब्जे में ले लिया तो सार्त्र आदि अस्तित्ववादियों ने स्वतंत्रता की रक्षा के लिए प्रतिरोध (रिज़िस्टेंस) का आदोलन चलाया। उनकी सहानुभूति वामपंथ की ओर रही किन्तु स्टालिन द्वारा अपने देश में मानव-स्वतंत्रता के क्रूर दमन के बाद अस्तित्ववादियों का साम्यवाद से मोहभग हो गया। पूंजीवादी व्यवस्था की स्वतंत्रता भी आर्थिक शोषण के कारण उनकी नजरों में अधूरी स्वतंत्रता थी। अतः उनका झुकाव लोकतांत्रिक समाजवाद (डेमोक्रेटिक सोशलिज्म) की ओर रहा अर्थात् वे मध्यमार्गी रहे। कभी उन्हें नव-मार्क्सवादी कहा गया, कभी समाजवादी। सार्त्र ने 'हम विषयि' और 'हम विषय' के रूप में हाइडेगर की 'मित्सिन' की कल्पना का (जो सांख्य की अनेक पुरुषवाद की कल्पना के तुल्य है) विवेचन किया और वर्ग-संघर्ष की रूपरेखा देने की कोशिश अवश्य की। किन्तु यह उनके चिन्तन का मुख्य सरोकार नहीं बना। राजनैतिक कार्रवाई में उनका झुकाव साम्यवाद की ओर रहा यद्यपि साम्यवादियों ने उन्हें नहीं स्वीकारा और उनका बहुत विरोध किया। उनके कुछ दूसरे साथी साम्यवाद से काफी दूर चले गये और इसकी वजह से प्रतिरोध आंदोलन में दरार भी आ गई। युरोप के साम्यवादियों पर जब भी हमले हुए सार्त्र साम्यवादियों के समर्थन में खड़े हुए। कामू साम्यवादी व्यवस्था के मुखर विरोधी हो गए। अपने उपन्यास 'विद्रोही' में उन्होंने बताया कि क्रांति की सीमाओं को लांघने की कोशिशों का अंत हमेशा ही हत्याओं को उचित ठहराने और तानाशाही में होता है। उन्होंने कहा सभी विद्रोहों और क्रांतियों ने पुलिस-राज को ही जन्म दिया है। कामू ने मार्क्सवाद की डटकर आलोचना की। उनका विचार था मार्क्स ने अपनी भविष्य-वाणी के विपरीत हुए परिवर्तनों को नजरअंदाज किया अत. मार्क्सवाद विज्ञान नहीं रहा, धर्म बन गया जो विरोधी विचारवालों को दंड देता था। कामू ने जीवन के बेतुकेपन से लड़ने के लिए विद्रोह को एकमात्र रास्ता बताया किन्तु उनका कहना था कि विद्रोह को हिंसा-अहिंसा, स्वतंत्रता-न्याय के विरोधाभासों को सुलझाना होगा। उन्होंने स्पष्ट मत व्यक्त किया कि हिंसा विद्रोह की भावना को खत्म करती है क्योंकि यह व्यवस्था-चालित होती है और वह इतिहास के दूरगामी लक्ष्य के लिए व्यक्ति को मात्र वस्तु बना देती है।

सार्त्र ने मार्क्सवाद का इस तरह खुलकर विरोध नहीं किया। किन्तु वे मार्क्स के सभी सिद्धान्तों को मानने के लिए तैयार नहीं थे वयस्क को वे

ठोस सामाजिक सम्बन्धों (उत्पादन-सम्बन्धों) की मूल अभिव्यक्ति मानते थे। वे मार्क्स के अनुसार उत्पादन-सम्बन्धों को ही मानव-मानव के बीच एक मात्र सम्बन्ध मानने को तैयार नहीं थे। उनका कहना था कि 'सुपरस्ट्रक्चर' (ऊपरी ढाँचा) के सम्बन्ध में मार्क्स ने अच्छा काम किया लेकिन यह कल्पना बिल्कुल गलत है क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच प्राथमिक सम्बन्ध कुछ और होता है और उसी का हमें पता लगाना है। ये बातें उन्होंने बेनी लेवी के साथ हुई बातचीत में कही थी जिसमें 'बन्धुता' की कल्पना पर विचार किया जा रहा था। (देखें परिशिष्ट-एक)।

सार्त्र ने 'सर्च फार मेथड' में अपनी कल्पना के समाज की रूपरेखा देने की कोशिश की किन्तु इस प्रयास को उन्होंने बीच में ही छोड़ दिया। इसी प्रकार अल्जीरिया की हिंसक क्रान्ति के दिनों में उन्होंने क्रान्ति का समर्थन किया और यह सिद्धान्त रखा कि समान (मुश्तरिका) शत्रु के खिलाफ हिंसा की भावना भी बन्धुता या भाईचारे को जन्म दे सकती है लेकिन बाद मे उन्होंने अपने इस विचार को भी छोड़ दिया।

दार्शनिक के रूप मे अस्तित्ववादी, हिंसा को किसी भी रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। मानव-स्वतन्त्रता को सबसे बड़ा मूल्य मानने वाला जीने की स्वतन्त्रता के छीने जाने का समर्थन कैसे कर सकता है? सार्त्र हिंसा का प्रेरक घृणा को मानते हैं। उनका कहना है कि मानव चेतना अन्य पुरुष से (दूसरों के साथ) एकात्मता के लक्ष्य को बिल्कुल छोड़ देती है तो वह घृणा के रूप में 'अन्य' की मृत्यु को अपना लक्ष्य बनाती है। किन्तु घृणा (या हिंसा) अन्य के सन्दर्भ मे चलने वाले विषयि-विषय द्वंद्व से निजात नही दिलाती। यह इस द्वन्द्व से निकलने का अन्तिम प्रयास, हताश प्रयास है। इस प्रयास के विफल होने के बाद मानव-चेतना के पास विषयि-विषय के द्वन्द्व-चक्र मे कभी-इधर, कभी-उधर भटकने के सिवा कोई चारा नही रह जाता।

सार्त्र की साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि बिल्कुल स्पष्ट रही किन्तु राजनैतिक दृष्टि के मामले मे वे हमेशा व्यामोह-ग्रस्त रहे। वे यह निर्णय नहीं कर पाए कि वर्तमान व्यवस्थाओं के विरोधाभासों का समाधान कैसे होगा।

शुरू में अपने ग्रुप के लिए सार्त्र आदि ने मार्क्स और प्राऊधन के सिद्धान्तों पर आधारित युटोपियन दृष्टि से 120 धाराओं का एक संविधान बनाया किन्तु इसे गम्भीरता से नही लिया गया और इसे लगभग भुला दिया गया। अपने निबन्ध '1947 मे लेखक की स्थिति' में अलबत्ता सार्त्र ने अपने साथी लेखकों से कहा कि वे उन पार्टियों से अलग रहे जो समाजवाद को निरपेक्ष अन्तिम लक्ष्य मानती हैं। हमारी नजर मे समाजवाद अन्तिम लक्ष्य नही, अन्तिम लक्ष्य की शुरुआत है अर्थात् अन्तिम लक्ष्य है मानव को उसकी स्वतन्त्रता दिलाना। हम न तो साधन से साध्य

को परखेंगे, न साध्य से साधन को। हम साध्य और साधन की सश्लिष्ट एकता को लेकर चलेंगे।

अस्तित्ववादी विचार का सामाजिक और राजनैतिक प्रयोग बहुत कठिन और जोखिम-भरा है। नीत्शे ने मानव-मूल्यों का स्वामी के मूल्यों और दास के मूल्यो मे जो विभाजन किया उसका उद्देश्य हिटलर के नाजीवाद जैसी क्रूर व्यवस्था का निर्माण करना नही था। नीत्शे का कहना था कि दास नैतिकता को मान्यता प्रदान करने मे धार्मिक सत्ता का विशेष हाथ रहा है और चूँकि ईश्वर की मृत्यु के बाद धार्मिक सत्ता कमजोर होगी, दास नैतिकता वाले लोग राज्य की ओर उन्मुख होगे। इस स्थिति में शक्तिशाली लोग ईसाइयत के बन्धनो मे अपने को मुक्त कर लेंगे। उन्हे नए स्वामी की आवश्यकता होगी जो उन्हें सुपरमैन (अति-मानव) के रूप मे मिलेगा। उनका सुपरमैन जरथुश्त्र था जो पाशविक और आत्म-घाती प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण प्राप्त करने वाला 'इन्द्रजित' था। किन्तु नाजियो ने नीत्शे का मनमाना अर्थ लगाकर सुपरमैन की जगह एक शैतान पैदा कर दिया।

सार्त्र के अनुसार कर्म का मतलब है अपने अभाव (लैक) को जानकर अपनी स्वतन्त्र इच्छा का प्रयोग करते हुए दुनिया को नया रूप देने का प्रयास। उन्होंने कहा : "जब तक आदमी ऐतिहासिक स्थितियो के बीच डूबा होता है वह उस राजनैतिक अथवा आर्थिक स्थितियो की कमियो को नही देख पाता अतः उन स्थितियो मे रहते हुए वह उन्हें बदलने का प्रयास नही कर पाता। यह सिर्फ इस-लिए नही कि वह उन स्थितियों मे जीने का आदी हो जाता है बल्कि इसलिए भी कि उसे लगता है कि यही उसके जीने की समग्र स्थितियाँ है और इनके बिना वह अपना अस्तित्व बनाए नही रख सकता। जिस दिन हम एक नई व्यवस्था की कल्पना करते हैं, उसी दिन से हमारी समस्याएँ एक नई रोशनी मे प्रकट होती हैं और हम फैसला करते हैं कि ये स्थितियाँ असह्य हैं।" इसी प्रसग में आगे चलकर वे कहते हैं : "सगठित मजदूर अपने कष्टों को स्वाभाविक मानता है जिन्हे वह दूर भी करना चाहता है। किन्तु जब तक वह अपने को इन सगठनो से काट कर अलग नही करेगा तब तक अपने कष्टो को असह्य रूप देकर क्रातिकारी कदम के लिए तैयार नही हो पाएगा।"

अस्तित्ववादी वर्तमान पश्चिमी सभ्यता के स्थान पर (जिसके खिलाफ उन्होने वैचारिक विद्रोह किया) एक नई सभ्यता, नई व्यवस्था की कल्पना नही कर सके इसका एक कारण यह भी रहा कि वे उसी सभ्यता में पले-बढे थे और उसकी कमियो को स्पष्ट रूप से देखना-पकड़ना उनकी क्षमता से बाहर था। डॉ० राममनोहर लोहिया ने भी एक स्थान पर कहा है कि "जो लोग एक विशेष प्रकार की जीवन-शैली के आदी हो जाते है उनके लिए अपनी जीवन-शैली मे परिवर्तन करना बहुत मुश्किल होता है अत पश्चिमी सभ्यता के स्थान पर नई

सभ्यता के निर्माण में तीसरी दुनिया के देशों की विशेष भूमिका होगी।"

पश्चिमी सभ्यता का यह विकल्प देने का काम महात्मा गांधी ने किया जिसे डॉ० राममनोहर लोहिया ने परिमार्जित करने का प्रयास किया।

महात्मा गांधी पश्चिमी सभ्यता की उपज नहीं थे। वे इस सभ्यता को अन्य पुरुष के रूप में तटस्थ दृष्टि से देख सकते थे। इसलिए उन्होंने इस सभ्यता की त्रुटियों को सदी के शुरू में ही पहचाना और इसका संकेत उन्होंने 1909 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'हिन्द स्वराज' में दिया। इस पुस्तक के अनेक संस्करण हुए किन्तु गांधी ने इस पुस्तक में दी गई अपनी धारणाओं में संशोधन करने की आवश्यकता नहीं समझी। उनके विचार उत्तरोत्तर स्पष्ट होते गए और इस सभ्यता की त्रुटियों के बारे में उनकी धारणाएँ अधिकाधिक मजबूत होती गईं। उन्होंने इस सभ्यता की मूल अवधारणाओं के स्थान पर अपनी अवधारणाएँ रखी और इस तरह एक नई सभ्यता, नई व्यवस्था की रूपरेखा विश्व के समक्ष प्रस्तुत की। उन्होंने पश्चिमी सभ्यता का विरोध मुख्यरूप से इन कारणों से किया .

(1) **पश्चिमी सभ्यता के हिंसात्मक साधन** जिसके विकल्प के रूप में उन्होंने सत्याग्रह, असहयोग, सविनय अवज्ञा और 'करो या मरो' के अहिंसात्मक साधनों से मानव-जाति को हिंसात्मक शक्ति से चलने वाली व्यवस्था से निजात दिलाने का विचार रखा।

(2) **पश्चिमी सभ्यता की विकास की कल्पना** जिसमें प्रकृति का विनाश निहित है, जिसमें बड़े-बड़े कारखानों के उत्पादन से कुछ लोगों को समृद्धि और बहुसंख्यक जनता को निर्धनता और बेरोजगारी मिलती है और जिसमें मनुष्य की सृजनात्मकता का क्षय होता है तथा आदमी कल-पुर्जा बन जाता है। इसके विकल्प मे उन्होंने हाथ के श्रम को प्रतिष्ठा दी और ग्राम तथा कुटीर उद्योगों पर जोर दिया।

(3) **पश्चिमी सभ्यता की आर्थिक कल्पना** जिसमे बाजार के लिए किए गए उत्पादन को ही उत्पादन माना जाता है, अपने उपयोग के लिए किए गए उत्पादन को नहीं। गांधी जी ने स्वावलंबन और आत्म-निर्भरता की कल्पना रखकर यह विचार दिया कि अपने लिए किया गया उत्पादन भी उत्पादन है और उस उत्पादन को शामिल किए बिना राष्ट्रीय उत्पादन और राष्ट्रीय आय की पश्चिमी कल्पना गलत है। उन्होंने सतत बढ़ती जरूरतों और सतत बढ़ते उपभोग-स्तर को सभ्यता का मापदण्ड मानने से भी इन्कार किया और जरूरतों को कम करने तथा सादगी का जीवन जीने पर जोर दिया।

(4) **पश्चिमी सभ्यता की शक्ति की धारणा** जिसमें शस्त्र-बल को ही बल माना जाता है और जिसमें यह माना जाता है कि शक्तिशाली को ही जिन्दा रहने का अधिकार है। इसके विकल्प मे उन्होंने निर्बल के जिन्दा रहने के अधिकार

को प्राथमिकता दी और अहिंसात्मक हथियारों से निर्बल की निर्बलता को महान शक्ति में बदल दिया। शक्ति की धारणा का ही एक पहलू है होड़ या प्रतियोगिता। गांधी जी ने प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग पर जोर दिया।

(5) पाश्चात्य सभ्यता की केन्द्र-अभिमुख लोकतान्त्रिक व्यवस्था जिसके स्थान पर उन्होंने जन-अभिमुख लोकतन्त्र की कल्पना रखी और राजकीय प्रयासों से अधिक जनता के सामूहिक प्रयासों को महत्त्व दिया। उन्होंने उच्चवर्गों की समृद्धि और उस पर आधारित प्रतिव्यक्ति आय या खपत को राष्ट्रीय समृद्धि का पैमाना न मान कर दरिद्रनारायण या सबसे नीचे के आदमी की स्थिति को राष्ट्रीय समृद्धि का पैमाना बनाया।

(6) गांधी ने साध्य और साधन की एकता की शर्त रखी। उनका कहना था कि साध्य की सिद्धि में साधनों का औचित्य सिद्ध नहीं होता है। बुरे साधनों से प्राप्त किया गया लक्ष्य भी भ्रष्ट होता है। हिंसात्मक साधनों से शांति का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता। युद्धों से विश्व-शांति स्थापित नहीं हो सकती। चोरी और बेईमानी से अर्जित धन से कोई अच्छा काम नहीं हो सकता, विकास नहीं हो सकता। मानव के स्वत्व का हरण करने वाली टेक्नोलाजी से मानव का उत्कर्ष नहीं हो सकता। पश्चिमी विचार आमतौर पर यह मानकर चला कि साध्य से साधनों का औचित्य सिद्ध होता है। इस विचार के अन्तर्गत शक्तिशाली राज्य (हीगेल की निरपेक्ष कल्पना) और वर्गहीन समाज (मार्क्स की कल्पना) के साध्य के लिए मानव-हत्याओं का भी औचित्य माना गया।

(7) मानव और प्रकृति के बीच सम्बन्ध : बेकन के समय से लेकर ही पश्चिम में मानव और प्रकृति के बीच शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध की कल्पना की गई और मानव-ज्ञान का लक्ष्य प्रकृति पर वर्चस्व प्राप्त करना माना गया। गांधी ने प्रकृति के साथ साहचर्य सम्बन्ध पर जोर दिया और प्रकृति के साथ तालमेल के जीवन को आवश्यक बताया।

गांधी जी के बाद डॉ० राममनोहर लोहिया ने दृढ़ आस्था के साथ इन विचारों को आगे बढ़ाया। उन्होंने समाजवादी पार्टी के विभिन्न कार्यक्रमों में इन अवधारणाओं को व्यावहारिक स्वरूप देने का प्रयास किया। स्मरणीय है आजादी प्राप्त होने पर कांग्रेस के नेताओं ने गांधी के इन कार्यक्रमों को अव्यावहारिक कह कर छोड़ दिया और उन्होंने पश्चिम के अनुकरण पर भारत का विकास करने का संकल्प किया। गांधी के विचारों का व्यावहारिक प्रयोग करने का अवसर तो नहीं आया क्योंकि डॉ० लोहिया के विचारों की पार्टी कभी इतनी मजबूत नहीं बनी कि केन्द्रीय सत्ता के संचालन का दायित्व उसे सौंपा जाता। किन्तु लोहियाजी के कार्यक्रमों की ओर आम जनता अधिकाधिक आकृष्ट होती गई और इन विचारों की प्रासंगिकता उत्तरोत्तर अधिक स्पष्ट होती गई। डॉ० लोहिया ने विश्व की

जनता का ध्यान भी इन नए विचारों की ओर खींचा। 1951 में उन्होंने अनेक देशों का भ्रमण किया। इसके दौरान उन्होंने घोषणा की कि पश्चिमी सभ्यता का तेजी से क्षय हो रहा है, बल्कि वह मर चुकी है और नाश के मुंह में पचासेक साल तक घिसटती रह सकती है। इसका स्थान जो नई सभ्यता लेगी उसमें गांधी के विचारों का महत्वपूर्ण योगदान रहेगा। उन्होंने गांधी को सदी का सबसे बड़ा आविष्कार कहा। डॉ० लोहिया की यह भविष्यवाणी आज सच होती दिखाई दे रही है। पश्चिमी सभ्यता एक ऐसे संकट से गुजर रही है जिससे उबर पाना असम्भव दीखता है। पश्चिमी सभ्यता की सहोदर प्रणाली, साम्यवादी प्रणाली टूट चुकी है। पूंजीवादी व्यवस्था भी विघटन के कगार पर पहुंच चुकी है। यह व्यवस्था अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचने के बावजूद दुनिया की दो-तिहाई गरीबी और भुखमरी को दूर नहीं कर सकी। इसके अतिरिक्त पश्चिमी सभ्यता की मूल अवधारणाओं—मशीनवाद, उपभोगवाद और शक्तिवाद ने भस्मासुर का रूप धारण करके मानव जाति को विनाश के करीब पहुंचा दिया है और अब पश्चिम के विद्वान भी इस सभ्यता के विनाश की आशंका से भयभीत हैं तथा एक नई सभ्यता के बारे में गम्भीर रूप से सोच रहे हैं। पश्चिमी सभ्यता के उत्थान और पतन की प्रक्रिया और उसमें गांधी, लोहिया तथा अन्य विचारकों के योगदान का विवरण एक पृथक निबन्ध में (परिशिष्ट-दो) दिया जा रहा है।

जिस मानव-स्वतन्त्रता को अस्तित्ववादी दार्शनिकों ने तत्व-चिन्तन के स्तर पर सर्वोच्च मूल्य घोषित किया उसका गांधी ने जीवन में प्रयोग किया और उसे मनुष्य-जीवन की सबसे बड़ी भूख, प्रेरणा और शक्ति बना दिया। उन्होंने अपने लम्बे जीवन-संघर्ष में स्वतन्त्रता का ऐसा स्वरूप प्रस्तुत किया कि वह व्यक्तिगत जीवन का ही नहीं, सामाजिक जीवन का भी सबसे बड़ा मूल्य बन गया। दक्षिण अफ्रीका में श्वेत लोगों द्वारा अश्वेतों पर लादी गई गुलामी के खिलाफ उनका संघर्ष शुरू हुआ जिसमें अहिंसात्मक सत्याग्रह और स्वयं कष्ट झेलते हुए अन्याय का प्रतिकार करने का मार्ग अपनाया गया। बाद में वे भारत के स्वतन्त्रता आंदोलन के कर्णधार बने और उन्होंने दुनिया की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति के खिलाफ आजादी की लड़ाई लड़ी। भारत का स्वतन्त्रता आंदोलन विश्व में बीसवीं सदी की सबसे बड़ी और अद्भुत घटना थी। एक तरफ पश्चिमी सभ्यता की शीर्ष शक्ति थी जो हिंसात्मक हथियारों से लैस थी। उसका मुकाबला था ऐसे सेनापति से जिसने हिंसात्मक हथियारों का उपयोग न करने का व्रत ले रखा था और जिसका एकमात्र हथियार था स्वयं कष्ट सहना। दुनिया की नजरों में यह हास्यास्पद स्थिति थी। किन्तु गांधी ने चमत्कार कर दिखाया। उन्होंने विशाल शक्ति को परास्त किया और भारत के लिए स्वतंत्रता अर्जित की। उन्होंने विश्व के समक्ष यह बात सिद्ध कर दी कि स्वतंत्रता मनुष्य का मूलभूत अधिकार है और आदमी में यदि

कष्ट सहने की क्षमता हो तो इस अधिकार को कोई भी ताकत नही छीन सकती। भारत के स्वतंत्रता आंदोलन की सफलता के बाद स्वतंत्रता की लहर सारे विश्व मे चली और साम्राज्यवादी शक्तियो की गुलामी मे जकड़े सारे देश एक-एक करके आजाद होने लगे। इनमें से अधिकांश देशो ने अपनी आजादी की लड़ाई गांधीजी के अहिंसात्मक रास्ते से लड़ी। अमरीका और अफ्रीका के अश्वेत लोगो ने भी गांधी के रास्ते पर चल कर आजादी हासिल की।

गांधी ने स्वतंत्रता शब्द को नया अर्थ दिया। उसे नई गरिमा प्रदान की। स्वतंत्रता केवल तत्व-चिन्तन का विषय नही रही, प्रत्येक व्यक्ति की रक्तशिराओं मे दौड़ने वाली प्राण शक्ति बन गई। यह व्यक्ति का जीवंत अनुभव ही नही समाज का जीवंत अनुभव भी बन गया। हर कोई इसे छू सकता था, महसूस कर सकता था। उसके लिए बड़े से बड़ा कष्ट सह सकता था। हसते-हंसते अपने प्राणो की बलि भी दे सकता था। अस्तित्ववादी दार्शनिकों की स्वतंत्रता केवल यातना भरी थी, उसका अन्त निराशा में होता था जिसके कारण वह जीवन से अधिक मृत्यु की ओर ले जाने वाली थी। गांधीजी ने सिद्ध कर दिया कि स्वतंत्रता मृत्यु से अमरता की ओर ले जाने वाला परम पुरुषार्थ है। वह मृत्यु को भी हंसते-हसते वरण करने के लिए आदमी को तैयार कर सकती है। लगभग सभी अस्तित्ववादी दार्शनिक मृत्यु के खौफ के आगे विवशता महसूस करते रहे है किन्तु गांधीजी ने स्वतंत्रता की चाह को मृत्युंजय मंत्र बना दिया।

स्वतंत्रता की रक्षा के लिए गांधीजी ने अहिंसात्मक सत्याग्रह, असहयोग-बहिष्कार, सविनय अवज्ञा और 'करो या मरो' के चरणबद्ध कार्यक्रम दिए। दूसरे महायुद्ध के समय प्रतिरोध आंदोलन चलाने वाले अस्तित्ववादियों ने भी इन कार्यक्रमों का सफलतापूर्वक उपयोग किया। ये अहिंसात्मक हथियार सारे विश्व मे अपनाए जाते रहे और इनके समक्ष हिंसा के भयानकतम हथियार भी बेअसर सिद्ध होते गए।

गांधीजी ने स्वतंत्रता के शब्द को एक और नया आयाम दिया। उन्होने स्वतंत्रता को ईश्वर से भी बड़ा मूल्य बना दिया। स्वतंत्रता उनका सत्य था। उन्होने अपने जीवन में स्वतंत्रता के लिए जो प्रयोग किए उन्हें 'सत्य के प्रयोग' कहा। ईश्वर ही सत्य है कहने के बजाय उन्होंने कहा सत्य ही ईश्वर है। इसका अर्थ था जिसने सत्य को पा लिया, स्वतंत्रता को पा लिया, उसने मानो ईश्वर को पा लिया। गांधी से पहले यह माना जाता रहा कि सत्य, शिव और सुन्दर का मूल स्रोत ईश्वर या ब्रह्म आदि प्रत्यय (आदर्श) हैं। गाधीजी ने इन्हे स्वतंत्रता से निकले मूल्य सिद्ध किया। उन्होंने अपने जीवन से सिद्ध कर दिया कि जो चीज, जो काम हमें स्वतंत्रता की ओर ले जाए वही सत्य है, वही शिव है और वही सुन्दर है [illegible] के तत्व-चिन्तन में भी (विशेषकर नास्तिक अस्तित्ववादियो के

चिन्तन मे) मानव-स्वतन्त्रता को सत्य, शिव और सुन्दर का मूल स्रोत कहा गया किन्तु गांधीजी ने इसे समाज मे प्रयोग करके दिखाया।

गांधीजी इस अर्थ मे अस्तित्ववाद से आगे गए, कि उन्होंने स्वतंत्रता को व्यक्तिगत मूल्य से उठाकर सामाजिक मूल्य बना दिया। अच्छे-से-अच्छा तत्व-चिन्तन भी व्यर्थ बनकर रह जाता है यदि उसका सामाजिक उपयोग न हो। भारतीय तत्व-चिन्तन के साथ यही दुर्घटना घटी। उसका समाज मे उपयोग नही हुआ। तत्व-चिन्तन बौद्धिक व्यायाम और व्यक्तिगत साधना का विषय बना रहा और समाज अविद्या, अंधविश्वासों और कर्मकांडों के मकड़जाल मे उलझता गया। निर्गुण और सगुण मे भारी अन्तर ही नही, परस्पर विरोध भी बना रहा। गांधी द्वारा अस्तित्व के परम मूल्य, स्वतन्त्रता के सामाजिक प्रयोग से एक नई सभ्यता के निर्माण का मार्ग प्रशस्त हुआ, ऐसी सभ्यता जिसमें मानव स्वतंत्रता अधिक-से-अधिक सुरक्षित हो।

जैसाकि पीछे कहा गया, गांधीजी के विचारों के व्यावहारिक और सामाजिक प्रयोग के काम को डॉ० राममनोहर लोहिया ने आगे बढ़ाया। उन्होंने समाजवादी आंदोलन को ऐसा रूप दिया कि वह भारत में ही नही, सारे विश्व में नये मानव-समाज के निर्माण का मंच बन सके। उन्होंने इस सारे कार्यक्रम को सप्त क्रांति का नाम दिया जिसमें कल्पना की गई कि इस नये मानव समाज में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार मिलेंगे; रंग, नस्ल, जाति आदि के आधार पर होने वाले सारे भेदभाव समाप्त होंगे, कोई देश दूसरे देश का गुलाम नही होगा, प्रत्येक व्यक्ति के निजी जीवन को अन्यायी हस्तक्षेप से मुक्त रखा जाएगा, निजी पूंजी की विषमताओं को दूर किया जाएगा और हथियारी बल को सत्याग्रह के बल से अनुशासित किया जाएगा।

डॉ० लोहिया जर्मनी में पढ़े थे। जर्मनी, फ्रांस और यूरोप के अन्य देशो के बुद्धिजीवियो के साथ उनका सम्पर्क रहा। अस्तित्ववाद की मूलभूत विशेषताओं से भी वे परिचित रहे होंगे। संभवत. इसीलिए मार्क्सवाद का जादू उन पर नही चला हालांकि मार्क्सवाद का उन्होंने गहरा अध्ययन किया था तथा इसके कुछ पहलुओं से वे प्रभावित भी थे। किन्तु उनका दिमाग खुला था। वे यूरोप की अन्य विचारधाराओं का भी खुले दिमाग से अध्ययन करते रहे थे। अस्तित्ववाद की कई बातों ने उन्हें आकृष्ट किया। मानव-स्वतंत्रता को वे भी सबसे बड़ा मूल्य मानते थे और इस स्वतंत्रता के क्रूर दमन के लिए उन्होने साम्यवादी व्यवस्था की तीव्र आलोचना की। स्टालिन द्वारा अपने साथियो पर मुकदमे चलाए जाने पर उन्होने अपना असतोष व्यक्त किया। वे अस्तित्ववादियों के इस सिद्धांत के भी कायल थे कि निराश रहते हुए किया गया कर्म ही सर्वोत्तम कर्म होता है। अपनी पुस्तिका **'निराशा के कर्तव्य' मे उन्होंने अपनी इस धारणा को स्पष्ट किया है। किन्तु उन्हें**

सबसे अधिक गांधी ने प्रभावित किया। गांधीजी की जीवन-शैली, कष्ट सहने और सत्य पर दृढ़ रहने की उनकी क्षमता, अहिंसा के प्रति उनके आग्रह ने लोहिया जी को इतना प्रभावित किया कि उन्होने गांधी को बीसवी सदी का सबसे महत्वपूर्ण आविष्कार कहा।

ध्यान देने वाली बात है कि अस्तित्ववाद ने स्वतन्त्रता को अपना परम मूल्य तो बनाया किन्तु उसके सहोदर मूल्यों समता और बंधुता की ओर विशेष ध्यान नही दिया। आधुनिक विश्व ने स्वतंत्रता, समता और बंधुता के रूप मे तीन मूल-भूत मूल्यों की कल्पना की थी। अस्तित्ववादियो ने केवल एक मूल्य को लिया। सार्त्र को इस कमी का अहसास रहा होगा इसलिए अपने अन्तिम दिनों में उन्होंने इन संकल्पनाओं पर अपने विचार दिए। सिमो बुआ के साथ लम्बी बातचीत मे उन्होने समता के मूल्य पर भी कुछ विचार व्यक्त किए। उदाहरण के लिए पुरस्कारो के सम्बन्ध मे अपनी अरुचि का कारण बताते हुए उन्होने कहा कि पुरस्कार लेखक को ऊपर-नीचे की सीढ़ियों में बांटते हैं और लेखक का काम सीढ़ियों को नष्ट करना है। उनका अभिप्राय था कि स्वतंत्रता के लिए समता भी आवश्यक है। बंधुता के विषय पर तो उन्होंने बेनी लेवी से लम्बी बात की ही थी जिसकी झलक परिशिष्ट-एक में दिए गए निबंध से मिल सकती है। किन्तु कुल मिलाकर अस्तित्व-वाद में समता और बंधुता के मूल्य उपेक्षित ही रहे।

डॉ० लोहिया ने इन मूल्यों को स्वतंत्रता के मूल्य के साथ जोडा। समता की ओर विश्व का ध्यान आकृष्ट करने और उसे स्वतंत्रता के समकक्ष मूल्य बनाने में डॉ० भीमराव आम्बेडकर का योगदान सर्वाधिक माना जाना चाहिए। उन्होने विषमता की यातना झेली थी, इसलिए वे इसके अभाव को तीव्रता से महसूस कर सकते थे। यह काम न गांधी के लिए सम्भव था और न लोहिया के लिए। डॉ० आम्बेडकर ने समता के मूल्य को स्वतंत्रता के साथ जोड़ा। उन्होने समता के बिना स्वतंत्रता को अर्थहीन घोषित किया जिसके लिए उन्हें बदनामी भी झेलनी पड़ी।

डॉ० लोहिया ने समता को व्यापक आयाम दिया और जातिगत भेदभाव के साथ-साथ रंग, नस्ल, सेक्स के भेदभावों को भी समाप्त करके सही मायनों मे समतामूलक समाज की स्थापना का कार्यक्रम तैयार किया। विषमताओ को समाप्त करने के लिए उन्होंने समान अवसर के स्थान पर विशेष अवसर का सिद्धांत प्रस्तुत किया जिसके अन्तर्गत भेदभावों से पीड़ित वर्गों के लिए उन्होंने विशेष आरक्षणों की व्यवस्था करने का विचार रखा। इस सिद्धांत को अब सारे विश्व में असमानता की समस्या के समाधान के लिए (जिसे वहां एथ्निसिटी की समस्या कहा जाता है) उपयोग में लाया जा रहा है। डॉ० लोहिया बंधुता के मूल्य के प्रति भी सतत जागरूक रहे। वे मानव-मानव के बीच एक शाश्वत सम्बन्ध के आधार पर विश्व को एक परिवार के रूप में कल्पना करते थे वसुधैव कुटुम्बकम का उनका यह

आदर्श महज निर्गुण आदर्श नहीं था। वे इसे ठोस रूप में अनुभव करते थे इसलिए वे विभिन्न देशों के बीच आवागमन के प्रतिबन्धों को हटाने की बात करते थे और इस धरती के किसी भी स्थान पर दफनाए जाने या जलाए जाने के अधिकार पर जोर देते थे। वे राष्ट्रों के संघ के बजाय मानव-सबंधों के आधार पर विश्व पंचायत बनाने के लिए प्रयत्नशील रहे। इसे वे विश्व लोकराज्य भी कहते थे। अपनी अमरीका यात्रा के दौरान उन्होंने कई स्थानों पर यह बात दुहराई कि हमें अपनी राष्ट्रीय निष्ठाओं से ऊपर उठकर समग्र मानवता के प्रति निष्ठा की भावना से काम करना सीखना चाहिए। यह समय विश्व-मन बनाने का है। उनका विश्वास था कि मनुष्य को अपनी निष्ठाओं का सतत विकास करना चाहिए। छोटी निष्ठा को बड़ी निष्ठा से अनुशासित किया जाना चाहिए किन्तु छोटी निष्ठाओं का दमन नहीं किया जाना चाहिए। गांव-शहर, प्रदेश-राष्ट्र और विश्व की निष्ठाओं में आपस में सहसबंध होना चाहिए ताकि मनुष्य न तो संकीर्ण निष्ठा में बन्द रहे और न बड़ी निष्ठा इतनी बेलगाम हो जाए कि वह छोटी निष्ठा को कुचल दे। इसीलिए जहां वे राष्ट्रीय निष्ठा को भी मानव-जाति के प्रति सर्वोच्च निष्ठा से अनुशासित करना चाहते थे वहां वे गांव के स्तर पर स्वायत्तता भी चाहते थे।

सार्त्र ने बेनी लेवी के साथ बातचीत में बंधुता की भावना के मूल की खोज करते हुए कल्पना की कि सारे मनुष्य एक मां के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण भाई-भाई के रिश्ते से बंधे हैं। सुकरात ने इस मां को धरती मां कहा था। सार्त्र इसे मानवता मां या कबीलों के गणचिह्न की मिथकीय मां की तरह की कल्पना मानते हैं और कहते हैं कि सारे मनुष्यों का एक ही उद्गम और एक ही लक्ष्य होने के कारण उन्हें एक ही मां की संतान कहा जा सकता है।

डॉ० लोहिया ने बंधुता के संबंध को स्पष्ट करने के लिए विराट और अंश की कल्पना का सहारा लिया। यह समग्र से समग्र के जुदा होने की अस्तित्ववादी कल्पना और 'पूर्णस्यपूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' की भारतीय कल्पना के अनुरूप है। अपनी पुस्तक 'इतिहास चक्र' में लोहिया कहते हैं :

> "आमतौर, पर आदमी को औजार बनाने वाला और सोचने वाला प्राणी कहा जाता है। किन्तु मानव का विशेष गुण है अपने अस्तित्व का और विराट के साथ अपने संबंध का बोध। मनुष्य जब अपने आपको पहचानने लगता है तो उसे समग्र से जुदा होने का दुख सताता है। साथ ही उसे अपने अस्तित्व-बोध का आनंद भी मिलने लगता है और वह सोचने लगता है कि वह समग्र के साथ कैसे आत्मसात् हो। यहीं से उसकी लक्ष्य की खोज शुरू होती है।"

मानव अधिकारों के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ० लोहिया ने एक स्थान पर

कहा :

'मनुष्य को बनाना आज जरूरी हो गया है। वह आज राष्ट्र और जाति में इतनी बुरी तरह बंध चुका है कि जन्म, शादी, मौत में भी वह मनुष्य नहीं, बल्कि कुछ अधकटा जीव बन गया है। जो थोड़ा बहुत इस दिशा में हुआ है वह उतना ही लड़ाई और दूसरे देशों की फतेह का परिणाम है जितना कि प्रेम का। शायद प्रेम से ज्यादा फतेह का। असली दुनिया तब बसेगी जब मनुष्य सचमुच वर्णसंकर और दोगला हो जाएगा (अर्थात् अंतर्जातीय, अंतर्नस्लीय प्रेम-संबंधों और विवाहों के कारण आदमी-आदमी के बीच रक्त-संबंध बनेंगे)।'

डॉ० लोहिया की स्वतंत्रता, समता और बंधुता के अविच्छिन्न संबंध पर दृढ आस्था थी, भले ही ये मूल्य जाहिरा तौर पर परस्पर विरोधी लगते हो। उनका विचार था कि जब तक समाज इन तीनों में तालमेल बिठाकर और इन्हें एक साथ लेकर नहीं चलेगा तब तक एक आदर्श मानव-समाज नहीं बनेगा। पश्चिमी सभ्यता या आधुनिक सभ्यता ने इन मूल्यों को स्वीकार तो किया किन्तु वह किसी एक मूल्य को लेकर चली और उसे भी आधे-अधूरे रूप में लिया। उदाहरण के लिए पश्चिमी लोकतंत्र या पूंजीवाद ने केवल स्वतंत्रता को लिया और यह स्वतंत्रता भी बुर्जुआ वर्ग की स्वतंत्रता रही। इसने निर्धन वर्गों और कमजोर देशों की स्वतंत्रता को कुचला। साम्यवादी व्यवस्था केवल आर्थिक समता के मूल्य को लेकर चली और उसने जाति, नस्ल, सेक्स आदि की समता की ओर ध्यान नहीं दिया तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता को कुचल दिया। अस्तित्ववादियों ने मानव-स्वतंत्रता के दमन के खिलाफ आवाज उठाई किन्तु वे स्वतंत्रता के मूल्य को सामाजिक प्रेरणा में नहीं बदल सके और न समता तथा बंधुता का इससे तालमेल बिठा सके। गांधी ने स्वतंत्रता का सामाजिक प्रयोग किया और डॉ० आम्बेडकर ने स्वतंत्रता के साथ समता के मूल्य को जोड़ा। गांधी और आम्बेडकर के बीच का टकराव स्वतंत्रता और समता को परस्पर विरोधी मानने की गलतफहमी के कारण था। डॉ० लोहिया ने स्वतंत्रता, समता और बंधुता के समन्वय की एक समग्र दृष्टि विकसित की। उन्होंने देखा कि जैसे कोरी स्वतंत्रता के मूल्य को लेकर चलने वाली व्यवस्था समता की चाह और बंधुता की चाह से उत्पन्न टकरावों के कारण असफल रही और कोरी समता को लेकर चलने वाली व्यवस्था स्वतंत्रता की चाह के दबावों को नहीं झेल पा रही है, उसी तरह भारत में चल रहा समता का आंदोलन बंधुता की भावना के अभाव में जातीय द्वेष को जन्म दे सकता है। उन्होंने अपनी पार्टी को इसके प्रति सावधान भी किया और कहा कि बंधुता की भावना के बिना समता

और स्वतंत्रता के आंदोलन विफल होंगे

इस प्रकार अस्तित्ववाद ने पश्चिमी सभ्यता अथवा औद्योगिक क्रांति से निकली आधुनिक सभ्यता से (जिसने मानव-स्वतंत्रता का दमन किया) विद्रोह करके नई मानव-सभ्यता के लिए दर्शन दिया। गांधी, आम्बेडकर और लोहिया ने उस दर्शन का विस्तार और विकास किया तथा उसे सामाजिक दर्शन बनाया। इसे अस्तित्ववाद का पारगमन भी कहा जा सकता है। अब इन प्रयोगों के आधार पर आने वाली सभ्यता का निर्माण किया जा सकता है। वह सभ्यता कब बनेगी, कैसे बनेगी, इसके बारे में तो कोई भविष्यवाणी करना कठिन है किन्तु इतना निश्चित है कि उसके आधारभूत मूल्य स्वतंत्रता, समता और बंधुता होंगे तथा इन मूल्यों के बीच समुचित तालमेल बिठाया जाएगा।

लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि नई सभ्यता या नये मानव समाज में एक नये स्वर्ग का निर्माण किया जाएगा जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता, समता और बंधुता की पूर्ण तृप्ति मिलेगी। इस तरह का आश्वासन वैसा ही झूठा आश्वासन होगा जो अब तक की सभ्यताओं ने दिया है। स्वर्ग, जन्नत, बैकुण्ठ, वर्ग-रहित समाज या ऐतिहासिक स्पिरिट के निरपेक्ष सत्य की उपलब्धि की तरह नई सभ्यता किसी सम्पूर्ण आदर्श की मृग-मरीचिका में मानव को नहीं उलझाएगी। पूर्ण स्वतंत्रता, पूर्ण समता और पूर्ण बंधुता की स्थिति एक असंभव कल्पना है। यह सभ्यता संभव को अपना लक्ष्य बनाएगी। आदर्शवादी विचारधाराएं स्वप्न को सच के रूप में प्रस्तुत करती रही हैं। अस्तित्ववाद जो आदर्शवादी धाराओं के विरोध से निकला, स्वप्न को सच मानकर नहीं चलता। अस्तित्ववाद केवल कर्म का दर्शन है। फल की न सिर्फ वह कामना नहीं करता है बल्कि फल के संबंध में वह पूर्ण निराश भी है। वह जानता है कि वह अपनी मंजिल पर नहीं पहुँचेगा किन्तु उसकी ओर बढ़ते जाना उसकी नियति है। अस्तित्ववादी शाश्वत यात्रा-कामी होता है इसलिए वह किसी स्वर्ग का, या अंतिम मंजिल का आश्वासन नहीं देता। सार्त्र कहते हैं :

"जीवन का इतिहास असफलता का इतिहास है। इसमें प्रतिकूल शक्तियां इतनी प्रबल होती हैं कि मामूली-सा परिणाम प्राप्त करने के लिए वर्षों के धैर्य की अपेक्षा होती है। हम प्रकृति के निर्देशों के खिलाफ नहीं जा सकते। मेरी स्वतंत्र इच्छा मेरे छोटे कद को बड़ा नहीं कर सकती। देश, काल, स्थितियों और शरीर के रूप में तथ्यात्मकता मानव-स्वतंत्रता के रास्ते में निरंतर बाधाएं उपस्थित करती है। एक तरह से आदमी अपनी जन्म-भूमि, जलवायु, नस्ल, परिवार, वर्ग, भाषा, इतिहास, वंशपरम्परा, बचपन की स्थितियों, आदतों और जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं की निर्मिति होता है। 'आदमी अपना निर्माता स्वयं है' इस कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि

तथ्यात्मकता की वास्तविक सत्ता नही है। अभिप्राय यह है कि वह इस तथ्यात्मकता को पार करने के लिए अपनी स्वतंत्रता के बल पर प्रयास कर सकता है। उसे सफलता मिलती है या नही यह दीगर बात है। वास्तव मे उसे यह मानकर चलना पड़ता है कि सफलता नही मिलेगी। यह निराशा की भावना उसे कर्म से विचलित न करे, वह निराश रहते हुए काम करता जाए, यही कर्म का तथा मानव-स्वतंत्रता का सर्वोच्च लक्ष्य है।"

डॉ० लोहिया का भी सतयुग या स्वर्णयुग पर विश्वास नहीं था जिसमे कोई द्वंद्व न हो। वे मनुष्यो और राष्ट्रो के बीच सम्पूर्ण बराबरी को भी सभव नही मानते थे बल्कि हमेशा सभव बराबरी की बात करते थे। संभवत. वे द्वंद्व-रहित स्थिति को (पूर्ण स्वतन्त्रता, पूर्ण समता और पूर्ण बधुता की स्थिति को) प्रलय की स्थिति की तरह मानते थे। वे विचार और पदार्थ, आदर्श और भौतिक स्थिति, सामान्य लक्ष्य और आत्मिक लक्ष्य के द्वैत को भी नहीं मानते थे। सामाजिक और आध्यात्मिक लक्ष्यो के परस्पर बैर को भी वे अस्वीकार करते थे और कहते थे कि पूर्व की सभ्यताएँ आध्यात्मिक समानता के साथ सामाजिक असमानता के भार से टूट गई और आधुनिक सभ्यता सामाजिक समानता के साथ आध्यात्मिक असमानता के भार से टूट रही है।

तथाकथित स्वर्णयुग के बारे में लोहिया कहते हैं: "जो लोग सुदूर भविष्य के स्वर्णयुग मे विश्वास करते है वे प्रायः अजीब भ्रम का शिकार होते हैं। वे ऊँचे आदर्शों को पाने के लिए घृणित काम करते हैं और सोचते हैं कि इन घृणित कामो का औचित्य सुदूर भविष्य के परिणाम से सिद्ध हो जाएगा। किन्तु हम अपने काम मे तात्कालिकता के सिद्धान्त का समावेश करेंगे, भले ही हम उत्पादन अथवा वर्ग-संघर्ष का काम कर रहे हो या वर्ग-रहित तथा जाति-रहित समाज बनाने का या ऐसा समाज बनाने का काम कर रहे हों जिसमे शक्ति और समृद्धि एक स्थान से दूसरे स्थान पर पीगें न भरें तो हम क्षण को तात्कालिक और शाश्वत रूपों में एक साथ लाने में सफल हो सकते हैं। इसी धरती पर, इसी युग में स्वर्णयुग लाने के प्रयास में शायद हम निर्धनता-मुक्त और भय-मुक्त अवस्था लाने में अगली पीढियो की मदद कर सकते हैं।"

यदि ऐसी सभ्यता विकसित हुई जिसमें झूठमूठ की आशा और कोरे प्रलोभनो के लिए कोई स्थान नहीं हो तो यह निश्चित है कि इसमें धर्म और मजहब पर चलने वाली दुकानें बन्द हो जाएगी। ईश्वर का आदर्श (प्रत्यय) भी महत्त्वहीन हो जाएगा क्योंकि जिस सान्त्वना और प्रेरणा के लिए आदमी इस प्रत्यय की ओर उन्मुख होता है उसके लिए आदमी स्वतंत्रता, समता और बधुता के प्रत्ययों की ओर उन्मुख होगा जो सत्य, शिव और सुन्दर का मूल स्रोत है।

नैतिक निहितार्थ

(नया आदमी)

कुछ वर्ष पहले चंडीगढ़ मे पंजाब विश्वविद्यालय के कई विभागो ने मिलकर मानव-मूल्यो की पहचान करने के लिए एक संगोष्ठी का आयोजन किया। इसकी प्रेरणा राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद के उस बालक-विरोधी और शिक्षा-विरोधी अभियान से मिली थी जिसे यह संस्था क्रांतिकारी शैक्षिक कार्यक्रम कहकर पेश करती है। इस अभियान के पीछे मुख्य विचार यह था कि बच्चा सूखा ठूठ है और शिक्षा नैतिक मूल्यो का इंजेक्शन देकर उसमे रस-सचार करती है, कुछ-कुछ वैसा ही जैसे भोजन के लिए पाम आने वाले पशुओ को इजेक्शन आदि देकर मोटा-ताजा किया जाता है। पता चला कि इस सगोष्ठी के अत्युत्साही आयोजकों ने 83 मूल्यों की सूची बना ली थी और उन्हे उम्मीद थी कि वे 300 मूल्यों की सूची बनाने के लक्ष्य में सफल हो जाएंगे। सगोष्ठी में सारी चर्चा मूल्यो की परिभाषा पर हुई और निष्कर्ष निकाला गया कि बच्चे में जो-जो अच्छे गुण भरे जाने चाहिए वे सब मूल्य हैं। इस आधार पर जब मूल्यों को गिनाया जाने लगा तो पता चला कि सत्य साईं बाबा की शांति या 'सुशांति' साधना और निर्मला देवी की कुंडलिनी साधना से लेकर प्याज-लहसुन न खाने और हर मगल-वार-शनिवार को हनुमान-मंदिर में जाने तक सभी 'अच्छी-अच्छी बातें' मूल्यो के रूप में बच्चों में भरी जा सकती हैं। एक सेवानिवृत्त सैनिक अधिकारी, जो सगोष्ठी के एक सत्र की अध्यक्षता कर रहे थे, सैनिक अनुशासन को ही सबसे बड़ा मूल्य सिद्ध करने में जुट गए बिना यह महसूस किए कि सैनिक प्रशिक्षण सर्कस के जानवरों के प्रशिक्षण से ज्यादा भिन्न नहीं है और इस अनुशासन वाला समाज फासीवादी तथा तानाशाही व्यवस्थाओ को ही जन्म दे सकता है।

मुझे लगता है कि भारतीय समाज में नैतिक मूल्यों पर जितना जोर दिया जाता है उतना दुनिया के किसी समाज में नहीं दिया जाता होगा। नैतिक मूल्यो को ही यहा धर्म कहा गया। धर्म के दस लक्षणो में धृति क्षमा दम अस्तेय शौच,

इंद्रिय-निग्रह, धी: विद्या, सत्य और अक्रोध को गिनाया गया। इसमें से किसी भी कर्त्तव्य का सम्बन्ध पूजा-पाठ, भजन-कीर्तन या ईश्वर के आगे अपने को समर्पित करने से नहीं है जिस अर्थ में आज धर्म को लिया जाता है। धर्म या कर्त्तव्य के इन्हीं नियमों को किञ्चित हेरफेर के साथ विभिन्न अनुशासनों के अंतर्गत भी स्वीकार किया गया। योग साधना के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को नियम तथा शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को उपनियम कहा गया। यदि इनमें से ईश्वर-प्रणिधान को छोड़ दें तो बाकी कर्त्तव्य धर्म के ऊपर बताए गए लक्षण ही हैं। जैन-बौद्ध आदि अन्य सम्प्रदायों ने भी इन मूल्यों को अपनाया यद्यपि किसी ने अहिंसा-अपरिग्रह आदि पर अधिक जोर दिया तो किसी ने क्षमा-करुणा पर। कर्त्तव्यों के साथ-साथ अकर्त्तव्यों या वर्जनाओं का भी निर्धारण किया गया और इन्हें भी लगभग सब सम्प्रदायों ने स्वीकार किया। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह को पांच शत्रु कहा गया। मत्सर को भी कभी-कभी इनमें गिनाया जाता है। पूर्व मीमांसा में तीन तरह के नियमों की कल्पना की गई। प्राकृतिक नियम जो अटल होते हैं और प्रकृति से निर्धारित होते हैं। नैतिक नियम जिन्हें धर्म या कर्त्तव्य भी कहा जाता है जिन्हें अपनी और समाज की जरूरतों को देखते हुए हमें अपने विवेक से अपनाना पड़ता है। तीसरे नियम राजनियम हैं जिन्हें राज-शक्ति से लागू होने के कारण अनिवार्य माना जाता है।

इन नैतिक नियमों या कर्त्तव्यों और वर्जनाओं से भारत की आम जनता भी परिचित रही। हजारों साल से इनका उपदेश धार्मिक कथाओं और प्रवचनों में, कविताओं और सुभाषितों में दिया जाता रहा किन्तु क्या सिर्फ इसी तथ्य के आधार पर हम अपने समाज को नैतिक समाज कह सकते हैं? आम जनता की तो बात दूर, अपने को धर्म का प्रतिनिधि मानने वाले लोगों का जीवन भी आज धर्म के दस लक्षणों के विपरीत हो गया है। अयोध्या में बाबरी मस्जिद के विध्वंस और राम-मन्दिर के निर्माण के लिए जुटे धार्मिक नेताओं में धृति या सहनशीलता के बजाय असहनशीलता, क्षमा के बजाय प्रतिशोध, दम या संयम के बजाय असंयम, अस्तेय के बजाय अनस्तेय धन का उपयोग, बुद्धि के बजाय दुर्बुद्धि, सत्य के बजाय असत्य और अक्रोध के बजाय क्रोध अपने प्रबल रूप में दिखाई दिया था।

यहां पर डॉ० विद्यानिवास मिश्र की लेखमाला के अन्तिम लेख के इन शब्दों पर विचार की आवश्यकता है: "ऐसी जीवन्त चिन्तन-धारा के रहते हुए भारत में इतना पिछड़ापन, इतना अन्याय और इतनी निकृष्ट लोभ-वृत्ति क्यों है जिसमें भोग भी पूरे मन से नहीं, पर दूसरों का भोग छीनकर भोग्य-वस्तु का संग्रह ही जीवन का लक्ष्य हो रहा है? अपने स्वरूप की इतनी विस्मृति क्यों घटित हुई, इसकी ऐतिहासिक या दार्शनिक मीमांसा से केवल वाग्विलास ही सम्पन्न होगा, कुछ और फल नहीं निकलेगा।···हमें आत्म-परीक्षण करने की आवश्यकता है।"

किन्तु आत्म-परीक्षण के लिए ऐतिहासिक या दार्शनिक मीमांसा व्यर्थ की चीज नही है। इससे बचकर हम आत्म-परीक्षण भी नहीं कर सकते।

सच बात यह है कि हमारा सारा नैतिक-बोध उपदेश के स्तर पर रहा। हमने इन नैतिक मूल्यों को नित्य प्रति के जीवन मे नहीं अपनाया। जब भी नित्य प्रति के जीवन मे ये नैतिक मूल्य हमारे आड़े आए हमने इनसे बचने के लिए कोई-न-कोई रास्ता निकाल लिया। कभी हमने इसे आपद्धर्म कहा, कभी व्यावहारिकता। धर्मराज युधिष्ठिर ने घुमा-फिरा कर अश्वत्थामा के मारे जाने की सूचना देकर जिस आपद्धर्म को निभाया वह आपद्धर्म आगे चलकर पूरा शास्त्र ही बन गया। वास्तव में हमारा समूचा नीतिशास्त्र या धर्मशास्त्र अनैतिकता और अधर्म को बनाए रखने का साधन बन गया। अब हमारे पास प्रत्येक अनैतिक काम के लिए कोई न कोई शास्त्र-सम्मत स्पष्टीकरण मौजूद है। अगर हमारे समाज मे अन्याय और अत्याचार है, भुखमरी और बीमारी है, समाज का एक बडा वर्ग कौओ-कुत्तो की तरह अधम स्थितियो में जीवन बिताता है तो इसका कारण यह है कि इन लोगो ने पिछले जन्म मे बुरे कर्म किए थे और समाज में जो अन्याय, अत्याचार और शोषण कर रहा है उसे पिछले जन्म के अच्छे कर्मों का फल मिल रहा है। यदि वर्तमान समाज में अन्याय और अत्याचार सहने वाले चुपचाप सहन करते रहेंगे तो अगले जन्म में उन्हें इन दुखों से निजात मिल जाएगी। यह ईश्वरीय व्यवस्था है और हर आदमी के माथ पर जन्म के साथ ही ईश्वर उसका भाग्य लिख देता है तथा उसके लिखे हुए को कोई शक्ति नही मिटा सकती। इस ईश्वरकृत व्यवस्था को बदलने, अन्याय और अत्याचार से आदमी को मुक्त करने के लिए कोई काम नही किया जाना चाहिए क्योंकि यह ईश्वर के काम मे दखलंदाजी होगी, ईश्वर से विद्रोह होगा, धर्म की और शास्त्रो की अवज्ञा होगी। इसके अतिरिक्त ऐसे प्रयासों का विफल होना भी निश्चित है क्योकि होना तो वही है जो विधि ने रच रखा है। आदमी की क्या हैसियत जो इस स्थिति को बदले ?

यह है हमारे समाज की आम मानसिकता जो हमें उस नैतिक और धार्मिक विरासत से मिली जिसे दुनिया में सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है और जिसके आधार पर भारत को विश्व-गुरु कहा जाता है। इसी मानसिकता ने हमें दो हजार वर्ष की राजनैतिक गुलामी दी और हमें अपनी गुलामी को प्यार करना सिखाया। उसने स्त्री-जाति के दिल मे, जो प्राणों की बाजी लगाकर पुरुष को जन्म देती है, यह विचार भर दिया कि वे पूर्व जन्म के पापो के कारण स्त्री-योनि में पैदा हुई और उन्हें हर हालत मे पतियो की गुलामी करनी है, उनकी मारपीट सहकर भी उन्हे परमेश्वर मानना है। इस मानसिकता ने शूद्र कहे जाने वाले वर्ग को, जो अपनी मेहनत से सारे समाज को पालता है यह विश्वास दिला दिया कि उसे जिस हाल

में रखा गया उसी में खुश रहना है, उसे बदलने की कोशिश नहीं करनी है, इच्छा भी नहीं करनी है, वरना ईश्वर अगले जन्म में उसे और कठोर दंड देगा। इस मानसिकता ने सम्पन्न-सुखी लोगों के मन में भी यह भाव भर दिया कि कोई भी पाप, अधर्म या अनैतिक काम वर्तमान जीवन मे कोई नुकसान नही पहुचा सकता, कोई सुविधा नहीं छीन सकता, क्योंकि यह सुख-सुविधा विधि-विधान के अन्तर्गत पूर्व जन्म के कर्मों के पुरस्कार के रूप में मिली है। न ही अनैतिक कामों से डरने की जरूरत है क्योंकि भगवान बड़ा दयालु है और तुम उसके पास जाओगे, उसे खुले दिल से प्रसाद चढ़ाओगे या अश्रुपूरित नयनो से प्रार्थना करोगे कि मेरे समान दुनिया मे कौन खल-कामी है, मेरे गुनाहो को माफ कर दे तो वह जरूर तुम्हारे गुनाहो को माफ कर देगा तथा कर्म मे पतित होने पर भी तुम्हें छाती से लगाकर पावन बना देगा। यदि कोई नृशस, अत्याचारी देशी-विदेशी राजा तुम्हारे बीवी-बच्चो की क्रूर हत्या करता है, अनेक अत्याचार करता है और तुम्हें गुलाम बना लेता है तो उसका विरोध मत करो, प्रतिकार मत करो, भगवान की शरण में जाओ जो उससे तुम्हारी रक्षा करेगा या तुम्हें मानसिक शांति देकर उस अत्याचार या गुलामी को सहन करने की क्षमता देगा। धर्म की रक्षा और अधर्म का विनाश उसी का काम है और उसे ही करना चाहिए। जो शक्तिशाली है, जो समर्थ है उसे दोष मत दो, उसकी गलतियां मत देखो। वह लात भी मारता है तो उसके पाव चूम लो। लेकिन जो तुमसे कमजोर है, स्त्री, शूद्र या बच्चा है उसे दबा कर रखो, उसकी ताड़ना करो और वह तुम्हारी बात न माने तो उसके मुह, कान, आंख मे जलते लोहे की गरम सलाख डालने से भी न हिचको, उसको जिन्दा जलाने मे गुरेज न करो।

हमारी नैतिकता के तमाम उच्च मूल्य सामाजिक मानसिकता तक आते-आते विकृत और विपर्यस्त हो गए। शक्तिशाली के आगे धृति रखो, सहनशील बनो लेकिन कमजोर के प्रति असहनशील। शक्तिशाली और अत्याचारी के आगे अक्रोध और अहिंसा को अपनाओ और कमजोर और पीड़ितो को भयानक से भयानक दड दो। अत्याचारी को क्षमा करो, अपने अधीनस्थ को कभी नही। अस्तेय (चोरी न करने) के सिद्धांत की पूजा करो लेकिन घूस और पाप की कमाई को धर्म (दस्तूरी) मानो। सत्य को भगवान मानो लेकिन असत्य को आपद्धर्म या रणनीति के रूप में स्वीकारो। स्त्रियों को देवी कहो लेकिन उन्हे पाव की जूती बनाकर रखो। अपरिग्रह की बातें करो और दूसरो के हिस्से को लूट कर भी अपना घर भरो। सयम, दम और इंद्रिय-निग्रह की कसमें खाओ और अन्तिम सास तक भोग-लिप्सा मे डूबे रहो। अनश्वर आत्मा की बातें करो और वीभत्स स्थितियों में जिन्दगी के साथ जोंक की तरह चिपके रहो। भगवान के आगे सबकी बराबरी की शेखी बघारो और व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन में गैरबराबरी के कीचड़ मे सुअर की तरह

खुश रहो। ऊंचे विचारों और ऊंचे कर्मों की दार्शनिक बहस करो और विचार को प्रतीक-पूजा मे और कर्म को कर्मकांडो मे बदलकर संतुष्ट हो जाओ। काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर के शत्रुओं को वश मे करने के लिए माला के मनकों को फेरो लेकिन मन से, दिल और दिमाग से, इन शत्रुओं को दूर न हटाओ। ब्रह्मचर्य और सदाचार के उपदेश दो और नौजवानों की ऐसी पीढ़ी तैयार करो जो सेक्स के रोगी हों, जो अपने साथ पढ़ने या काम करने वाली लड़कियों को सिर्फ भोग्य वस्तु मानें और कभी भी उनके साथ सहज इन्सानी रिश्ते में न जुड़ सकें।

हमारे व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन की हर क्रिया छद्मयुक्त है। 'सत्यमेव जयते' को हमने एक नारे की तरह दीवार पर टांग रखा है लेकिन हम निरंतर झूठ में जीते हैं। हम बड़ी सहजता से, बिना संकोच या पीड़ा के ईश्वर को भी धोखा दे सकते हैं, अपने आपको भी, सामाजिक जीवन मे सम्पर्क मे आने वाले अन्य व्यक्तियो को भी और सार्वजनिक संस्थाओ को भी जिनमें हम काम करते हैं। हमारी जीने की कला इस धोखे मे समाई हुई है क्योंकि न हम स्वतंत्र मन से सोच सकते हैं और न स्वतंत्र मन से जी सकते हैं। स्वतंत्रता से जीना पीड़ादायक है, उसमें कष्ट है, उसमें सुख-सुविधा और आराम नहीं है (जिसे हम शांति का गलत नाम देते हैं) इसलिए हम अपनी स्वतंत्रता को पहला मौका मिलते ही, सुख-सुविधा के बदले मे गिरवी रख देते हैं। हम अपनी अन्तरात्मा की आवाज से खौफ खाते हैं और प्रतीक्षा करते हैं कि कोई दूसरा हमें निर्देश दे, हमारी मंजिल तय करे।

हमारा सामाजिक और राजनैतिक जीवन ऐसे ही व्यक्तियों से संचालित हो रहा है इसलिए वह भी इन तमाम रोगों से ग्रस्त है। जब तक एक नये आदमी का निर्माण नही होता, वर्तमान राजनैतिक और सामाजिक व्यवस्था मे किसी सार्थक परिवर्तन की संभावना नही है। अतः हमें नैतिक मूल्यो पर नये सिरे से विचार करना होगा।

नैतिकता का आधार

नैतिकता मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धो की जरूरत है। सामाजिक होने का मतलब ही है, कुछ नैतिक दायित्वो को स्वीकार करना। यदि एक आदमी काल्पनिक रॉबिन्सन क्रूसो की तरह किसी द्वीप मे नितांत एकांत में रहता है तो संभवतः उसे नैतिक मूल्यो की आवश्यकता नही होगी। तब वह केवल प्रकृति के नियमो के अधीन रहकर ही जिएगा। किन्तु ऐसा व्यक्ति वास्तविक नहीं हो सकता, वह केवल काल्पनिक हो सकता है। मानव सामाजिक प्राणी है और उसका अपने से भिन्न व्यक्तियों के साथ अटूट सम्बन्ध होता है। पशु भी जब सामाजिकता में जीने लगते हैं, उनका परस्पर और आदमियो के साथ सम्बन्ध होता है तो उनमें भी सामाजिकता के गुण आ जाते हैं हालांकि हम उन्हें नैतिकता का नाम नहीं देते।

अस्तित्ववाद और सांख्य की भाषा में अन्य पुरुष के साथ सम्बन्ध में हममें नैतिक बोध पैदा होता है।

बच्चा जब पैदा होता है तो अपने को निताल अकेला महसूस करता है। उसे लगता है कि उसे ऐसी दुनिया में फेंक दिया गया है जहां उसका कोई नहीं है। धीरे-धीरे वह अपनी मां को, फिर पिता को, फिर दूसरे व्यक्तियों और वस्तुओं को जानने लगता है और उनसे अपना सम्बन्ध स्थापित करने लगता है। शुरू मे उसके लिए जीवित प्राणियों और निर्जीव वस्तुओं में भेद करने की क्षमता नहीं होती है। वह दुनिया की तमाम वस्तुओं के बीच अपने को भी एक वस्तु अथवा वस्तुओं को भी अपने जैसा समझने लगता है। लेकिन फिर एक-एक करके उनमे भेद करने लगता है और उनके साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। अभेद से भेद की स्थिति मे आना ही ज्ञान की प्रक्रिया है जिसके लिए वह निषेध की या 'नेति नेति' की क्षमता का उपयोग करता है। किसी भी वस्तु या व्यक्ति को जानने या पहचानने के लिए उसका यह महसूस करना जरूरी है कि यह मैं नहीं हूं। यह निषेध की क्षमता जिसे अस्तित्ववाद में 'नथिंगनेस' कहा गया है, चेतना या आत्मा की सहज शक्ति या स्वभाव है। यह उसके अस्तित्व की पहली शर्त है। इस शक्ति का दूसरा नाम स्वतंत्रता भी है क्योंकि इसीके बल पर वह अपने को दूसरी वस्तुओं से भिन्न (स्वतंत्र) मानती है और फिर अपने लक्ष्य को चुनती है। इसी तरह उसमे जो अभेद की दृष्टि शुरू मे होती है वह उसकी समता और बंधुता की अन्तर्जात, स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह ऐसी मानसिक स्थिति है जिसमे वह किसी को अपने से बडा या छोटा नहीं मानती और किसी को अपने से पृथक और अजनबी नहीं पाती। भारतीय दर्शन की शब्दावली में कहें तो यह मुक्त आत्मा की स्थिति है और मुक्ति आत्मा या चेतना का स्वभाव है। देह धारण करने के साथ ही वह अनेक बंधनो मे बंधने लगती है। उसके ये बंधन पार्थिव देह तथा देश और काल के अतिरिक्त उन सम्बन्धों के होते हैं जिन्हें अपने जीवन की प्रक्रिया मे वह विभिन्न व्यक्तियों और वस्तुओं मे स्थापित करती है। ये सम्बन्ध कभी प्यार के होते है जो उसे सुख देते हैं कभी भय या विराग के जो उसे दुख देते हैं। किन्तु हर सम्बन्ध बंधन होता है क्योंकि उसमें उसे कुछ मिलता है तो कुछ देना भी पडता है। बिना आदान-प्रदान के सम्बन्ध हो नहीं सकता। जब किसी सम्बन्ध में आदान-प्रदान का संतुलन बिगड जाता है तो सम्बन्ध तनावपूर्ण हो जाता है। हम उस सम्बन्ध को तोड़ते है और नया सम्बन्ध जोडते हैं। मनुष्य-जीवन इन सम्बन्धो के जुडने और टूटने का ही नाम है इसलिए वह हमेशा तनाव-ग्रस्त रहता है। इसे हम जीवन का द्वंद्व भी कह सकते है। मृत्यु सब सम्बन्धों को तोड देती है। द्वंद्व का समाप्त होना ही मृत्यु है।

संक्षेप में बच्चा जन्म के साथ कोई नैतिक मूल्य (पूर्व निर्धारित प्रत्ययो या आदर्शों के रूप में) लेकर नहीं आता। वह केवल अस्तित्व को लेकर आता है जिस

की पहचान स्वतंत्रता, समता और बंधुता की मूल आकांक्षाएं होती है। अस्तित्ववाद की भाषा में इसे कहा गया कि एसेंस (मूल्य) अस्तित्व से पूर्व नहीं होते, इन्हें अस्तित्व ही निर्धारित करता है।

जैसाकि सभी दर्शन मानते हैं यह द्वंद्व प्रकृति और पुरुष का, स्पिरिट और मैटर का, मन और परिस्थितियों का, ब्रह्म और माया का, आध्यात्मिकता और भौतिकता का, बाहर और भीतर का द्वंद्व कहलाता है। इस द्वंद्व में आदमी बनता भी है और टूटता भी है।

अन्य पुरुषों या समाज के साथ जब आदमी संबंध जोड़ता है तो उसे समाज से प्राप्त सुख-सुविधा के बदले अपनी स्वतंत्रता, समता, और बंधुता की स्वभावगत थाती का कुछ त्याग करना पड़ता है। वह समाज का सदस्य बनता है और समाज की कुछ शर्तों को (नैतिक मूल्यों के रूप में) स्वीकार करता है। दूसरे शब्दों में वह अपनी स्वतंत्रता, समता आदि का कुछ अंश समाज को सौंप देता है। बच्चा परिवार की सुरक्षा प्राप्त करता है और साथ ही पारिवारिक नैतिकता को ग्रहण करता है। वह स्कूल से जुड़ता है तो स्कूल के नियमों को स्वीकार करता है और अपनी स्वतंत्रता आदि के जन्मजात अधिकारों को उसके अधीन बना लेता है। इसी तरह जैसे-जैसे वह राज्य आदि वृहत्तर समाज का सदस्य बनता जाता है उसकी स्वतंत्रता, समता आदि की सहज आकांक्षाओं पर उत्तरोत्तर अंकुश लगता जाता है। ये अंकुश उसके लिए जरूरी होते हैं क्योंकि इनके बिना वह समाज का सदस्य (सभ्य) नहीं बन सकता। लेकिन कभी-कभी ये अंकुश उसके लिए असह्य हो जाते हैं क्योंकि उसकी स्वतंत्रता, समता आदि की सहज आकांक्षाएं कुचली जाने लगती हैं। तब उसमें विद्रोह पैदा होता है और अपनी कुचली हुई आकांक्षाओं (अस्मिता) को पाने के लिए वह साहित्य, कला आदि संस्कृति की ओर मुड़ता है जो पुनः उसे खोई हुई स्वतंत्रता, समता आदि को लौटाती है।

इस प्रकार जिसे हम मनुष्य जीवन कहते हैं और मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने के कारण जिसे सामाजिक जीवन भी कहा जा सकता है, उसमें नैतिक मूल्यों का संबंध सिर्फ आदमी की सहज आकांक्षाओं पर लगे अंकुशों से नहीं होता है, उनका संबंध स्वतंत्रता, समता आदि की सहज आकांक्षाओं से भी होता है; बल्कि उनका प्राथमिक संबंध इन सहज और मूलभूत आकांक्षाओं से होता है क्योंकि इनके कुचले जाने पर आदमी आदमी नहीं रहता, बिना सींग-पूंछ का पशु बन जाता है। जिस नैतिक प्रणाली में स्वतंत्रता, समता और बंधुता का दमन होता है उसे नैतिक नहीं, अनैतिक प्रणाली कहा जाना चाहिए।

आम तौर पर नैतिक मूल्यों को समाज या वातावरण तय करता है और ये मूल्य व्यक्ति के परम मूल्यों (आत्मा के स्वभाव—स्वतंत्रता, समता आदि) के विरुद्ध जाते हैं। उनकी प्रवृत्ति मानव की जन्मजात प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने की ओर तथा

आदमी को पालतू बनाने की ओर होती है। इस प्रकार एक मजबूत समाज या राज्य के निर्माण की प्रक्रिया में व्यक्ति के निरपेक्ष अधिकारों का दमन होता है। लेकिन इसमें समाज का अंततः नुकसान होता है क्योंकि इससे आदमी के व्यक्तित्व का क्षय होता है जो अंततः समाज या राज्य के क्षय का कारण बनता है। यह स्थिति तब आती है जब समाज व्यक्ति के निरपेक्ष अधिकारों को बिलकुल नजर-अंदाज करके मनमाने ढंग से अपने मूल्य तय करता है। अस्तित्ववाद ऐसे ही नैतिक मूल्यों के खिलाफ विद्रोह है। वह व्यक्ति की स्वतंत्रता, समता और बंधुता के मूल्यों को परममूल्य या निरपेक्ष मूल्य मानता है और कहता है कि यदि आदमी अपनी स्वतंत्रता का उपयोग किए बिना या स्वतंत्रता के कष्ट से बचने के लिए समाज द्वारा तय किए गए मूल्यों को स्वीकार करता है तो यह सार्त्र के शब्दों में दुर्निष्ठा (बैडफेथ) और हाइडेगर के शब्दों में अप्रामाणिक जीवन है। किंतु अस्तित्ववाद समाज की सत्ता को नहीं नकारता और न समाज द्वारा निर्धारित नैतिक मूल्यों की सत्ता को। समाज की सत्ता को तो वह व्यक्ति के अस्तित्व के लिए अनिवार्य मानता है क्योंकि उसके अनुसार 'अन्य पुरुष' के साथ विषयि-विषय संबंध स्थापित किए बिना व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध ही नहीं हो सकता। अतः अस्तित्ववाद एक ऐसे समाज की कल्पना करता है जो अपने मूल्य (नैतिक मूल्य) व्यक्ति की सहज प्रवृत्तियों का विकास करने की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए बनाए न कि उनके दमन को उद्देश्य मानकर। अब, ऐसा समाज जिसमें समाज और व्यक्ति के बीच कोई द्वंद्व न रहे, महज कल्पना है, एक असंभव लक्ष्य है किन्तु अस्तित्ववाद का आग्रह इस असंभव लक्ष्य को पाने का नहीं, इसकी ओर निरंतर बढ़ते जाने का है।

शिक्षा और चरित्र-निर्माण

शिक्षा के क्षेत्र में नैतिक मूल्यों का आग्रह बच्चे के चरित्र-निर्माण की दृष्टि से किया जाता है। लेकिन अक्सर यह आग्रह बच्चे के चरित्र को कमजोर करने या उसे पालतू बनाने का काम करता है। हम उस पर ऐसे मूल्य लादते हैं जो उसे स्वतंत्र रूप से जीने, सोचने और निर्णय लेने में अक्षम बनाते हैं और उसमें विषमता तथा अलगाव की भावना भरते हैं। यह गलतफहमी के कारण होता है। हम बच्चे को एक जंगली प्राणी मानते हैं जिसे सिखाना या पालतू बनाना शिक्षा का काम माना जाता है। किन्तु यह सत्य नहीं है। बच्चा स्वतंत्रता, समता और बंधुता के निरपेक्ष मूल्यों के साथ पूर्णत्व लिए आता है और इस पूर्णत्व को जीना चाहता है। अपनी पार्थिव सीमाओं में जीने की प्रक्रिया में उसे अपना पूर्णत्व खोना पड़ता है। शिक्षा का काम है उसके विकास में इस तरह मदद देना कि उसके पूर्णत्व का उसकी मूलभूत क्षमताओं का विकास हो तथा उनका कम से

कम क्षय हो।

महात्मा गाधी ने शिक्षा का लक्ष्य बताया है बच्चे की भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियो को बाहर लाना और उनका विकास करना। यह शिक्षा की सही दृष्टि है जिसमे यह मानकर चला जाता है कि बच्चा खाली घड़ा या मिट्टी का लोंदा नही है जिसमे बाहर से कुछ भरा जाना है या जिसे ठोक-पीट कर किसी उपयोगी पदार्थ मे बदला जाना है। बल्कि इसमे माना जाता है कि वह पूर्ण है, उसके भीतर ही वे तमाम गुण हैं जो आदमी को समाज का उपयोगी सदस्य बनाते है तथा शिक्षा का काम उन शक्तियो का विकास करना है। बर्ट्रेंड रसेल ने भी बच्चे के चरित्र-निर्माण के लिए उसमे चार गुणो के विकास को आवश्यक माना है। ये चार गुण हैं शक्ति, साहस, बुद्धि और सहानुभूति। शक्ति का सम्बन्ध उसके शारीरिक स्वास्थ्य मे है और बुद्धि का उसके स्वस्थ मानसिक विकास से। साहस स्वतंत्र निर्णय की क्षमता की अभिव्यक्ति है और सहानुभूति अर्थात् दूसरो के सुख-दुख मे भागी होना, समता तथा बंधुता की भावना का द्योतक। वस्तुतः सभी अच्छे शिक्षा-शास्त्रियो ने इस सिद्धात को स्वीकार किया है किन्तु इसके अनुसार शिक्षा का ढाचा अभी बना नही है। आमतौर पर शिक्षा को समाज की वर्तमान जरूरतो के अनुरूप उपयोगी 'माल' तैयार करने के काम मे ही लगाया गया है। कभी बच्चों को अच्छा सैनिक बनाने का काम शिक्षा को सौंपा गया, कभी वैज्ञानिक, इजीनियर, अफसर, जज-वकील, डाक्टर या कोई महापुरुष बनाने का। समाज को जब जिस तरह के आदमियो की जरूरत हुई शिक्षा ने उसी तरह के आदमी गढने का काम किया।

शिक्षा की दो प्रमुख समस्याए हैं। एक है उन औजारों का विकास और परिष्कार करना जिनसे बच्चा आगे चलकर काम लेने वाला है और दूसरी है उसके चरित्र का निर्माण करना ताकि वह बाहर की दुनिया के साथ सही सम्बन्ध स्थापित कर सके तथा जीवन की विविध स्थितियों मे सही ढंग से निर्णय ले सके और काम कर सके। बच्चे का शरीर उसके औजारों का समुच्चय है। शरीर की दस इन्द्रिया तथा अतःकरण (जिसमें मन, चित्त, बुद्धि, अहकार सम्मिलित है) उसके औजार हैं। बच्चे की शिक्षा इन्द्रियो की क्षमता के विकास से शुरु होती है। स्कूलपूर्व की अवस्था में शिक्षा का लक्ष्य रहता है उसकी शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गध की क्षमताओं अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों का तथा हाथ, पैर आदि शरीर के अन्य अंगो अर्थात् कर्मेन्द्रियों का प्रशिक्षण। अक्षर-ज्ञान के बाद उसकी मानसिक शक्तियो का विकास किया जाता है और यह क्रम अंत तक चलता है। यह शिक्षा का स्थूल किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है। किन्तु वर्तमान शिक्षा प्रणालिया यह काम भी नहीं करती। इसमें यह बात निहित है कि बच्चे को सिखाया जाए कि उसे अपनी बुद्धि अहकार मन की कल्पना या चित्त की स्मृतियों का किस प्रकार

इस्तेमाल करना है। किन्तु हमारी शिक्षा-प्रणाली बच्चे में मात्र कुछ उपयोगी जानकारी ठूंसकर अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेती है। बच्चे को वह कम्प्यूटर मानकर चलती है जिसमें कुछ जानकारी भरी जानी होती है ताकि उसका समय पर उपयोग किया जा सके।

मनुष्य के आस-पास बिखरी सारी वस्तुएं, जिनमें उसका शरीर भी शामिल है, उसके औजार या साधन हैं जिनका उपयोग वह किसी साध्य या लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए करता है। लक्ष्य का उसे स्वयं (स्वतंत्र इच्छा से) निर्धारण करना होता है। यदि लक्ष्य किसी दूसरे के द्वारा निर्धारित होता है तो वह खुद भी औजार बन जाता है क्योंकि तब कोई दूसरा अपने लक्ष्य के लिए उसका इस्तेमाल कर रहा होता है। आदमी खुद कर्ता न बनकर किसी का औजार बने यह आदमी का पतन है। जहां तक औजारों का काम है बच्चे को उनका ज्ञान और उनके इस्तेमाल का टेक्नीक सिखाना जरूरी है। शिक्षा का काम है बच्चे को इन औजारों अर्थात् विभिन्न वस्तुओं और पदार्थों के सम्पर्क में लाना और इनके उपयोग की विधि सिखाना। एक औजार से काम लेने के लिए हमें दूसरे, तीसरे, चौथे औजार की जरूरत पड़ सकती है। दीवार पर तस्वीर टांगने के लिए कील की जरूरत होगी। कील ठोकने के लिए हथौड़ी और दीवार की ऊंचाई में हथौड़ी चलाने के लिए स्टूल की जरूरत होगी। औजारों की इस शृंखला के अंत में आएगा हमारा शरीर, हमारे हाथ, पैर, आंख, मुंह, मस्तिष्क आदि। इन सभी औजारों के सही और कुशल उपयोग का प्रशिक्षण देना शिक्षा का एक काम है और यह काम भी बहुत महत्त्वपूर्ण है।

किन्तु उसका दूसरा काम अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह काम है बच्चे को इस बात का प्रशिक्षण देना कि वह अपने लक्ष्य का चुनाव कैसे करे जिसे प्राप्त करने के लिए उसे अपने औजारों का इस्तेमाल करना है। पहला काम कौशल का विकास है और दूसरा काम चरित्र का विकास। चरित्र में वे तमाम गुण आते हैं जो उसे अपना लक्ष्य निर्धारित करने और उसकी ओर बढ़ने में सहायक होते हैं। इन्हें नैतिक मूल्य भी कहा जाता है। इनमें से कुछ मूल्यों का सम्बन्ध स्वयं से होता है और कुछ का दूसरों के साथ अर्थात् कुछ का भीतरी दुनिया से और कुछ का बाहरी दुनिया से। लेकिन यह भेद बहुत सूक्ष्म होता है और बारीकी से देखने पर तो यह गायब ही हो जाता है। मैं क्या खाता हूं, क्या पहनता हूं, किस चीज को पसंद या नापसंद करता हूं यह मेरा व्यक्तिगत मूल्य हो सकता है किन्तु मेरी इन व्यक्तिगत रुचियों को मेरा माहौल, मेरे संगी-साथी, मेरा समाज भी तय करता है और ये रुचियां उस माहौल और उस समाज को प्रभावित करती हैं। सच बोलना मेरा व्यक्तिगत मूल्य भी है और सामाजिक मूल्य भी है। चोरी न करना सामाजिक मूल्य है किन्तु यह व्यक्तिगत मूल्य भी है क्योंकि यह मेरे मन को दुर्बल

और भीरू बनाता है। अहिंसा सामाजिक मूल्य ही नहीं है, यह मेरे मन को वैर-मुक्त और शक्तिशाली भी बनाती है। शौच मात्र शारीरिक स्वास्थ्य का मूल्य नही है यह शरीर को (जो मात्र साधन है) आत्मा मानने की गलती से हमें बचाता है (योग की भाषा मे स्वांगजुगुप्सा पैदा करता है)। अपरिग्रह केवल व्यक्ति के लिए ही अच्छा नहीं है, यह सामाजिक मूल्य भी है। लोभ व्यक्ति का भी क्षय करता है और समाज के लिए भी बुरा है। मद आदमी की बुद्धि को भी भ्रष्ट करता है और समाज मे अशांति तथा हिंसा भी फैलाता है। इन मूल्यो की सूची बहुत लम्बी हो सकती है। नैतिक-शास्त्रियो का काम इनकी सूची तैयार करना रहा है। भारत और ग्रीक के दार्शनिको तथा कई अन्य दार्शनिको एव नीतिशास्त्रियो ने इन सारे मूल्यों का समाहार सत्य, शिव और सुन्दर के प्रत्ययो मे किया है।

लेकिन ये मूल्य आदमी मे बाहर से इंजेक्शन देकर नहीं भरे जा सकते। ये हर आदमी के भीतर मौजूद होते हैं और शिक्षा का काम उन्हें विकसित करना होता है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली यह काम करने मे असमर्थ है क्योंकि यह व्यवस्था का अग है तथा उसे उस व्यवस्था की जरूरतों को पूरा करना होता है। राजनैतिक, सामाजिक या धार्मिक व्यवस्थाए जिन मूल्यो को अपने लिए फायदेमद समझती है उन्ही को शिक्षा के माध्यम से बच्चो में भरती है और प्रत्येक व्यक्ति को अपने ढंग से स्वयं विकास करने का मौका न देकर उसे अपनी जरूरत के मुताबिक ढालती हैं। यह एक तरह से आदमी को पालतू बनाने की प्रणाली है। बच्चे मे सत्य, शिव और सुन्दर की भावनाएं मजबूत हों, इसमे व्यवस्थाओं को कोई लाभ नही दीखता। उन्हें लाभ इस बात मे है कि बच्चे बडो का कहना मानें, झूठ न बोलें, माता-पिता और गुरु के चरण छुएं, ईश्वर की प्रार्थना करें, देश-भक्ति की भावना मन मे लाएं और उसके लिए जान देने को तैयार हो, राज्य और समाज के कानूनों-नियमों का पालन करें, रस्मो और परम्पराओं के अनुसार चलें आदि-आदि। ये सतही मूल्य कभी डंडे का डर दिखाकर भरे जाते हैं, कभी कोरे उपदेशों के द्वारा, इसलिए शिक्षण संस्थाओ से बाहर निकलते ही बच्चे इन मूल्यों का उपहास करने लगते हैं। इसके साथ-साथ उनमें कुछ उपयोगी जानकारी भरी जाती है ताकि वे व्यवस्था के कल-पुर्जों के रूप मे कुछ काम कर सकें। ऐसी शिक्षा-प्रणाली से जो बच्चे निकलते हैं उनमें आमतौर पर आत्मविश्वास की कमी होती है। वे खुद अपने निर्णय नहीं ले सकते और चाहते हैं कि कोई दूसरा उनके जीवन से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण फैसले करे। वे फिल्म-दूरदर्शन के सितारो की नकल करते हैं, कम्पनियों के विज्ञापन देखकर अपनी रुचियां तय करते हैं, फैशन की लहर मे बह जाते हैं, और यहां तक कि अपना जीवन-साथी चुनने में भी मम्मी-पापा का मुह जोहते है। मानवीय सम्बन्धों की उनकी जानकारी फिल्मों और घटिया साहित्य तक सीमित होती है। वे अच्छी नौकरी, अच्छी बीवी (जो सती सावित्री हो) और

ऐश की जिन्दगी को अपने जीवन का परम लक्ष्य मानते हैं। भावनाओं मे इतने अपरिपक्व होते हैं कि उनकी किशोरावस्था चालीस-पैंतालीस साल की अवस्था तक बनी रहती है।

अस्तित्ववाद की नैतिकता

अस्तित्ववाद बाहर से थोपी जाने वाली इस सारी नैतिकता के खिलाफ विद्रोह है इसलिए सतही ढंग से सोचने वालों ने अस्तित्ववाद को नैतिकताहीन दर्शन कहा। यह धारणा विशेषकर अस्तित्ववादी लेखकों की साहित्यिक रचनाओं के पढ़ने के बाद बनती है। अधिकतर ये रचनाएं अस्तित्ववाद के सिद्धान्तो के प्रतिपादन के लिए दृष्टान्त के रूप में लिखी गई हैं। उदाहरण के लिए अस्तित्ववाद आदमी की स्वतन्त्र इच्छा और स्वतन्त्र कर्म को इतना महत्त्व देता है कि अस्तित्ववादी साहित्य के पात्र स्थितियों के दबाव से मुक्त होकर अचानक कुछ अप्रत्याशित काम करते हैं अथवा थोपी गई नैतिकताओं के खिलाफ विद्रोह करने के लिए ऐसे काम करते हैं जो लोगो को अनैतिक लगते हैं। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि अस्तित्ववाद नैतिकता-विरोधी दर्शन है।

अलबत्ता, अस्तित्ववाद उस नैतिकता को नैतिकता नहीं मानता जो ऊपर से थोपी जाती है और जिसे आदमी अपने स्वतन्त्र चुनाव द्वारा नहीं अपनाता। उसका मानना है कि चूंकि स्वतन्त्रता मानव-चेतना का स्वभाव है, सारे नैतिक मूल्यों का उत्स स्वतन्त्रता है। सत्य, शिव और सुन्दर के प्रत्यय, जिन्हें आदर्शवादी विचारधाराओं ने सारे नैतिक मूल्यों का उत्स माना भी अस्तित्ववाद की दृष्टि में निरपेक्ष मूल्य नहीं हैं। आदर्शवादी विचारधाराओं ने सत्य, शिव और सुन्दर को निरपेक्ष मूल्य माना और उनमें ईश्वर को देखा या उन्हें ईश्वर, ब्रह्म आदि प्रत्ययों का गुण कहा। अस्तित्ववाद ने इन्हें मानव-स्वतन्त्रता से निकले हुए मूल्य माना। आदर्शवादियों का कहना था ईश्वर ही सत्य है, शिव है और सुन्दर है। इसका अर्थ था कि ये मूल्य मानव-अस्तित्व से पहले मौजूद थे। अस्तित्ववाद अस्तित्व से पूर्व किसी विचार को नहीं मानता। अस्तित्ववादियों ने कहा मानव-स्वतन्त्रता ही सत्य, शिव और सुन्दर है। महात्मा गांधी ने भी 'ईश्वर ही सत्य है' कहने के बजाय 'सत्य ही ईश्वर है' कहा और उनका सत्य था स्वतन्त्रता। इसका अर्थ था जिसने स्वतन्त्रता को पा लिया उसने मानो ईश्वर को पा लिया, सत्य, शिव और सुन्दर को पा लिया और इनकी ओर ले जाने वाले तमाम नैतिक मूल्यों को पा लिया। इस प्रकार अस्तित्ववादियों ने स्वतन्त्रता को निरपेक्ष मूल्य माना और जैसा कि पीछे कहा गया कि स्वतन्त्रता के साथ समता और बंधुता का अविच्छिन्न सम्बन्ध है, अतः स्वतन्त्रता, समता और बंधुता, मानव-चेतना के ये स्वभावगत मूल्य ही **निरपेक्ष मूल्य हैं और तमाम नैतिक मूल्य (सत्य शिव और सुन्दर सहित) इन**

निरपेक्ष मूल्यों से निर्धारित होते हैं।

नैतिकता के सम्बन्ध में यह धारणा बहुत क्रान्तिकारी है। इसमें यह अभिप्राय निहित है कि जो काम हमें स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता की ओर ले जाए वह नैतिक है, जो इन तीनों मूल्यों का दमन करे या उनके विरुद्ध करे वह अनैतिक है। समाज, राज्य अथवा धर्म द्वारा आदमी पर लादे गए नियम-कायदे और नैतिक मूल्य अनैतिक हैं किन्तु मनुष्य अपने स्वतन्त्र निर्णय द्वारा इन मूल्यों को यदि अपनाता है तो वे अनैतिक नहीं हैं। सार्त्र का कहना है कि मानव-चेतना अपनी तथ्यात्मकता (फैक्टिसिटी) से छुटकारा नहीं पा सकती और यह तथ्यात्मकता मानव-चेतना की स्वतंत्रता की अनिवार्य बाधा है। यदि किसी का कद छोटा है तो स्वतन्त्र इच्छा उसके कद को बड़ा नहीं बना सकती। स्वतन्त्र इच्छा का प्रयोग तथ्यात्मकता की सीमाओं में करना होता है। वह स्वतन्त्र इच्छा से निर्धारित लक्ष्य को तथ्यात्मकता के दबाव के कारण छोड़ भी सकता है। सार्त्र किसी पर्वतीय स्थल की कठिन यात्रा करने वाले कुछ यात्रियों का उदाहरण देते हैं जिनमें से एक थकान की वजह से अधबीच में ही यात्रा का विचार छोड़ देता है। सार्त्र का कहना है कि अपने पूर्व निर्धारित लक्ष्य को छोड़ना या उसमें संशोधन करना भी स्वतन्त्र इच्छा का प्रयोग है। इसमें एक लक्ष्य के अन्त और दूसरे लक्ष्य के प्रारम्भ के क्षण में स्वतन्त्र इच्छा का प्रयोग निहित है। कहने का अभिप्राय यह कि स्वतन्त्रता के अंकुश भी स्वतन्त्र मन से स्वीकार किए जाने चाहिए। सामाजिक नियम या राजनैतिक कायदे-कानूनों को जब मनमाने ढंग से थोपा जाता है तो उनका विरोध किया जाना चाहिए, किन्तु यदि इन्हें आपस में मिल-बैठकर स्वयं तय किया जाता है तो उन्हें स्वीकार किया जाना चाहिए। सार्त्र खेल को सर्जनात्मक क्रिया इसलिए मानते हैं कि वे अपने बनाए नियमों से खेला जाता है। दूसरे शब्दों में पूर्ण लोकतांत्रिक व्यवस्था के नियम नैतिक हैं किन्तु किसी भी प्रकार की तानाशाही के अंकुश अनैतिक हैं।

सत्य, शिव और सुन्दर को ग्रीक दार्शनिकों ने ईश्वर या स्वर्ग के गुण कहा जो मानव के मन में पूर्वस्थिति (ईश्वर के सान्निध्य की स्थिति) की स्मृति के रूप में विद्यमान रहते हैं। यह मान्यता सारे धार्मिक समाजों में है। यूरोप के नवजागरण काल के बाद 17वीं से 19वीं शताब्दी के कुछ दार्शनिकों ने इन्हें ईश्वर से जोड़े बिना भी शाश्वत मूल्य माना। किन्तु अस्तित्ववाद इन्हें शाश्वत मानने के लिए तैयार नहीं है। वह इन्हें मानव स्वतन्त्रता से (जो मानव-अस्तित्व का ही दूसरा नाम है) निकले हुए मूल्य मानता है। सत्य के सम्बन्ध में अस्तित्ववादियों का मानना है कि निरपेक्ष सत्य हो ही नहीं सकता। पदार्थ या सृष्टि की वस्तुएं अपने समूचे रूप को कभी प्रकट नहीं करतीं। हम उनके आंशिक सत्य को ही पकड़ सकते हैं और इसे हम अपनी स्वतन्त्र इच्छा की शक्ति से पकड़ते हैं। दूसरे शब्दों

मे सत्य स्वतन्त्रता पर निर्भर है। इसी तरह शिव के बारे मे भी कहा जा सकता है कि जो मूल्य हमे स्वतन्त्रता की ओर ले जाए, समता और बंधुता की ओर ले जाए, वह शिव और कल्याणकारी है तथा जो हमे गुलामी दे, हमारे मन मे भेद-भाव और विद्वेष की भावनाए पैदा करे वह अशिव है। सौंदर्य के सम्बन्ध मे भी यही बात लागू होती है। जो हमे स्वतन्त्रता, समता और बधुता का अहसास कराए वही सुन्दर है और जो इसके विपरीत हो वह असुन्दर।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शिक्षा का परम लक्ष्य है बच्चे मे स्वतत्रता, समता और बधुता की भावनाओ को मजबूत करना। ऐसा करने पर तमाम नैतिक मूल्य बच्चे में स्वत ही आ जाएगे और यदि शिक्षा बच्चे की स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति और निर्णय-शक्ति को कुचलती है, उसे ऊंची-नीची सीढ़ियो मे विभाजित करती है या अपने से भिन्न व्यक्तियो एव समूहों के प्रति उसके मन मे द्वेष की भावना पैदा करती है तो वह बच्चे मे नैतिक भावना का विकास नही कर सकती।

जो बच्चा स्वतन्त्रता, समता और बंधुता की अपनी मूल प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक हो जाता है और उन्हें जीने लगता है वह कायर और डरपोक नही होगा, उसमें साहस का गुण स्वत: आ जाएगा क्योकि उसके निर्णय अपने निर्णय होगे और वह उनका उत्तरदायित्व स्वय वहन करेगा। वह किसी का पिछलगू नही होगा, किसी का अनुकरण नही करेगा, उसके हर काम मे मौलिकता होगी। वह सृजनशील होगा क्योकि स्वतंत्रता के प्रयोग से ही सृजनशीलता आती है। वह चोरी, झूठ, फरेब, छलकपट आदि बुराइयों से मुक्त होगा क्योकि ये बुराइयां तब आती हैं जब कोई सत्य से आखें चुराता है और आत्मविश्वास खो देता है। वह किसी को अपने से छोटा मानकर उसका अपमान नही करेगा। किसी को अपना शत्रु नहीं समझेगा। वह किसी के बहकावे मे नहीं आएगा। असफलता मिलने पर इतना हताश नही होगा कि आत्महत्या या अपराधवृत्ति की ओर चला जाए। वह किसी का मन जानबूझकर नही दुखाएगा। किसी से घृणा नहीं करेगा क्योकि वह सबको अपने समान समझेगा और सबके साथ बंधुता का रिश्ता जोड़ेगा। वह हिंसा की ओर उन्मुख नही होगा क्योकि यह स्वतन्त्रता-विरोधी भाव है। उसमे अहकार या दभ नहीं होगा। वह वचन का पक्का होगा और किसी को धोखा देने की उसमे प्रवृत्ति नही होगी। बड़ी से बडी मुश्किल मे भी कर्तव्य से पलायन नही करेगा। वह अपने समाज-राष्ट्र के प्रति अधिक जिम्मेदारी का रुख अपनाएगा क्योकि ये निष्ठाए उसकी स्वत: स्वीकृत होगी। किसी के द्वारा लादी गई नही। वह जिस भी सस्था का काम करेगा उसके प्रति वह पूरा वफादार रहेगा और उन संस्थाओं को लक्ष्य-भ्रष्ट होने से बचाएगा। वह खुद स्वाभिमान से जिएगा और दूसरे के   को ठेस नहीं पहुचाएगा   वह   के आगे आत्म

समर्पण नहीं करेगा और कमजोर को नहीं सताएगा। वह आत्मकेन्द्रित नहीं होगा बल्कि सबके सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझेगा। वह उदार होगा, कट्टर और मतांध नहीं होगा। वह बेहतर नागरिक, बेहतर शिक्षक, जज-वकील, राज-नेता या सरकारी कर्मचारी होगा। यह नया आदमी होगा।

क्या वर्तमान शिक्षा-प्रणाली इस नये आदमी के निर्माण का दायित्व ले सकती है? जाहिर है यह काम उसकी क्षमता से बाहर है। यह शिक्षा-प्रणाली आज भी औपनिवेशिक गुलामी की मानसिकता को नहीं छोड़ पाई है। मैकाले की शिक्षा-नीति का उद्देश्य औपनिवेशिक तंत्र के लिए क्लर्कों और बाबुओं का निर्माण करना था। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य भी यही है हालांकि अब हम क्लर्कों-बाबुओं के अलावा डॉक्टर, इंजीनियर, जज-वकील, ब्यूरोक्रेट भी तैयार कर रहे हैं। किंतु शिक्षा का लक्ष्य वही है—व्यवस्था को चलाने के लिए उपयोगी कर्मचारियों (पुर्जों) का निर्माण। हम कुछ कौशल सिखाकर, कुछ जानकारी भर अपने लिए या विदेशों के लिए मजदूर-कर्मचारी तैयार कर रहे हैं। हम निर्यात के लिए डॉक्टर, इंजीनियर और वैज्ञानिक तैयार कर रहे हैं जो उपनिवेश काल की गिर-मिटिया प्रथा से भिन्न नहीं है। शिक्षा के मामले में हमारी अपनी कोई दृष्टि, कोई सोच नहीं। विश्व-बाजार के लिए माल तैयार करने का अभियान ही चल रहा है। बच्चा इस शिक्षा की दृष्टि में कच्चा माल या 'संसाधन' बन गया है। जहाँ तक नैतिक भावना की बात है इस शिक्षा-प्रणाली से निकले बच्चों में न तो आत्म-विश्वास होता है और न अपने पैरों पर खड़ा होने की क्षमता। नौकरी के अलावा वे कुछ नहीं कर सकते और नौकरियों में कमी होने की आशंका होती है तो वे बसें जलाने, दंगे करने और आत्मदाह करने पर उतर आते हैं। ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र, सृजनशील और अपनी पूर्ण क्षमताओं का उपयोग करने वाले नये आदमी के निर्माण का दायित्व साहित्य-कलाओं पर आता है जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

साहित्यिक दिशाएं

(नया साहित्य)

पूर्व पृष्ठों की चर्चा से यह स्पष्ट होगा कि अस्तित्ववाद एक सम्पूर्ण जीवन-दर्शन है और यह एक समूची जीवन-प्रणाली या सभ्यता का आधार बन सकता है। यह दर्शन आदर्शवादी अथवा प्रत्ययवादी विचारधाराओ के विरोध से निकला जिन्होंने ऐसे समाजों का निर्माण किया जिनमें व्यक्ति के रूप मे मनुष्य के अस्तित्व को नकारा गया और आदर्शों की सत्ता रूपी व्यवस्थाओं को मनुष्य के ऊपर मजबूती से स्थापित किया गया। विशेष रूप से यह औद्योगिक क्रांति के गर्भ से निकली आधुनिक सभ्यता के खिलाफ विद्रोह था जिसे पश्चिमी सभ्यता भी कहा जाता है और जिसके पूंजीवादी लोकतन्त्र और साम्यवादी तानाशाही (भले ही सर्वहारा की हो) दो प्रसिद्ध रूप अस्तित्ववादियो के सामने थे। अस्तित्ववादियो ने दोनो को अस्वीकार किया हालांकि वे किसी नई प्रणाली की स्पष्ट कल्पना नही कर सके।

पश्चिमी सभ्यता के बारे मे सार्त्र ने अपनी पुस्तक 'साहित्य क्या है ?' मे लिखा कि यह सभ्यता मृतप्राय है और एक भयानक युद्ध उसे नष्ट करने वाला है। वर्तमान समय को एक नई विचारधारा की जरूरत है जो आदमी को जिंदा रहने की स्थितियां उपलब्ध कराए।

अस्तित्ववादियो की नजर मे आदमी के जिंदा रहने की स्थिति है उसकी स्वतन्त्रता की रक्षा। साम्यवाद की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध मे सार्त्र ने कहा कि इसकी स्वतन्त्रता हीगेल की स्वतंत्रता है जिसका मतलब है विवशता को स्वीकार करना। पश्चिमी लोकतन्त्र की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में सार्त्र ने लिखा कि इसके नाम पर गुलामी की प्रथा को भी अमरीका में उचित सिद्ध किया जाता रहा है। इसके अन्तर्गत अन्यायी अन्याय करने के लिए स्वतन्त्र है और पीडित अन्याय सहने के लिए स्वतन्त्र है।

किन्तु अस्तित्ववादियो के विचारों ने किसी प्रणाली का रूप ग्रहण नही किया क्योंकि यह आंदोलन मुख्यतया साहित्य और कलाओ के क्षेत्र मे चला। तथापि साठ के दशक के अन्तिम वर्षों में इसने युरोप के छात्र मजदूर आंदोलनो को जन्म दिया जिनमें आधुनिक पश्चिमी सभ्यता के मूल्यों को चुनौती दी गई और एक नई

सभ्यता की खोज आरम्भ हुई जिसे आधुनिकोत्तरवाद कहा गया। यद्यपि आधुनिकोत्तरवाद शब्द की व्याख्या अमरीकी बुर्जुआ अपने उत्कर्ष एवं वर्चस्व और जनवादी साम्यवाद अपने उत्कर्ष एवं वर्चस्व के रूप में कर रहा है किन्तु वस्तुतः यह एक नई मानव सभ्यता की सुगबुगाहट है और इसके लिए सबसे उपयुक्त भूमि तीसरी दुनिया है विशेषकर भारत जहां पश्चिमी सभ्यता के पूंजीवादी और साम्यवादी रूपों से बहुत पहले मोह-भंग हो चुका था। इसकी प्रतिध्वनि हमें गांधी-लोहिया आदि के विचारों मिलती है।

बहरहाल, इस नई मानव-सभ्यता के उदय में सबसे बड़ी भूमिका साहित्य और कलाओं को ही निभानी है क्योंकि मूल्यों की स्थापना का सबसे अच्छा माध्यम साहित्य ही होता है। दार्शनिक तर्क या उपदेश मात्र इस काम में असमर्थ होते हैं अतः अस्तित्ववाद और उसके विकास की साहित्यिक सम्भावनाओं पर विचार करना आवश्यक है।

अस्तित्ववाद की साहित्यिक दृष्टि

अस्तित्ववाद की साहित्यिक दृष्टि को समझने के लिए सार्त्र की पुस्तक 'व्हट इज लिटरेचर' (साहित्य क्या है) को आधार बनाया जा सकता है। पुस्तक के एक निबन्ध '1947 में लेखक की स्थिति' में सार्त्र ने लिखा . "हम तीसरी पीढ़ी के लेखको की स्थिति जिन्होने दूसरे विश्वयुद्ध के आस-पास लिखना शुरू किया, चार्ल्स बावरी जैसी थी जिसे पत्नी की मृत्यु के बाद उसके प्रेम पत्रों को पढ़कर ऐसा लगा कि उसका बीस साल का सुखी वैवाहिक जीवन अचानक गायब होता जा रहा है।"

यह स्थिति तब बनी जब हिटलर और स्टालिन की दोस्ती हुई, हिटलर की नाजी सेनाओ ने फ्रांस पर अधिकार कर लिया और फ्रान्स के लेखकों को अपनी आजादी की रक्षा के लिए प्रतिरोध आंदोलन चलाना पड़ा। उन्होंने देखा कि पाठ्य-पुस्तको के रूप में बच्चो को पढ़ाए जाने के लिए या शाश्वतता अथवा अमरता का पद पाने के लिए जो साहित्य अब तक लिखा जा रहा था, वह उनके काम का नहीं है। स्थितियों से तटस्थ या बेलाग रह कर लिखा गया साहित्य मनोविलास ही हो सकता है। उन्होंने निश्चय किया कि स्थितियों में रहते हुए, इतिहास की प्रक्रिया मे सलग्न रहते हुए तथा अपनी आजादी की रक्षा का सघर्ष करते हुए साहित्य लिखा जाना चाहिए। उन्होने आत्यंतिक स्थितियों का साहित्य लिखने का निश्चय किया। उन्होंने कहा कि हम सौन्दर्य को रूप और पदार्थ से परिभाषित नहीं कर सकते, हमे उसे मनुष्य के भविष्य के सन्दर्भ में परिभाषित करना होगा। प्रतिरोध आंदोलन मे इन लेखको ने आततायी-सत्ता के खिलाफ हर तरह से विद्रोह किया। उन्होंने रेल-गाड़ियों को ध्वस्त किया, पुल तोड़े कानून की अवज्ञा की झूठ भी बोला अर्थात्

आज़ादी के लिए हर कष्ट को जायज माना. घोर यातनाए मिलने पर भी अपने निश्चय से नही डिगे और अपनी आज़ादी का सौदा नहीं किया। इस प्रकार उन्होने देखा कि स्वतन्त्रता के दो रूप है—निषेध और निर्माण। निषेध के द्वारा आदमी अतीत को अस्वीकार करता है और निर्माण अपने भविष्य को स्वतन्त्र रूप से चुनने मे है। उन्होंने निश्चय किया कि उन्हे उपभोग का साहित्य नही लिखना है जिसमें होने या जीने का आनन्द ही प्राप्त करना, बल्कि उन्हे ऐसा साहित्य लिखना है जिसमे जीने का मतलब ही कर्म करना। सार्त्र ने लिखा. "उपभोग के साहित्य के स्थान पर निर्माण के साहित्य को अपनाकर हम यह दावा नही करते कि हमने साहित्य लेखन की कला का मूल मंत्र प्राप्त कर लिया है। संभव है यह विचार भी जल्दी ही पुराना पड़ जाए। लेकिन हम यह मानते है कि एक समाजवादी व्यवस्था मे ही तटस्थता और संलग्नता, निषेध और निर्माण का लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है, जिसे सम्पूर्ण साहित्य की संज्ञा दी जा सकती है।"

अपनी आज़ादी के लिए लिखने वाला लेखक किसी भी पार्टी को अपना वोट तो दे सकता है किन्तु अपनी लेखनी से किसी पार्टी की सेवा नहीं कर सकता। सार्त्र ने लिखा: "हमारा मार्गदर्शक सिद्धांत यह होना चाहिए कि सम्पूर्ण स्वतंत्रता के अधिकार का अर्थ है औपचारिक और भौतिक दोनों प्रकार की स्वतंत्रता। ... अन्याय और अनाचार की बढ़िया शैली में भर्त्सना करना ही काफी नही है, न पूंजीवादी व्यवस्था के नकारात्मक पहलुओं का विद्वत्तापूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करना काफी है और न ही साहित्य की रक्षा के लिए समाजवादी पार्टियों की लेखनी से सेवा करना। ...हमें उन सब पार्टियों से दूर रहना चाहिए जो समाजवाद को निरपेक्ष लक्ष्य कहती हैं। हमारी नजर में यह अन्तिम लक्ष्य नही, अन्तिम लक्ष्य की शुरुआत होनी चाहिए। अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए आदमी को उसकी स्वतंत्रता देना।"

सार्त्र ने कहा कि पूंजीवादी दृष्टि विश्लेषणात्मक है जबकि वे मानव की संश्लिष्ट कल्पना को लेकर चलते हैं। पूंजीवादी अथवा वैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार आदमी आक्सीजन, हाइड्रोजन आदि प्राकृतिक पदार्थों की तरह अपरिवर्तनीय और निर्विकार है। इसकी अभिव्यक्ति 'सभी मनुष्य बराबर हैं' जैसे कपट-वाक्यो मे होती है जो विश्लेषणात्मक समाज के अन्तर्विरोधों को ढकने का काम करते हैं। संश्लेषणात्मक दृष्टि में यह मान कर चला जाता है कि समग्र का मतलब अंशों का जोड़ मात्र नही होता। हमारी दृष्टि मे मानव की समानता उसके स्वभाव मे नहीं होती बल्कि उसकी स्थितियों में, स्थितियो के दबावों मे, मरने और जीने की अनिवार्यताओं में होती है। हर व्यक्ति अपने में पूर्णता, समग्रता है। चूंकि आदमी समग्रता है अतः उसे केवल वोट का अधिकार देना काफी नहीं है, उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले अन्य कारकों की ओर भी ध्यान देना होगा। दूसरे शब्दो में

हमें उसे पूर्ण स्वतन्त्र बनाना होगा।

सार्त्र ने कहा : "स्वतन्त्रता अभिशाप हो सकती है, बल्कि है भी। किन्तु यह मानव की महानता का एकमात्र स्रोत भी है।" यदि समाज व्यक्ति को बनाता है तो व्यक्ति भी समाज को बनाता है।"

अपने निबन्ध 'साहित्य क्या है?' में सार्त्र कविता की तुलना में गद्य का पक्ष लेते हुए दिखाई देते हैं। इस आरोप के उत्तर में कि वे कविता को हीन दृष्टि से देखते हैं, सार्त्र कहते हैं : "कवि शब्दों का उपयोग नहीं करता, वह शब्दों की आज्ञा का पालन करता है। कवि भाषा का उपयोग करने से बचता है और न ही वह स्थितियों को नाम देता है और इस प्रकार वह वस्तुत: नाम देने से कतराता है क्योंकि नाम देने का अर्थ है जिस विषय को नाम दिया जाना है उसके लिए नाम (शब्द) का बलिदान।" नाम देने से विषय या वस्तु फोकस में आ जाती है, शब्द गैरजरूरी हो जाता है। अतः सार्त्र कहते हैं कि गद्य-लेखक के लिए शब्द पालतू और उपयोगी औजार होते हैं जबकि कवि के लिए ये शब्द धरती पर स्वच्छन्द रूप से उगने वाली घास और पेड़ों की तरह होते हैं। कवि शब्दों से मोहित होता है अतः वह उनसे खेलता है। वह स्थितियों का निरावरण करने में शब्दों से काम नहीं लेता। गद्य-लेखक का लक्ष्य व्यक्तियों के चरित्र और स्थितियों के सही स्वरूप को उद्घाटित करना होता है और इस काम में वह शब्दों से अनुचरों की तरह काम लेता है। नाम लेने का अर्थ है व्यक्ति और समाज का चेहरा न केवल उस व्यक्ति और समाज के लिए बल्कि सभी के लिए उद्घाटित करना और उस व्यक्ति या समाज को यह बोध कराना कि उन्हें और कोई भी देख रहा है। यह बहुत जोखिम का काम है जिससे कविता आमतौर पर बचती है किन्तु गद्य लेखक नहीं बच सकता। गद्य-लेखक का वस्तुओं और व्यक्तियों को उद्घाटित करने का काम निर्माण के प्रयोजन से होता है। यह सृजन है क्योंकि वह उद्घाटन के द्वारा स्थितियों को बदलना चाहता है। व्यक्ति और समाज अपने सही रूप को प्रेम, घृणा, क्रोध, भय, सुख, तिरस्कार और प्रशंसा, आशा और निराशा आदि से व्यक्त करते हैं और लेखक इन्हीं के माध्यम से सत्य को उद्घाटित करता है।

उद्घाटन के द्वारा लेखक समाज को और व्यक्ति को उसकी अपनी छवि दिखाता है जैसे आइना व्यक्ति को उसकी छवि दिखाता है। समाज अपनी कुरूपता को नहीं देखना चाहता इसलिए लेखक और समाज अथवा व्यवस्था के बीच शाश्वत टकराव चलता है। समाज के रूढ़िवादी तत्त्व जिस संतुलन को बनाए रखना चाहते हैं, लेखक उन्हें उलटता रहता है। इस प्रकार नाम लेने (उद्घाटित करने) का अभिप्राय है सबको दिखाना और दिखाने का अर्थ है परिवर्तन करना।

व्यवस्था के लिए लेखक का काम निष्प्रयोजन, व्यर्थ तथा बाधक मात्र होता है। इसलिए कोई भी व्यवस्था लेखक को उसका उचित पारिश्रमिक नहीं देती।

उसका केवल भरण-पोषण किया जाता है, समय के अनुसार कभी अच्छा और कभी बुरा। समाज की नजरों में लेखक इसलिए कटक होता है क्योंकि वह समाज को उसका अपना चेहरा दिखाकर उसमें अपनी कुरूपता का आत्मबोध जगाता है। लेखक का काम इसलिए बेकार और अनुपयोगी माना जाता है क्योंकि उपयोगिता की परिभाषा समाज अपने मूल्यों, उद्देश्यों और संगठनों के हित की दृष्टि से करता है और ये मूल्य तथा लक्ष्य पहले से तय होते हैं।

गद्य-लेखन की तुलना में कविता के प्रति सार्त्र का उपेक्षा-भाव इसलिए था कि कवि जब शब्दों से खेलने लगता है तो उसका कथ्य, मनोभाव, राग-बोध आदि यदि कविता में आते भी हैं तो भी शब्दों का सम्मोहन उन पर हावी हो जाता है और उनका स्वरूप बदल जाता है। दूसरे शब्दों में कविता व्यवस्था के साथ सीधे टकराव में बचती है।

स्मरणीय है कि सार्त्र इन शब्दों को लिखते समय अपनी समकालीन कविता पर टिप्पणी कर रहे थे जो मुख्यतया प्रयोगवादी या 'सुरियलिस्ट' थी और शब्द-जाल में फंसी थी। सार्त्र अश्वेत कविता के बड़े प्रशंसक थे। अमरीका की अश्वेत कविता के एक संग्रह की समीक्षा के रूप में लिखे गए लेख 'दि ब्लैक ऑर्फियस' में वे स्वीकार करते हैं कि अपने पूरे तीखेपन के साथ आजादी की चाह को व्यक्त करने वाली ये कविताएं केवल अश्वेत लोगों को ही नहीं छूती हैं, श्वेत भी इनके सौन्दर्य को ग्रहण कर सकते हैं। इनकी संवेदना सार्वभौम बन जाती है।

संक्षेप में सार्त्र लेखन की एकमात्र प्रेरणा स्वतन्त्रता को मानते है। लेखक इसलिए लिखता है क्योंकि यह स्वतन्त्रता को जीने का रास्ता है। वह स्वतन्त्रता की तमाम बाधाओं के साथ—ईश्वर, धर्म, समाज और राजनीति की सत्ताओं के साथ—निरन्तर युद्ध की स्थिति में होता है। कविता (अश्वेत कविता अपवाद है) इस युद्ध को छाया-युद्ध बना देती है किन्तु गद्य-लेखक को यह युद्ध वस्तुत चलाना पड़ता है। पाठक के साथ लेखक का सम्बन्ध भी स्वतन्त्रता के मूल्य से निर्धारित होता है। लेखक अपनी स्वतन्त्रता को जीता है किन्तु वह यह भी चाहता है कि पाठक अपनी स्वतन्त्रता के साथ उसे पढ़े और उसे ग्रहण करे। लेखक निबन्धकार हो, उपन्यासकार हो, पैम्फलेट लिखे या व्यंग्य, व्यक्तिगत भावनाओ को विषय बनाए या सामाजिक व्यवस्था पर प्रहार करे, वह हमेशा स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप मे स्वतन्त्र पाठकों को संबोधन कर रहा होता है। संलग्नता या प्रतिबद्धता का एक ही अर्थ है—स्वतन्त्रता की रक्षा। सार्त्र साहित्य के पठन को भी सर्जनात्मक क्रिया मानते हैं क्योंकि इसमे पाठक की स्वतन्त्र क्रिया (कर्त्तृत्व) निहित है। सार्त्र लिखते हैं: "क्योंकि सृजन की सार्थकता या निष्पत्ति पढ़े जाने मे है, चूंकि कलाकार अपनी कृति दूसरे के हाथ देकर यह उम्मीद करता है कि जो काम उसने शुरू किया है, दूसरा उसे सही परिणति तक ले जाए, चूंकि पाठक की चेतना के माध्यम से ही

लेखक अपने को अपनी कृति के लिए अनावश्यक मान सकता है अत. समस्त साहित्यिक रचनाए पाठक को की गई अपील होती है, इस बात की अपील कि पाठक लेखक द्वारा भाषा के माध्यम से किए गए उद्घाटन को ठोस अस्तित्व प्रदान करे। लेखक पाठक की स्वतन्त्रता से अपील करता है कि वह साहित्यिक कृति की निष्पत्ति में सहयोग करे।"

इसीलिए सार्त्र मानते है कि पाठक की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर चलना लेखक के लिए बहुत जरूरी है। इस शर्त का तकाजा है कि लेखक सुनियोजित ढग मे पाठको की भावनाओं को (करुणा, हास्य, रति, क्रोध आदि) को उभारने की कोशिश न करे, क्योकि इससे पाठक की स्वतन्त्रता बाधित होती है और वह उसके अपने लक्ष्य के विपरीत जाता है। साहित्यिक रचना से यदि भावनाए उभरती है तो उनका मूल लेखक की स्वतन्त्रता में होना चाहिए। लेखक और पाठक के बीच उदा-रता का सम्बन्ध होना चाहिए। लेखक यह न सोचे कि पाठक उसकी स्वतन्त्रता का उपयोग कर लेगा और पाठक यह न सोचे कि लेखक ने उसकी स्वतन्त्रता का उप-योग किया है।

सार्त्र इस बात को नहीं मानते कि लेखक अपने सामाजिक वातावरण का उत्पाद होता है। उनके अनुसार यह नियतिवाद है। किन्तु उसकी रचना एक विशेष वातावरण मे रहने वाले पाठक वर्ग को सबोधित होती है। हर रचना मे उस पाठक का तसव्वर मौजूद रहता है जिसको वह संबोधित होती है। सार्त्र का कहना है कि दृश्य-प्रचार माध्यमो का उपयोग अपने पाठक वर्ग तक पहुचने के लिए किया जाना चाहिए यह जानते हुए भी कि इससे लेखक को अपनी स्वतन्त्रता का कुछ अंश खोना पड सकता है। किन्तु इस बात की सावधानी बरती जानी चाहिए कि साहित्य औद्योगिक उत्पाद न बन जाए। ये माध्यम हमें पाठक तो दे सकते हैं किन्तु वे 'सामा-जिक' नही जो हमारी रचना को पूर्णता प्रदान करते हैं।

सार्त्र ने आलोचको के सम्बन्ध में बहुत तीखे विचार व्यक्त किए हैं। अपने एक निबंध 'नेशनलाइजेशन आफ लिटरेचर' में वे कहते हैं कि लेखकों और कलाकारो को राष्ट्रीय धरोहर बनाने की आलोचकों की प्रवृत्ति साहित्य के लिए हानिकारक है। इस प्रवृत्ति के अनुसार रचना को कच्चे-अधपके फल की तरह नहीं लिया जाता जिसके पकने के लिए, अपना सम्पूर्ण अर्थ प्रकट करने के लिए कुछ समय की जरूरत होती है बल्कि इसे किसी दिग्गज के स्वागत समारोह और भव्य कार-शो की तरह लिया जाता है। कुछ समीक्षक बुजुर्गाना अदाज में पाठको को परामर्श देते है, 'इसे अवश्य पढ़ें, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है'—किसी लीडर के इंटरव्यू की तरह महत्त्वपूर्ण। हर नई रचना के बाद समीक्षक का रवैया ऐसा होता है गोया यह रचना साहित्य के इतिहास का अंत है। वह समकालीन साहित्य के आय-व्ययपत्र की बात करने लगता है। आलोचक रचना को अपने पोतों-प्रपोतों की नजर से

देखने लगता है और उस पर ऐसी टिप्पणी करने लगता है जैसी साहित्य की पाठ्य-पुस्तकों या हस्त-पुस्तकों में डेढ़ सौ साल पुराने साहित्य पर आमतौर पर की जाती है। इन आलोचकों की निगाह में मन की कृति के प्रभाव को पाठ्य-पुस्तिका ही समझ सकती है। सार्त्र कहते हैं कि मन की कृति को वैसा आदर देना जो मृत विभूतियों को दिया जाता है, कृति की हत्या के खतरे से भरा है क्योंकि अपने जीवन-काल में ही राष्ट्रीय स्मारक बन जाना कोई अच्छी बात नहीं है। आलोचक प्रायः वर्तमान घटनाओं का वर्गीकरण करने और उन पर लेबल चिपकाने में व्यस्त रहते हैं। दूसरे शब्दों में वे भावी पीढ़ियों के लिए बीसवीं सदी के इतिहास की हस्त-पुस्तिका लिखते हैं। हम अपने को कितनी ही ऊँचाई से देखने का नाटक करें, भावी इतिहासकार हमारा मूल्यांकन उससे भी बड़ी ऊँचाई से करेंगे और जिस पर्वत पर हमने अपना गरुड़-निकेतन बनाया है वह उनके लिए राई के समान होगा। सावधानी के तौर पर सार्त्र कहते हैं: "बड़े आदमी की हमेशा प्रतीक्षा की जाती है क्योंकि राष्ट्र को गर्व होता है कि उसने उसे पैदा किया है किंतु महान विचार की प्रतीक्षा नहीं की जाती क्योंकि वह हमें ठेस पहुँचाता है।"

एक स्थान पर सार्त्र आलोचकों के सम्बन्ध में कहते हैं: "वे कब्रिस्तान के चौकीदार की तरह होते हैं। जब कोई समकालीन लेखक मरने की कृपा करता है तो उनके लिए खुशी का दिन होता है। उन्हें वास्तविक, जीवित दुनिया से कुछ लेना-देना नहीं होता —खाने-पीने के सिवा, और चूँकि उनके लिए दूसरे मनुष्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना नितान्त आवश्यक होता है अतः वे मुर्दों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं।"

अपने ग्रुप की पत्रिका 'ल टेम्प मार्डर्न' के समारंभ के समय प्रस्तावना में सार्त्र ने साहित्य की शाश्वतता एवं अमरता के सम्बन्ध में लिखा: "मरणोपरांत यश की चाह मिथ्या धारणा पर आधारित होती है। वे उन भतीजों के बारे में क्या जानते हैं जो उन्हें हमारे बीच में से ढूँढ निकालेंगे?···अमरता के पीछे भागने से हम अपने को शाश्वत नहीं बना सकते। हम इसलिए शाश्वत नहीं होंगे कि हमने कुछ जर्जर सिद्धान्तों को अपनी रचनाओं में प्रतिबिंबित किया है बल्कि इसलिए कि हमने अपने समय में सम्पूर्ण राग-बोध के साथ संघर्ष किया है।"

सिमों बुआ के साथ लम्बी बातचीत में जो 'ऑडियू' नामक पुस्तक के रूप में छपी है, सार्त्र ने साहित्य सम्बन्धी अपनी मान्यताओं को और स्पष्ट किया है। एक स्थान पर वे कहते हैं कि साहित्य में पहला काम चुनाव का करना पड़ता है अर्थात् कुछ पहलुओं को लेना पड़ता है और कुछ को छोड़ना पड़ता है। यह काम डायरी-लेखन में भिन्न होता है जहाँ चुनाव लगभग सहज होता है जिसका ठीक से स्पष्टीकरण देना कठिन होता है।" साहित्यिक सम्मानों और पुरस्कारों का वे इस आधार पर विरोध करते थे कि ये सम्मान-पुरस्कार लेखक का वर्गीकरण और

स्तरीकरण करने का हास्यास्पद प्रयत्न होते हैं। उनका कहना था कि कांट, देकार्त या गेटे को कौन पुरस्कृत कर सकता है? साहित्य और साहित्यकार को ऊँची-नीची सीढ़ियों में बांटना गैर-साहित्यिक विचार है। ऊँची-नीची सीढ़ियाँ निहायत बेतुकी हैं। लेखक की या रचना की अमरता के सम्बन्ध में उनका कहना था कि लेखक का यह विश्वास कि मरने के बाद भी उसकी रचना पढ़ी जाएगी, उसका भविष्य है। सत्य, शिव और सुन्दर के मूल स्रोत के रूप में ईश्वर को अस्वीकार करते हुए उन्होंने कहा जो मानव-स्वतंत्रता के लिए लाभदायक हो वही शिव है और जो उसके हित में न हो वह अशिव है। 'कला-कला के लिए' के सिद्धांत के विपरीत वे साहित्य-लेखन को महत्त्वपूर्ण सामाजिक गतिविधि मानते हैं और कहते हैं कि साहित्यकार पाठकों को उनकी अपनी स्थितियों के सामने ला खड़ा करता है और उन्हे उत्तरदायित्व लेने के लिए तैयार करता है।

अस्तित्ववाद के जीवन-दर्शन और साहित्यिक दृष्टि के सम्बन्ध में कामू के कुछ विचार भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। 1946 में कोलम्बिया विश्वविद्यालय के छात्रों के समक्ष दिए गए भाषण में उन्होंने अपने समय की स्थितियों पर प्रकाश डालते हुए कहा: "जब हमने अपने को हिटलर के आतंक के सामने पाया तो हम किस मूल्य से सांत्वना प्राप्त कर सकते थे? यदि समस्या राजनैतिक विचारधारा के दिवालियेपन की होती तो यह आसान बात होती। किन्तु जो कुछ हुआ वह आदमी और समाज की जड़ों से सम्बन्धित था। इसकी पुष्टि दिन-प्रतिदिन हो रही थी अपराधी तत्वों के व्यवहार से इतनी नहीं जितनी कि औसत आदमी के व्यवहार और आचरण से। तथ्य बताते थे कि आदमी के साथ जो कुछ हो रहा है वह उसीके लायक है।"

इसी भाषण में कामू आगे कहते हैं कि "आज जो भी शक्ति, योग्यता और ऐतिहासिक कर्त्तव्य के संदर्भ में मानव-अस्तित्व की बात करता है वह हिटलरवाद का प्रचार करता है। वह वास्तविक अथवा संभावी हत्यारा है। यदि मनुष्य की समस्या को 'ऐतिहासिक कर्त्तव्य' के संदर्भ में देखा जाएगा तो आदमी इतिहास के कच्चे माल के सिवा कुछ नहीं ठहरेगा और उसके साथ जो मन में आए किया जा सकता है।"

हंगरी के विद्रोह पर टिप्पणी करते हुए 1950 में कामू ने कहा: "तानाशाही तंत्र जिन बुराइयों को दूर करने का दावा करते हैं उनमें से कोई भी बुराई तानाशाही तंत्र से बुरी नहीं है।"

अस्तित्ववाद इस मायने में तो निराशा का दर्शन है कि अंतिम लक्ष्य अथवा मंजिल के सम्बन्ध में उसका दृष्टिकोण निराशा का है अर्थात् वह किसी दिव्य स्वर्ग, मुक्ति आदि को नहीं मानता, किन्तु मनुष्य की क्षमताओं के सम्बन्ध में यह दर्शन पूरी तरह आशावान है। इस बात को कामू इन शब्दों में व्यक्त करते हैं

"ईसाई धर्म मनुष्य के सम्बन्ध में निराशावादी है किन्तु उसकी मंजिल के सम्बन्ध मे आशावादी है। मैं कहूँगा कि मैं मंजिल के सम्बन्ध मे निराशावादी हूँ किन्तु मनुष्य के सम्बन्ध मे आशावादी हूँ।" यह विचार अस्तित्ववादी रचनाओ मे सर्वत्र पाया जाता है।

गांधी जिसे सत्याग्रह कहते थे और सार्त्र जिसे प्रतिरोध कहते थे, कामू उसे विद्रोह कहते हैं। उनकी दृष्टि मे इस बेतुकी दुनिया मे आजादी की रक्षा का एकमात्र उपाय है विद्रोह। विद्रोह उनके लिए आनंद का स्रोत भी है, जीवन का अर्थ भी और सामाजिक कर्म तथा साहित्यिक सृजन का प्रयोजन भी।

जीवन के बेतुकेपन के बारे मे लगभग सभी अस्तित्ववादी लेखक एकमत थे। सबसे पहले इस बेतुकेपन को काफ्का ने देखा था जिन्होंने अपनी रचनाओं मे जीवन को नियंत्रित करने वाली अबूझ, अदृश्य और भयानक सत्ता को देखा जिससे कोई छुटकारा नही था। किर्केगार्द के विचारो से प्रभावित होकर काफ्का ने 'दि कैस्सल' आदि अपनी रचनाओं मे इस विचार से साक्षात्कार किया कि आदमी का फर्ज है कि वह अपने जीवन को उन नियमों पर चलाए जिन्हे वह नहीं समझ सकता है और इस सम्बन्ध मे उसे ईश्वर से भी कोई मदद नहीं मिल सकती। काफ्का का व्यामोह था कि अगर मैं दुनिया को अच्छा नहीं देखता हूँ तो मेरा अपराध-बोध तीव्र होता है और यदि इसे अच्छा देखने का नाटक करता हूँ तो मैं अहंकार का दोषी होता हूँ। सत्य के सम्बन्ध मे काफ्का का दृष्टिकोण है कि सत्य हमेशा अपना मुखौटा उतारने और भ्रम के रूप मे अपने को प्रकट करने की स्थिति मे होता है, इस डर से कि कोई उसे पहचान न ले। एक स्थान पर वे कहते हैं: "परमाणुओं या आत्माओं की घनी आबादी वाले विश्व मे सीढ़ीनुमा व्यवस्था आवश्यक है तथापि इस जटिल व्यवस्था में साधन लगभग अनिवार्य रूप से साध्य बन जाते हैं। पाठकों का अस्तित्व इसलिए जरूरी हो जाता है ताकि लाइब्रेरियन कार्ड-सूची बना सके, विद्यार्थी इसलिए जरूरी हो जाते हैं ताकि शिक्षा-शास्त्री शिक्षा-विधियो पर पुस्तकें प्रकाशित कर सकें, श्रद्धालु भक्त इसलिए जरूरी हो जाते है ताकि गिरजों के चौकीदार गिरजों मे झाड़ू लगा सकें या उन पर ताले लगा सकें।...भीड़ भरे विश्व का नियोजन होना ही चाहिए भले ही नियोजन मूर्खतापूर्ण हो या जरूरत से ज्यादा सावधानी बरत कर किया गया हो।"

वर्तमान विश्व की अस्तव्यस्तता, नियमहीनता, अनैतिकता और उसका बेतुकापन अस्तित्ववादी लेखकों को निरंतर परेशान करने वाली बातें है। इस मानसिकता का उद्गम उनकी अपनी स्थितियों मे है जिन्होने 18वीं और 19वीं शताब्दी की महान मानी जाने वाली विचारधाराओं को भोथरा सिद्ध करके विश्वयुद्धो, यातना-शिविरों तथा सामूहिक मानव-हत्याओं को जन्म दिया। अतः इस साहित्य को संक्रांतिकाल की चरम स्थितियों का साहित्य कहना उचित ही

है। इस साहित्य में नई मानव-सभ्यता, नये मानव-समाज की तलाश की छट-पटाहट है। जैसा कि पीछे कहा गया इस नई मानव-सभ्यता का स्वरूप कुछ-कुछ उभरने भी लगा है और इसमें भारत के दो मनीषियों, गांधी तथा लोहिया के विचारों ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

साहित्य के क्षेत्र में भी अस्तित्ववाद की मान्यताओं को व्यापक परिप्रेक्ष्य में विकसित करने की आवश्यकता है और भारत इसमें महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

अस्तित्ववाद ने मानव-स्वतंत्रता को जीवन का मूलभूत मूल्य माना और शेष सब मूल्यों को मानव-स्वतंत्रता से प्रवाहित माना। अस्तित्ववादी साहित्य का मूलभूत मूल्य भी मानव-स्वतंत्रता है। जिस तरह गांधी और लोहिया ने स्वतंत्रता के साथ-साथ समता और बंधुता को भी आधारभूत मानकर एक नई सभ्यता की कल्पना की, उसी प्रकार स्वतंत्रता, समता और बंधुता इन तीनों को साहित्य-कलाओं का उत्स मानकर नये साहित्य के सृजन की ओर बढ़ा जा सकता है। भारत इसके लिए उर्वर भूमि होनी चाहिए। एक तो इसलिए कि इसके पास गांधी-लोहिया के विचारों की नींव है और दूसरे इसलिए कि अस्तित्ववाद और भारतीय दार्शनिक प्रणाली में काफी समीपता है यद्यपि हमारे लिए अपनी पुरानी धारणाओं को छोड़ना बहुत कठिन होगा।

समतामूलक समाज के मानव-मूल्य

समकालीन भारतीय समाज समतामूलक समाज के लक्ष्य को लेकर चल रहा है। यह समाज पारम्परिक भारतीय समाज की कड़ी होते हुए भी अपने स्वरूप और लक्ष्यों में उससे काफी भिन्न है। हमारे वर्तमान समाज के सर्वोच्च मूल्य हैं स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता जिन्हें हमने अपने संविधान का आधार बनाया है। ये मूल्य हमारे प्राचीन समाज के सर्वोच्च मूल्यों से भिन्न नहीं हैं। भिन्नता केवल इन मूल्यों के व्यावहारिक स्वरूप में है।

हमारे प्राचीन साहित्य और हमारी तमाम दार्शनिक धाराओं जैसे आर्य, बौद्ध और जैन धाराओं में जीवन को पूर्वजन्म-परजन्म की अनंत शृंखला के रूप में देखा गया और जीवन का अन्तिम लक्ष्य इस शृंखला से मुक्ति माना गया। जीवन के इस अंतिम लक्ष्य को मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य आदि के शब्दों से अभिहित किया गया। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष जीवन के इन चार पुरुषार्थों का क्रम भी यही दिखाता है कि मोक्ष को मानव-जीवन का परम लक्ष्य माना गया।

हमारे वर्तमान समाज के सर्वोच्च मूल्य स्वतंत्रता, समता और बंधुता इसी मुक्ति, मोक्ष, कैवल्य, निर्वाण आदि की कल्पना से निकले हैं। यह ठीक है कि अपने वर्तमान स्वरूप में ये मूल्य फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद विश्व के समक्ष आए लेकिन इनका मूल मुक्ति-मोक्ष आदि की कल्पना है। बहुत संभव है कि पश्चिम के विद्वानों ने अपने नवजागरण काल में पूर्वी साहित्य के सम्पर्क में आने के बाद इन मूल्यों से साक्षात्कार किया होगा और मोक्ष की कल्पना को खंड-खंड करके देखा होगा जबकि हमारे यहां मोक्ष आदि की कल्पना में स्वतंत्रता, समता और बंधुता के गुण अविभाज्य रूप में गुंथे हुए थे।

भारतीय विचार-परम्परा के ज्ञाता जानते हैं कि मोक्ष में परम स्वतन्त्रता अर्थात् हर प्रकार के बन्धनों या गुलामी से मुक्ति, परम समता अर्थात् हर प्रकार की भेद-भावना से मुक्ति और परम बन्धुता अर्थात् विराट के साथ एकता की अनुभूति शामिल है। लेकिन प्राचीन भारतीय समाज में इन सर्वोच्च मानव मूल्यों को आध्यात्मिक जीवन तक सीमित रखा गया और प्रत्यक्ष जीवन में, दिन-प्रतिदिन

के जीवन में इन्हे स्वीकार नही किया गया। इससे इन मूल्यो का स्वरूप सीमित हो गया। उदाहरण के लिए स्वतन्त्रता की कल्पना रही जन्म-जन्मान्तर के बन्धन मे मुक्ति, आवागमन के चक्कर से मुक्ति और माया के बन्धन से मुक्ति। किन्तु नित्य-प्रति के जीवन मे स्वतन्त्रता आदि के लिए कोई स्थान नही था। अथवा यह भी कह सकते है कि प्रत्यक्ष जीवन मे हमने इन मूल्यो के ठीक विपरीत मूल्य अपनाए। मसलन यह मान लिया गया कि जीवन एक अनिवार्य बन्धन है, कर्मों का बन्धन और जब तक यह जीवन है तब तक हमें बन्धन मे बंधकर ही रहना पड़ेगा। इससे यह मानसिकता बन गई कि भौतिक जीवन जीते हुए स्वतन्त्रता की कामना करना और उसके लिए प्रयत्न करना बेकार है। सम्भवतः हमारे देश की लम्बी गुलामी के पीछे यह मानसिकता भी कारण रही अथवा यह मानसिकता लम्बी गुलामी का फल रही।

यही बात समता के मूल्य के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। मोक्ष के साधक के लिए समदृष्टि को प्राप्त करना आवश्यक होता है। इस स्थिति मे जीव सारे भेदो से मुक्त होकर शुद्ध, बुद्ध और निर्मल हो जाता है। लेकिन प्रत्यक्ष जीवन मे हमने तरह-तरह के भेदो की सृष्टि की। इसमें आकस्मिक जन्म पर आधारित जाति और लिंग के भेद सबसे भयानक हैं जिन्होने हमारे समाज में अनेक विकृतियां पैदा की। बन्धुता के मूल्य की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति 'तत्वमसि' और 'अहम्ब्रह्मास्मि' सूत्रो मे होती है जिसमें आत्मा विराट के साथ पूर्ण एकात्मभाव स्थापित करती है। लेकिन प्रत्यक्ष जीवन मे हम विराट की ओर अग्रसर होने के बजाय जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र आदि की सकीर्णताओं में बंधना ज्यादा पसन्द करते रहे और छुआछूत की भावना तो इसकी चरम विकृति है। इस प्रकार स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता के ठीक विपरीत हमने परतन्त्रता, विषमता और अस्पृश्यता को प्रत्यक्ष जीवन मे न केवल अनिवार्य माना बल्कि उसका महिमा-मंडन भी किया। व्यवहार और आदर्श, सगुण और निर्गुण, भौतिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन का यह विरोधाभास हमारे पारम्परिक जीवन की प्रमुख विशेषता रही।

शायद इसका कारण यह है कि हम प्रकृति और पुरुष, माया और ब्रह्म, सगुण और निर्गुण, व्यवहार और लक्ष्य, मैटर और स्पिरिट, तात्कालिक लक्ष्य और दूर-गामी लक्ष्य (ये सब पर्यायवाची शब्द हैं) के बीच सही सम्बन्ध स्थापित नही कर पाए। जब दूरगामी लक्ष्य तात्कालिक लक्ष्य से, स्पिरिट मैटर से और ब्रह्म माया से इतनी दूर हो कि उनके बीच कोई सम्बन्ध न रहे तो जीवन मे विकृति आना स्वाभाविक होता है। स्वतंत्रता, समता और बन्धुता को हमने दूरगामी लक्ष्य तो माना लेकिन तात्कालिक जीवन मे उनकी आवश्यकता को बिल्कुल नकार दिया जिसका परिणाम हुआ कि हमारे व्यावहारिक मूल्य और आध्यात्मिक मूल्य एक दूसरे के विपरीत हो गए।

जब शंकर ने 'ब्रह्मसत्यजगन्मिथ्या' कहकर इस संसार को नकार दिया तो एक तरह से उसने व्यावहारिक जीवन से अच्छे-बुरे का भेद मिटा दिया। परिणाम-स्वरूप हम अपनी स्वतंत्रता को गिरवी रखते हुए भी मोक्षकामी बने रहे, नरक के भय और स्वर्ग के लोभ में पूरा जीवन बिताते हुए भी निष्काम कर्म की माला जपते रहे, मौत के डर से तरह-तरह के समझौते करते हुए भी और घोर अपमान का जीवन जीते हुए भी अनश्वर आत्मा का राग अलापते रहे और भोग में लिप्त रहते हुए भी समाधि की अवस्था प्राप्त करने की खुशफहमी पालते रहे।

यह थी हमारे समाज में जीवन की कल्पना। यह कल्पना कुछ लोगों को आज भी प्रिय हो सकती है। लेकिन आज प्रबुद्ध नागरिक, विशेषकर सर्जक, जिसे मानव-मूल्यों की लड़ाई लड़नी होती है, जीवन की इस संकल्पना को लेकर नहीं चल सकता। वह वर्तमान जीवन के अन्याय का औचित्य पूर्व जन्म के कर्मों का तर्क देकर सिद्ध नहीं कर सकता और न परलोक में मिलने वाले सुख से इस जीवन के दुःख को हल्का कर सकता है। उसके लिए चौरासी लाख योनियों को पार करके मिलने वाली स्वतंत्रता का कोई मूल्य नहीं है और न समदर्शी भगवान की नजरों में मिलने वाली समता का कोई महत्त्व है। वह स्वतंत्रता को इसी जीवन की, बल्कि इस जीवन के प्रत्येक क्षण की चीज मानता है और वह शिक्षा, समाज, राज-सत्ता आदि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में समता का अधिकार प्राप्त करना चाहता है। वह दिखावे का भाईचारा नहीं, सच्चे अर्थों में मानव-जीवन के बीच बनी ऊंच-नीच और घृणा की दीवारों को टूटता देखना चाहता है। संक्षेप में, वह स्वतंत्रता, समता और बन्धुता को जीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि ही नहीं, जीने की अनिवार्य शर्तें भी मानता है। वह मानता है कि ये मूल्य उसके जन्मसिद्ध अधिकार हैं। ये अधिकार पैदा होते ही प्रत्येक व्यक्ति को अपने-आप मिल जाते हैं और कोई राज्य, समाज या संस्था इन अधिकारों को नहीं छीन सकती।

यही हैं हमारे वर्तमान जीवन के आधारभूत मूल्य। वैसे हम और भी कई मूल्यों की बात करते हैं। जैसे राष्ट्रीय मूल्य, सामाजिक मूल्य, धार्मिक मूल्य, सांस्कृतिक मूल्य आदि। वास्तव में मानव जीवन की हर गतिविधि के अलग-अलग मूल्यों की पहचान की जा सकती है क्योंकि हर गतिविधि का अपना अन्तिम लक्ष्य होता है और अन्तिम लक्ष्यों, परम लक्ष्यों को ही मूल्य कहा जा सकता है। लेकिन ये तमाम मूल्य किसी-न-किसी व्यवस्था के दिए हुए होते हैं। उदाहरण के लिए सामाजिक मूल्यों को समाज निर्धारित करता है। ये सामाजिक अथवा नैतिक मूल्य जिन्हें इथॉस से उद्भूत होने के कारण इथिक्स भी कहा जाता है, समाज की स्वी-कृति अथवा अस्वीकृति से तय होते हैं। राष्ट्रीय मूल्य संविधान में निहित राष्ट्रीय लक्ष्यों से तय होते हैं और धार्मिक मूल्य धर्म-संस्थाओं और धर्म-पुस्तकों के अनु-मोदन पर निर्भर होते हैं लेकिन मानव-मूल्य जिन्हें ८ या सांस्कृतिक

मूल्य भी कहा जा सकता है किसी राज्य, समाज, धर्म-संस्थान या अन्य संस्था द्वारा तय नहीं होते बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को जन्म के साथ ही स्वतः प्राप्त होते हैं। दर-असल, ये मूल्य जीवन का ही पर्याय हैं और सही जीवन जीने का मतलब इन मूल्यों को जीना होता है। इसीलिए इन्हें जीवन का परम लक्ष्य माना गया है और जीवन के धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धी तमाम कार्यकलापों का अन्तिम लक्ष्य इन मूल्यों को प्राप्त करना कहा गया है। ये मूल्य दिक्काल युक्त विराट के साथ मानव-सम्बन्धों की खोज से निकलते हैं। कोई विराट को ईश्वर या भगवान न मान ले इसलिए यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि विराट से आशय ईश्वर या भगवान से नहीं है।

हर मनुष्य जो इस संसार में आता है, विराट का अंश होता है और इस विराट के साथ अपने सम्बन्ध की खोज में वह पैदा होते ही लग जाता है। मैं कौन हूं, कहा से आया हू, मुझे कहां जाना है, इस विराट विश्व में मेरा क्या स्थान है, क्या भूमिका है इत्यादि प्रश्न उसे परेशान करने लगते हैं। आदिम मनुष्य के मन में जब ये सवाल उठने लगे और उसने सूर्य-चांद, आंधी-वर्षा, बादल-बिजली, बाढ़-भूकम्प, आदि को देखा तो उसने विराट के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयास में मिथक-पुराणों को जन्म दिया। ज्यों-ज्यों उसकी समझ विकसित होती गई, त्यों-त्यों उसकी अभि-व्यक्ति के रूप भी विकसित होते गए और आज हमारे सामने मिथक-पुराण और साहित्य-कलाओं का विशाल भंडार है। इस व्यापक सांस्कृतिक भंडार में हम मानव की उन इच्छाओं और आकांक्षाओं को अभिव्यक्त पाते हैं जिसकी अभिव्यक्ति राजनैतिक, सामाजिक या धार्मिक कार्यकलाप में या तो पर्याप्त नहीं हो पाती या उनका दमन होता है।

उदाहरण के लिए पैदा होते ही मनुष्य यह भाव अपने साथ लेकर आता है कि वह स्वतंत्र है, किसी के अधीन नहीं है। वह यह अहसास भी लेकर आता है कि वह किसी से छोटा नहीं है बल्कि सबके बराबर है। इसके अतिरिक्त वह यह बोध भी लेकर आता है कि वह विराट का हिस्सा है, इस संसार में उसकी एक जगह है, उसकी अपनी अस्मिता या पहचान है। लेकिन जीवन की वास्तविकताएं उसकी इन इच्छाओं और आकांक्षाओं को प्रताड़ित करती है। उसे जीवन की सारी परिस्थितियां इन लक्ष्यों में बाधक लगती है, इसलिए वह उन परिस्थितियों से संघर्ष करने लगता है। जब परिस्थितियां उसे कष्टकर लगने लगती है और वह कष्टों से बचने और सुविधा की खोज करने लगता है तो वह संस्थाओं को जन्म देकर उनकी अधीनता स्वीकार कर लेता है। परिवार, समाज, राज्य, धर्म, ईश्वर, मन्दिर-मस्जिद, गुरुद्वारा-चर्च, जात-बिरादरी, ट्रेड यूनियन, चैम्बर्स आफ कामर्स से लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ तक अनगिनत संगठन और संस्थान मनुष्य ने अपनी सुविधा की खोज के लिए बनाए और उनके नियम-कायदों की अधीनता स्वीकार करके अपनी आजादी का कुछ अंश उनके आगे गिरवी रख दिया

संस्थाए और सगठन बनाना और उनके कायदे-कानूनों मे बधना हमारे भौतिक जीवन की आवश्यकताए हैं। सुविधा और व्यवस्था की चाह संस्थाओं और सगठनों को जन्म देती है। लेकिन ये सस्थाएं हमारी नैसर्गिक आकाक्षाओ स्वतत्रता, समता आदि को कुचलती है इसलिए हमे समय-समय पर अपने खोए हुए नैसर्गिक अधिकारों की तलाश मे साहित्य और कलाओ की सास्कृतिक दुनिया से सम्पर्क करना पडना है। यदि हम साहित्य-कलाओ से वंचित रहते है तो हमारा जीवन पालतू पशु के समान हो जाता है। सभवत: इसे देखते हुए ही एक सस्कृत सुभाषित मे कहा गया है कि साहित्य, सगीत, कला विहीन व्यक्ति बिना सींग के पशु समान होता है।

सक्षेप में, हम दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियो मे जीने को बाध्य हैं। एक प्रवृत्ति हमें सभ्यता की ओर और दूसरी सस्कृति की ओर ले जाती है। इन दो शब्दो के अर्थ और स्वरूप के सम्बन्ध मे विद्वानो में अलग-अलग धारणाएं रही हैं। तथापि हम इन प्रवृत्तियों को स्पष्ट देख सकते है। हमारे प्राचीन साहित्य मे इनके लिए भौतिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन कहा गया है। एक प्रवृत्ति हमारे भौतिक अस्तित्व के लिए जरूरी है। हम जगल राज मे नही रह सकते। इसलिए हमे व्यवस्था के लिए, सामूहिक सुरक्षा और सामूहिक कल्याण के लिए सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि सस्थाओ का निर्माण करना पडता है और उनकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ती है। दूसरी प्रवृत्ति हमारे आध्यात्मिक अस्तित्व के लिए जरूरी है। इसके लिए हमे ऐसी गतिविधियों का सहारा लेना पडता है जो हमे स्वतत्रता, समता और विराट के साथ एकात्मता का अहसास कराए। साहित्य-कला आदि सस्कृति के विविध रूप हमे यह अहसास देते है।

उपर्युक्त विवेचन में मानव-मूल्यो को आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्य भी कहा गया है। संस्कृति शब्द को आज जो अर्थ दिया गया है उससे भिन्न अर्थ में मैंने इस शब्द का प्रयोग किया है। संस्कृति का आम तौर पर प्रचलित वर्तमान अर्थ साम्राज्यवाद के हरावल दस्ते मिशनरियों ने दिया था और इसके अन्तर्गत रहन-सहन की विविध शैलियो, त्योहारो-उत्सवो के साथ-साथ टोने-टोटको और अन्धविश्वासजन्य अमानवीय प्रथाओं को भी शामिल किया था। दुर्भाग्य से हमारे विश्वविद्यालय आज भी सस्कृति के इसी अर्थ को लेकर चल रहे हैं। भारतीय समाज के लिए संस्कृति की यह कल्पना अजनबी है। हमारे यहां आध्यात्मिक मूल्य ही सांस्कृतिक मूल्य हैं।

मनुष्य जीवन की सार्थकता इन मानव-मूल्यों (अथवा आध्यात्मिक एव सांस्कृतिक मूल्यो) को प्राप्त करने अथवा कम से कम इनकी झलक पाते रहने मे है। केवल भौतिक जीवन मनुष्य को पूर्णता की अनुभूति नहीं देता। भौतिक सुखो में लोटपोट व्यक्ति भी मन की शाति या आत्मिक सुख के लिए तड़पते है। साहित्य,

संगीत, कला आदि के माध्यम से इन आध्यात्मिक मूल्यों के सम्पर्क में आकर मनुष्य जीवन की पूर्णता का अनुभव करता है। लगता है हमारे मनीषियों ने साहित्य-कला के लिए यही भूमिका निर्धारित करनी चाही थी। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों का क्रम यही दिखाता है। साहित्य के सभी रसों का अंत निर्वेद या शांत रस में इसीलिए अभीष्ट माना गया है क्योंकि इस रस की मनःस्थिति विमुक्त मन की स्थिति होती है।

लेकिन इतिहास की किसी अवस्था में हमारे आध्यात्मिक मूल्य धार्मिक मूल्य बन गए। सम्भवतः इसका कारण हमारी धर्म की प्राचीन धारणा हो जिसके अनुसार धर्म आध्यात्मिक साधना ही था और उसमें धृति, क्षमा आदि दस लक्षणों का समावेश तो था किन्तु पूजा, उपासना और भक्ति का कोई स्थान नहीं था। लेकिन आगे चलकर जब धर्म पूजा, उपासना और भक्ति से जुड़ गया तो आध्यात्मिकता को भी धार्मिकता से जोड़ा जाने लगा। जब तक मामला ब्रह्म और माया के द्वंद्व तक सीमित था, आध्यात्मिक मूल्य नैतिक मूल्य ही थे। लेकिन जब ब्रह्म को ऐश्वर्य से विभूषित कर उसे ईश्वर बना दिया गया तो आध्यात्मिकता भौतिकता की चाशनी में लिपट गई और विराट सीमा में बंध गया। फिर अवतारों की कल्पना और मूर्तियों के निर्माण ने धर्म को इन्द्रियों का विषय बना दिया और आध्यात्मिकता से उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। भक्ति ने तो आराध्य-आराधक के बीच स्वामी-दास भाव की कल्पना कर स्वतंत्रता और समता को नकार ही दिया। सांस्कृतिक मूल्यों का धार्मिक मूल्य बनना हमारे सांस्कृतिक पतन की शुरूआत थी। उसके बाद हमारा देश दर्शन, चिन्तन, सृजन आदि सांस्कृतिक उपलब्धियों में पिछड़ता ही गया।

साहित्य के आधारभूत मूल्य और लेखक का संकट

मानव जीवन के आधारभूत मूल्य—स्वतंत्रता, समता और बधुता—ही साहित्य के आधारभूत मूल्य हैं। इन्ही मूल्यो के लिए साहित्य-कला की रचना होती है।

वैयक्तीय स्वतन्त्रता का जिस अर्थ में प्रयोग हम आज करते हैं, उस अर्थ मे प्राचीन काल में इसका प्रयोग नही होता था। मेरे कहने का मतलब है कि स्वतन्त्रता की हमारी आज जो कल्पना है, वह नितात आधुनिक है। प्राचीन काल मे उस तरह की कल्पना नहीं थी।

आज स्वतन्त्रता मनुष्य के रूप मे जीने की अनिवार्य शर्त है। मनुष्य जन्म से ही इस अधिकार के छीने जाने की कोशिशो के खिलाफ सघर्ष करने लगता है। पैदा होते ही वह अपने आपको जिन परिस्थितियों के बीच पाता है उनके साथ उसका द्वंद्व शुरू हो जाता है। परिस्थितियां उसकी स्वतन्त्रता पर अकुश लगाती हैं और वह उनके खिलाफ सघर्ष करने लगता है। मन और परिस्थितियो का यह द्वंद्व ही जीवन है। इस संघर्ष का प्रत्यक्ष दर्शन पालने से लेकर बड़ा होने तक बच्चे की क्रियाओं का बारीकी मे अध्ययन करके पाया जा सकता है। बच्चे की सारी क्रियाएं बन्धनों से बगावत करने और स्वतन्त्रता को जीने की ही क्रियाएं हैं। यह काम बहुत यातनापूर्ण भी होता है और बहुत सुखद भी। बच्चा जब पालने की कैद से आजाद होने के लिए हाथ-पैर मारता है, अपनी वाणी को आजाद करने के लिए चीखता और रोता है, चलने की आजादी प्राप्त करने के लिए घुटनो को तोड़ता है तो वह कम यातना नही भोगता और जब इन बाधाओ को पार कर लेने पर वह हसता है, मुस्कराता है और दौड़ता-भागता तथा नाचता है तो उसे अपार सुख भी मिलता है। स्वतन्त्रता को जीना ही मानव की सर्वोत्तम क्रिया, सृजन है और यही सौन्दर्य से साक्षात्कार है।

मनुष्य स्वतन्त्रता के लिए अभिशप्त है, — के इस सुप्रसिद्ध वाक्य

का अर्थ यही है कि मनुष्य यदि मनुष्य की तरह जीना चाहता है तो उसे अपनी स्वतन्त्रता की हर कीमत पर रक्षा करनी पड़ेगी और इस प्रक्रिया मे उसे यातना से गुजरना ही पडेगा। उसे सघर्ष मे सफलता मिलेगी या नही, मिलेगी तो कितनी मात्रा मे मिलेगी, यह सब तो अनिश्चित होता है किन्तु यातना से गुजरना तो निश्चित होता है। अस्तित्ववादियो के अनुसार इस सघर्ष मे पूर्ण सफलता मिलती ही नहीं इसलिए वे जीवन मे निराशा (डिस्पेयर) को अनिवार्य मानते है। किन्तु आंशिक सफलता भी सुख का स्रोत है इसलिए जीने की चाह बनी रहती है। आदर्शवादी दर्शन मोक्ष, कैवल्य आदि की किसी काल्पनिक स्थिति मे पूर्ण स्वतन्त्रता मानकर अपना दिल बहला लेते हैं लेकिन यथार्थवादी दर्शन इसकी जरूरत नही समझते। वे किसी बैकुठ की कल्पना नही करते इसीलिए वे स्वतन्त्रता के लिए सतत संघर्ष और सतत यातना को अनिवार्य मानते है।

अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए सतत यातना को सहना हर किसी के लिए सम्भव नही होता। साधारण मनुष्य इस यातना को नही झेल पाता इसलिए उसकी प्रवृत्ति अपनी स्वतन्त्रता को किसी के पास गिरवी रख देने की होती है। दास्तोएव्स्की के शब्दों मे स्वतन्त्रता तवे से उतरी गरम रोटी की तरह होती है जिसे हाथ मे लेते ही हाथ जलने लगता है और हम जल्दी-से-जल्दी उसे किसी और को सौंप देना चाहते हैं।

स्वतन्त्रता के सघर्ष की यातना को समझने के लिए स्वतन्त्रता के स्वरूप को समझना जरूरी है। स्वतन्त्रता आखिर है क्या और उसके जीने का अर्थ क्या है? इसका अर्थ है अपने भविष्य का, अपने लक्ष्य का, अपने कर्म का स्वतन्त्र निर्णय। यातना इस निर्णय मे निहित होती है क्योकि जब हम कोई निर्णय लेते हैं, तो उस निर्णय के सारे परिणामो की जिम्मेदारी लेने के लिए हमें अपने को तैयार करना पडता है। युद्ध-भूमि मे जब दोनो ओर सेनाएं तैयार खडी हों, सेनापति जब 'फायर' का आदेश देने को होता है तो उसके सामने असंख्य मौतो और बेहिसाब बरबादी की जिम्मेदारी उठाने का सवाल होता है जिसकी वजह से उसे भयानक यातना से गुजरना पडता है। निर्णय इसीलिए यातनापूर्ण होता है कि उसमे परिणामों की जिम्मेदारी उठाने के लिए तैयार होना पड़ता है।

इसीलिए साधारण मनुष्य स्वयं निर्णय लेने से बचना चाहता है। वह चाहता है कि कोई दूसरा उसके लिए निर्णय ले। किसी के चलाए चलने में, किसी के बताए काम को करते जाने में, दूसरो की पसन्द को अपनी पसंद बनाने मे, दूसरों के बनाए मूल्यों को अपना मूल्य बनाने मे, दूसरो के विचारो को अपने विचार और दूसरो के शब्दो को अपने शब्द बनाने मे उसे आराम और सुविधा महसूस होती है क्योकि इसमें निर्णय की यातना से नही गुजरना पडता। आराम और सुविधा की चाह और कष्ट की भीति उसे स्वयं निर्णय लेने के अपने अधिकार को किसी को सौंपने

के लिए प्रेरित करती है। यही स्वतन्त्रता को गिरवी रखने की प्रवृत्ति है। सुख-सुविधा की चाह व्यक्ति को भी परतन्त्र बनाती है और समाज तथा राष्ट्र को भी और कष्ट सहने की क्षमता व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिए भी जरूरी है और समाज या राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए भी।

सुख-सुविधा की इच्छा और यातना से बचने की प्रवृत्ति के कारण मनुष्य ने कई सस्थाओ को बनाया जो उसके लिए निर्णय लें और उसके भाग्य का फैसला करें। उसने ईश्वर का आविष्कार किया और उसके हाथ अपने भाग्य की डोर सौंप दी। वह यह मानकर निर्द्वन्द्व हो गया कि ईश्वर जो कराता है मैं वही करता हूं और मैं निमित्त मात्र हूं। इसी तरह उसने राजा का आविष्कार किया और उसको ईश्वर का प्रतिनिधि मानकर उसे अपनी किस्मत सौंप दी या धर्म-सस्थाओ का आविष्कार किया और उन्हें ईश्वर का प्रवक्ता मानकर अपनी स्वतन्त्रता उनके पास गिरवी रख दी। उसने जात-बिरादरी से लेकर राज्य तक अनेक संस्थाओ का निर्माण किया और हर संस्था को अपनी कुछ स्वतन्त्रता सौंप दी। संस्थाओ को अधिकारो से सम्पन्न करना और फिर उनकी अधीनता स्वीकार करना मनुष्य की नियति है। सस्थाएं बनाना उसके लिए बहुत जरूरी हो सकता है, सुविधाप्रद तो होता ही है, इस काम को मनुष्य जीवन के लिए अनिवार्य भी कहा जा सकता है। किन्तु इस बात पर विवाद नहीं हो सकता कि ये तमाम सस्थाए हमारी स्वतन्त्रता पर अकुश लगाती हैं, भले ही इनका निर्माण करके यह अंकुश हमने खुद ही लगाया हो।

जहा अविकसित सभ्यताओ मे मनुष्य धर्म, अन्धविश्वास, टोने-टोटकों और आदिम निष्ठाओं का बन्दी होकर रह जाता है वहा सभ्यता के विकास में ज्यों-ज्यों मनुष्य-निर्मित सस्थाओं का विकास होता है त्यों-त्यों मनुष्य की परतन्त्रता के बंधन मजबूत होते जाते हैं जैसाकि आज मानव मशीन का एक पुर्जा बनकर रह गया है। इन बन्धनो से छूटने की बेचैनी भी आदमी मे बढ़ती जाती है और उसकी स्वतन्त्रता का संघर्ष अधिक यातनापूर्ण हो जाता है। उसके इस संघर्ष की अभिव्यक्ति संस्कृति मे होती है। साहित्य और कलाओ के सम्पर्क में आकर वह अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता को प्राप्त करने की कोशिश करता है और इसमें उसे रास्ता दिखाता है लेखक, कलाकार और चिन्तक।

लेखक का काम पाठक की माग के अनुसार लिखना नही होता। माग के अनुसार वस्तु का उत्पादन उद्योग-धंधे करते हैं। लेखक उपभोक्ता वस्तुओ का निर्माता नहीं होता। लेखक का काम पाठक को उसकी खोई हुई स्वतन्त्रता लौटाना होता है। यह काम कैसे होता है, इसे समझने के लिए हमें मनुष्य जीवन की मूल मानसिक क्रियाओ पर दृष्टिपात करना होगा।

मनुष्य-जीवन की तीन मूल क्रियाएं हैं: सुख-दुख को महसूस करना; उसके

कारणो के बारे मे सोचना और सुख को सहेजने तथा दुख का निवारण करने के लिए कर्म करना। कुछ मनुष्य सुख-दुख को सिर्फ महसूस कर सकते है। उन्हे न तो सुख-दुख के कारणो की जानकारी होती है और न वे सुख को सहेजने और दुख का निवारण करने का उपाय कर सकते है। कुछ मनुष्य सुख-दुख को महसूस भी करते है और उसके कारण भी जान सकते हैं किन्तु उपाय के सम्बन्ध में निर्णय नही कर पाते। निर्णय की क्षमता सृजन की क्षमता है जो स्वतन्त्रता का प्रयोग किए बिना नही आ सकती। लेखक-कलाकार परोक्ष रूप से मनुष्य की इस क्षमता को विकसित करता है। लेखक स्वय जिन अनुभवो से गुजरता है पाठक उन्हे परोक्ष रीति से प्राप्त करता है। ये परोक्ष अनुभव उसे सृजन मे प्रवृत्त करने मे सहायक होते है। चूकि सृजन-शक्ति के विकास के बिना मनुष्य के जीवन मे अधूरापन रह जाता है और साहित्य उस अधूरेपन को भरता है इसलिए साहित्य-कलाओं के ससर्ग के बिना मनुष्य बिना सीग के पशु के समान होता है। साहित्य पाठक के लिए वह काम करता है जिसे पाठक करना तो चाहता है लेकिन कर नही पाता।

इस दृष्टि से लेखक, चिन्तक और कलाकार की सामाजिक भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाती है। वे इस अर्थ मे असाधारण होते हैं कि जहा साधारण मनुष्य मे सृजन की क्षमता का आमतौर पर अभाव होता है, इनमे सृजन की शक्ति होती है और वे अपने सृजन से साधारण जन को भी सृजनशील बना सकते है। चूकि सृजनशीलता स्वतन्त्रता के प्रयोग का ही दूसरा नाम है अत यह भी कहा जा सकता है कि लेखक की स्वतन्त्रता पर किसी भी प्रकार का अकुश लगाना समाज के स्वस्थ विकास के लिए हानिकारक है।

समाज ने स्वतन्त्रता पर अकुश लगाने वाली जो सस्थाएं ईजाद की हैं सच्चा लेखक उनके आगे जवाबदेह नही होता क्योंकि वह इन संस्थाओ की निर्मिति नही होता अपितु स्वयंभू होता है। इसीलिए वह मानव-मन को बधनो मे मुक्त कर सकता है और उसे स्वतन्त्रता का सुख दे सकता है। ईश्वर, धर्म, जाति, समाज अथवा राज्य इन सबके अनुशासन से लेखक मुक्त होता है अथवा उसे मुक्त होना चाहिए क्योकि ये तमाम संस्थाए मानव-स्वतन्त्रता का हरण करने वाली हैं और लेखक का काम उन सबसे विद्रोह करना है जो स्वतन्त्रता को छीनती है।

समाज मे लेखक की इस स्थिति को ध्यान मे रखकर ही सोल्जिनित्सिन के एक पात्र ने कहा था कि किसी देश मे एक बड़ा लेखक होने का मतलब होता है एक अलग सरकार का होना, इसलिए कोई भी सरकार बडे लेखको को पसन्द नही करती, केवल घटिया लेखको को ही चाहती है।

सरकार ही नही, सभी संस्थाओ के लिए जिनके अपने-अपने निहित स्वार्थ होते हैं, लेखक खतरनाक प्राणी होता है। इसलिए लेखक की स्वतन्त्रता पर हमेशा अकुश लगाए जाते रहे हैं और आगे भी लगाए जाते रहेगे।

लेखक की स्वतन्त्रता पर लगने वाले अंकुशों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। आन्तरिक अंकुश और बाह्य अंकुश। आंतरिक अंकुश वे हैं जिन्हें लेखक स्वयं अपने ऊपर लगाता है और बाह्य अंकुश विभिन्न संस्थाओं द्वारा लगाए जाते हैं। कुछ आन्तरिक अंकुश तो भाषा, शैली और टेक्नीक आदि के कारण लगते हैं। वैसे इन्हें अंकुश मानना ठीक नहीं क्योंकि ये अनुशासन अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए होते हैं और जब ये अभिव्यक्ति में बाधक होने लगते हैं तो लेखक स्वयं इनसे मुक्ति पा सकता है। किन्तु कुछ अन्य प्रकार के आंतरिक अंकुश बहुत खतरनाक होते हैं। लम्बी गुलामी में रहते-रहते आदमी अपनी गुलामी से ही प्यार करने लगता है जैसे बैल अपनी रस्सी से, कुत्ता अपनी जंजीर से, अज्ञानी अपने अंध-विश्वासों से, औरतें अपने गहनों से और पुरुषों द्वारा लादी गई गुलामी से, गुलाम देश के लोग अपने शासकों की भाषा-संस्कृति से, आदि-आदि। लेखक जब इस तरह के अंकुश अपने ऊपर लगा लेता है तो उसकी अभिव्यक्ति में स्वतन्त्रता का तत्व नहीं रहता। इसके अतिरिक्त जब लेखक मानव की आजादी पर पाबंदी लगाने वाली संस्थाओं, धर्म, राज्य आदि से जुड़ता है तो भी उसके लिए अपनी लेखकीय स्वतन्त्रता को बनाए रखना असंभव हो जाता है।

लेखकीय स्वतन्त्रता के बाह्य अंकुश धर्म, राज्य, समाज, जात-बिरादरी आदि संस्थाएं और अर्थ-व्यवस्था को नियंत्रित करने वाली वे तमाम संस्थाएं लगाती हैं जो मनुष्य की स्वतन्त्रता को हथिया कर अपने निहित स्वार्थ बना लेती हैं। इन तमाम संस्थाओं के लिए लेखक खतरनाक प्राणी होता है। इसलिए कभी धर्म के ठेकेदार लेखक के खिलाफ फतवे जारी करते हैं, कभी शासक लेखक पर पाबन्दी लगाते हैं, कभी जात-बिरादरी के संकीर्ण समूह लेखक के खिलाफ आन्दोलन करते हैं और कभी समाचारपत्रों, प्रकाशन संस्थाओं और संचार-माध्यमों को नियंत्रित करने वाले निहित स्वार्थ लेखक का गला घोंटने का प्रयत्न करते हैं। चूंकि सभ्यता के नाम पर बनने वाली इन संस्थाओं का निर्माण ही मानव-स्वतन्त्रता के हरण के लिए होता है, स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाले लेखक से उनका टकराव अवश्यंभावी हो जाता है। दूसरे शब्दों में लेखक को हमेशा व्यवस्था के विरुद्ध मोर्चा लेना पड़ता है। यह मोर्चा कभी खत्म नहीं होता क्योंकि लड़ाई शाश्वत चलती है। इस लड़ाई में लेखक को तरह-तरह की यन्त्रणाएं भोगनी पड़ती हैं। कभी उसे सूली पर टांगा जाता है, कभी जहर पिलाकर मार दिया जाता है, कभी आजीवन काल कोठरी में बन्द कर दिया जाता है, कभी हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा दिया जाता है, कभी गुण्डों से मरवा दिया जाता है और कभी कुप्रचार करके बदनाम किया जाता है। लेकिन यह सब खेल का हिस्सा है। इसमें कोई कुछ नहीं कर सकता। कोई भी सरकार, कोई भी व्यवस्था इसमें परिवर्तन नहीं ला सकती है। यह आजादी और गुलामी का शाश्वत संघर्ष है जिसे सत्याग्रह, असहयोग, सविनय अवज्ञा, यव, करो

या मरो के साधनो से हमेशा चलाते रहना पडता है और इन साधनों को अपनाने का मतलब है भीषण यातनाओ को झेलते जाना।

इतिहास मे कभी भी ऐसा समय और ऐसी व्यवस्था नही रही जब स्रष्टा को, रचना-कर्म करने वाले को, चाहे वह साहित्य-कला के क्षेत्र का हो या मौलिक सृजन के किसी अन्य क्षेत्र का, कठिनाइयो और जोखिमो से न जूझना पडा हो। प्राचीन काल से आधुनिक काल तक यह क्रम अविराम चला है। साम्यवादी, पूजीवादी, लोकतात्रिक, राजतात्रिक और तानाशाही किसी भी व्यवस्था मे यह क्रम रुका नही है। दी गई यातना मे मात्रा-भेद हो सकता है लेकिन कोई भी व्यवस्था लेखक के लिए खतरे से खाली नही होती।

लेखक के इस खतरे का, चारो ओर तथा हर समय विद्यमान उसके सकट का मुख्य कारण उसके रचना-कर्म की प्रकृति है। ईश्वर को ससार का स्रष्टा मानने वाली व्यवस्था में रचनाकार के सृजन को ईश्वर के खिलाफ चुनौती के रूप मे लिया जाए तो क्या आश्चर्य ? लेकिन अनीश्वरवादी व्यवस्थाओ मे भी सर्जक को खतरनाक ही माना जाता है।

बात यह है कि लेखक-कलाकार जिन मूलभूत मानव-मूल्यों के लिए रचना करता है वे समाज की विभिन्न व्यवस्थाओ के मूल्यों के विरुद्ध होते हैं। स्वतंत्रता, समता और बधुता ये तीन अधिकार हर मनुष्य अपने जन्म के साथ ही लेकर आता है। लेकिन विकास की प्रक्रिया मे ये अधिकार उससे धीरे-धीरे छिनने लगते हैं। नन्हा शिशु जब इस ससार मे आता है तो वह इन मूल्यों का साकार रूप ही होता है लेकिन ज्यो-ज्यों वह बड़ा होता है वह इन्हे खोने लगता है। कभी दूसरे उसके अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाते हैं जैसे, माता-पिता, शिक्षक आदि और कभी वह खुद ही इन्हे दूसरों को सौपने लगता है। जब बच्चा ससार के साथ, अपने बाह्य विश्व के साथ, सम्बन्ध स्थापित करने लगता है तो वह इन अधिकारो का लेन-देन करने लगता है। नया मित्र बनाने के लिए बच्चा दोस्त को अपना प्यारा खिलौना देता है और बदले मे दोस्त की कोई चीज प्राप्त करता है। सम्बन्ध स्थापित्त करने के लिए यह आदान-प्रदान जरूरी होता है। मानव-जीवन सबधो का ही खेल है। जन्म से लेकर मृत्यु तक हम संबंधो को बनाने और उन्हे तोडने या टूटा जाते देखने मे संलग्न रहते है और इस क्रम में तरह-तरह के सुख-दु:खों के बीच से गुजरते हैं। ये सम्बन्ध हम सिर्फ व्यक्तियों से ही नहीं, स्थितियो से भी स्थापित करते है। अपने आस-पास, दूर-दराज की चीजो से और फिर समस्त ब्रह्माण्ड या विराट से। यह बन्धुता की ओर हमारी गति है। संबंधो के जोड़-तोड़ की इस प्रक्रिया मे आदान-प्रदान की प्रक्रिया भी चलती है। हर सबध तनाव पैदा करता है। हम कुछ देते है और बदले में कुछ लेते हैं। जब यह लेन-देन असंतुलित होता है और अक्सर वह असतुलित होता है, तो उससे तनाव पैदा

होता है। तनाव के बढ़ने पर संबंध टूटता है और तब फिर नए सम्बन्ध की खोज मे हम नया लेन-देन करने लगते हैं। इस प्रक्रिया मे हमे अपनी जन्म-जात सम्पत्ति, स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता के अधिकारो को धीरे-धीरे खोना पड़ता है। लेकिन इन्हें खोने का अहसास जब-जब हमें होता है (यह अहसास हमेशा और हर आदमी को नहीं होता, लेखक-कलाकार को यह अहसास बहुत तीव्र होता है, खास कर सृजन के क्षणों मे) तब-तब हम भयानक यातना से गुजरते है और इस यातना से बचने के लिए कभी हम विपरीत स्थितियों के साथ समझौता करते हैं, कभी हम उनसे दूर भागते हैं और कभी उन स्थितियों मे विद्रोह करते है। यह है मन और परिस्थितियो का द्वन्द्व जिसे उपनिषद काल के ऋषियों से लेकर मार्क्स और लोहिया तक सब दार्शनिकों-चिन्तको ने अपने-अपने ढंग से व्याख्यायित किया है। इस द्वन्द्व की परिणति है रचना—कविता, कहानी या अन्य किसी मौलिक विचार का सृजन और यह रचना कभी रमण की अर्थात् परिस्थितियों के साथ तालमेल की, कभी पलायन की और कभी विद्रोह और संघर्ष की होती है।

साहित्यकार-कलाकार अपनी रचना मे स्वतंत्रता, समता और बन्धुता के मूल अधिकारों को एसर्ट करता है। इसके लिए उसे सभ्यता के क्रम मे बनी तमाम व्यवस्थाओं का विरोध करना पड़ता है। चूंकि उसके मूल अधिकारों को व्यवस्थाए कुचलती हैं, इन सारी व्यवस्थाओ का विरोध करना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। वह स्वतंत्रता, समता और बन्धुता के खिलाफ की गई तमाम किलेबन्दियों को तोड़ने लगता है और अपने अधिकारो को जीने लगता है। इस तरह वह अपने अस्तित्व को सिद्ध और स्थापित करता है क्योकि उसका अस्तित्व इन अधिकारों से ही होता है जो उसे जन्म के साथ मिले थे। वह व्यवस्थाओ द्वारा छीनी गई अपनी स्वतंत्रताओ को वापस हासिल करने के लिए लिखता है, व्यवस्थाओ द्वारा बनाई गई गैर-बराबरी की सारी दीवारों को तोड़ने के लिए लिखता है और मानव-मानव तथा मानव-विराट सम्बन्धो की बाधाओ को दूर करने के लिए लिखता है। जाहिर है उसे इस क्रम में सारी व्यवस्थाओं के खिलाफ विद्रोह करना पड़ता है और ये सारी व्यवस्थाएं उसके खिलाफ खड़ी हो जाती हैं। साहित्यकार-कलाकार का सबसे बड़ा संकट इसी से पैदा होता है।

महाकवि कालिदास के जीवन के सम्बन्ध में एक किवदन्ती प्रचलित है। कहते हैं वह बचपन में इतना मूर्ख था कि पेड़ की जिस शाखा पर बैठा था उसी को काट रहा था। एक विद्वान स्त्री से पराजित पण्डित ऐसे ही मूर्ख की तलाश मे थे जिसकी शादी वे उस स्त्री से कराकर अपने अपमान का बदला लेना चाहते थे। मुझे लगता है यह कहानी कालिदास ने ही गढी होगी क्योंकि कवि-कर्म की इससे अच्छी व्याख्या क्या होगी? हर सच्चा लेखक कलाकार और स्रष्टा जिस डाल पर बैठा होता है उसी को काटने का प्रयास कर रहा होता है। वह जिस

समाज मे रहता है उसकी तमाम व्यवस्थाओ को तोड़ने का काम करता है। परिवार से लेकर राज्य तक वह सभी व्यवस्थाओ का अंग भी होता है और उनका शत्रु भी। हालाकि उसकी शत्रुता रोगोपचार करने वाले वैद्य की होती है जो कड़वी दवाई पिलाकर रोगी को परेशान करता है लेकिन शत्रु तो उसे समझा ही जाता है। इसलिए उसका काम अत्यन्त कष्टकर भी होता है और जोखिम-भरा भी। कष्टकर इसलिए कि उसे अपने ही खिलाफ लड़ाई लड़नी पड़ती है, अपने परिवार-जनों का और प्रियजनो का विरोध सहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जिन मूल्यो की लड़ाई वह लड़ता है उन्हें जीना बहुत यातनापूर्ण होता है। जब वह व्यवस्था के मूल्यों और मानदण्डो से हटकर स्वतन्त्र रूप से कोई निर्णय लेता है तो उसे न केवल व्यवस्था द्वारा उपलब्ध कराई गई सारी सुविधाओं से वंचित होना पड़ता है अपितु उसे एक और यातना मे भी गुजरना पड़ता है। यह यातना होती है अपने स्वतन्त्र कर्म मे निहित जिम्मेदारी की। इसके अतिरिक्त व्यवस्थाओं के विरोध द्वारा उनकी शत्रुता मोल लेने के कारण भी उसका जीवन खतरो और जोखिमो से घिर जाता है। यह सब लेखक अन्ततः समाज की भलाई के लिए ही करता है क्योंकि वह अपनी रचना से पाठकों को मुक्ति का परम सुख देता है, उसे निरे पशु जीवन से ऊपर उठाता है और उनके खोए हुए अधिकार बहाल करके उन्हे जीवन की सार्थकता एवं पूर्णता देता है। तथापि उसे व्यवस्था का विरोध तो सहना ही पड़ता है।

सवाल उठता है कि लेखक को यदि यंत्रणा ही भोगनी है तो वह लिखता ही क्यों है?

लेखक क्यो लिखता है, यह सवाल साहित्य-शास्त्र का बहुत पुराना विषय है। लेकिन हमारे प्राचीन साहित्य-शास्त्र मे इसे बहुत सरसरी तौर पर लिया गया। हमारे साहित्य-शास्त्र मे बहस का मुद्दा अधिकतर सृजन नहीं है, सम्प्रेषण रहा अर्थात् साहित्य पाठकों पर क्या और कैसे प्रभाव छोड़ता है और क्यों तथा कैसे ग्राह्य अथवा अग्राह्य होता है। या फिर वहा साहित्य लिखने की तकनीको और कौशलों की अधिक चर्चा हुई। हमारे रस-शास्त्र और अलंकार-शास्त्र इन्ही सवालो मे मुख्य रूप से जूझते रहे। हमारी काव्य की परिभाषाए जैसे, रसात्मक वाक्य ही काव्य है, रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द ही काव्य है, पाठक पर पड़ने वाले प्रभाव से सम्बधित हैं। लेखक क्यो लिखता है इस सवाल के जवाब मे केवल एक मान्यता प्रसिद्ध है जिसके अनुसार लेखक या तो यश और धन अर्जित करने के लिए लिखता है या व्यवहार-कुशल होने के लिए या अपनी व्याधियो के निवारण के लिए या फिर कातासमित उपदेश देने के लिए, आदि। जाहिर है हमारे प्राचीन साहित्य का ज्यादा सरोकार सम्प्रेषण की समस्या से रहा न कि सृजन की समस्या से।

लेखक अपने लिए, अपनी स्वतंत्रता, समता, बन्धुता को व्यवस्था की जकड़नों से मुक्त करने के लिए लिखता है। यह स्वांतः सुखाय भी है और स्वांतः दुखाय भी। रचना यातना से गुजरे बिना जन्म नहीं लेती, दर्द के बिना कोई कविता-कहानी नहीं बनती। और फिर रचना का अपना सुख भी होता है, ऐसा सुख जिसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। यह अलौकिक सुख स्वतंत्रता, समता और बन्धुता को जीने में मिलता है। जिसे इन मूल्यों का, इन अमृत रसों का जरा-सा भी स्वाद मिल जाता है, वह बड़ी से बड़ी यातना को हंसकर सह लेता है। वह सुकरात और मीरा की तरह हंसकर विष का प्याला भी पी सकता है, फरहाद की तरह पहाड़ खोद सकता है। गांधी ने स्वतन्त्रता-रस का आस्वाद लिया और दुनिया की सबसे बड़ी हथियारी शक्ति को चुनौती दे दी। जब संत कबीर सहज समाधि में समता रस का पान करते हैं, तब वे ब्राह्मण और शूद्र, राजा और रंक, हिन्दू और तुरक के भेद की दीवारों को तोड़कर समता से साक्षात्कार करते हैं तथा सारे जगत के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं, तभी वे अनहद नाद में डूबकर अलौकिक आनन्द का रसास्वादन करते हैं। कुंडलिनी के जाग्रत होने पर ब्रह्मरंध्र पर पहुंचकर अमृत रस पीने की बात एक प्रतीक मात्र है। मानव-जीवन के सुन्दरतम मूल्य स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता अक्षय आनन्द के स्रोत हैं। स्रोत हमारे भीतर ही है लेकिन संसार के माया-जाल में ये गुम्फित जाते हैं। इन्हें उन्मुक्त करना और ऊर्ध्वमुखी बनाना ही कुंडलिनी-साधना है।

कहा जाता है कि रचनाकार अपने रचना कर्म द्वारा सौंदर्य की सृष्टि करता है। यह भी कहा जाता है कि वह आनन्द की सृष्टि करता है। वास्तव में दोनों एक ही हैं। जो आनन्द देता है वह सुन्दर है और जो सुन्दर है वह आनन्द देता है। लेकिन सौंदर्य और आनन्द हैं क्या? सौंदर्य सृजन का अनिवार्य फल है। हर कर्म जो बाधाओं से लड़ते हुए उन पर विजय प्राप्त करने के लिए किया जाता है, सौंदर्य की सृष्टि करता है। सौन्दर्य को स्त्री-पुरुषों के चेहरों या शरीर से जोड़ना सौन्दर्य की नितान्त घटिया कल्पना है। जिस चीज से हमें सुख मिले उसे सुन्दर कह देना भी सौन्दर्य की सतही दृष्टि है। सौन्दर्य सृजन में निहित है। सौन्दर्य अन्धकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर जाने में है। यह गुलामी से आजादी की ओर, विषमता से समता की ओर और संकीर्णता से व्यापकता (विराट) की ओर गमन में है।

लेखक-कलाकार इसी पथ का यात्री होता है, इसीलिए उसकी रचना सौन्दर्य की सृष्टि करती है।

विश्व की सभी महान रचनाएं स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता के मूलभूत मानव-मूल्यों से प्रेरित हैं। इसीलिए वे पाठक को इन मूल्यों की अनुभूति कराकर आनन्द देती हैं। वे पाठकों को लिबरेट करती हैं, आदमी-आदमी के बीच बनी

दीवारो को तोड़ती हैं और हर प्रकार की सकीर्णताओं से ऊपर उठाकर उसे विराट के साथ एकाकार होने की स्थिति की ओर ले जाती है। वे जो सौन्दर्यानुभूति कराती है, जो आनन्द प्रदान करती हैं, वह इन मूल्यों का ही सौन्दर्य और आनन्द है। साहित्य के प्रमुख स्थायीभाव हमें स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता की ही अनुभूति कराते है। प्रेम स्वतन्त्रता और बन्धुता का साधक है। वीर रस व्यक्ति मे स्वाभिमान की भावना जगाकर समता की अनुभूति कराता है और करुणा या सवेदना विराट विश्व के साथ हमे जोड़कर बन्धुता के भाव को पुष्ट करती है। वस्तुत साहित्य के तीन रस हैं: स्वतन्त्रता रस, समता रस और बन्धुता रस और इन्ही तीन श्रेणियो के अंतर्गत विश्व के सारे साहित्य को वर्गीकृत किया जाना चाहिए।

विश्व की सभी महान रचनाएं अपने समय की स्थितियों और व्यवस्थाओ से विद्रोह की रचनाए है। वे अपने समकालीन समाज की गली-सड़ी परम्पराओ और आदमी की आजादी पर लगाई गई पाबन्दियों के खिलाफ आवाज उठाती हैं।

जब लेखक अपनी बात कहने के लिए शब्द चुनता है तो वह वास्तव मे अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग करता है। जब वह किसी तथ्य को अपनी भाषा मे प्रस्तुत करता है तो तथ्यो का स्वतन्त्र मन से चुनाव और प्रयोग करता है। शब्द, भाषा, रेखा और रग-छैनी उसकी स्वतंत्रता के औजार हैं। वह इन औजारो से मनचाही वस्तु का निर्माण करता है। वह चरित्र गढ़ता है, आकारो का निर्माण करता है, स्थितियो और दृश्यों की कल्पना करता है। उसकी ये तमाम सृष्टियां ईश्वर से विद्रोह होती हैं क्योंकि सृष्टि करना तो ईश्वर का काम माना जाता है। ईश्वर के खिलाफ की बनाई सृष्टि मे लेखक और कलाकार त्रुटियां पाता है और उन्हें अपनी रचना में ठीक करता है। इसी तरह समाज की बनाई हुई परम्पराओं और व्यवस्थाओ में वह त्रुटियों को देखता है और उनमें अपनी स्वतन्त्र इच्छा से संशोधन-परिवर्द्धन करता है। इस तरह उसकी रचना में अनिवार्यतः विद्रोह का समावेश हो जाता है।

लगभग सभी महान रचनाओं का विषय प्रेम है। अन्य सभी भाव प्रेम के अनुषगी होते हैं, इसीलिए प्रेम को रस-राज भी कहा जाता है। यह प्रेम का भाव व्यवस्था के खिलाफ सबसे बड़ा विद्रोह होता है। प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी प्रेम को विद्रोह की अभिव्यक्ति कहा है। यह वह भाव है जिसके कारण आदम और हौवा को स्वर्ग से निकाला गया था। सभी धार्मिक व्यवस्थाओ में प्रेम करना गुनाह है और सभी समाजो में प्रेम पर तरह-तरह की पाबन्दियां लगाई गई हैं। प्रेम अपनी आजादी को एसर्ट करने, अपनी समता की आकाक्षाओ को पूरा करने (प्रेम न देखे जातपात) और जाति, धर्म क्षेत्र आदि की तमाम संकीर्णताओं से उठने की प्रवृत्ति है उर्दू भाषा की

अधिकांश सुन्दर कविताओं में प्रेम या इश्क, ईश्वर या धर्म की व्यवस्था से खुले विद्रोह के रूप में आया है। प्रेम का गुणगान करने वाले सूफियो को इस्लाम का विद्रोही ही तो कहा जाता है। प्रेम करने वाला ईश्वर की खिल्ली उड़ाता है, मुल्ला काजियों का उपहास करता है और यह उपहास जितना ही तीखा होता है प्रेम की कविता उतनी ही सुन्दर लगती है।

प्रेम के साथ वियोग की यातना और आत्म-बलिदान की भावना भी जुडी हुई है। अर्थात् अपनी स्वतन्त्रता को जीने के लिए विद्रोह करना अनिवार्य होता है और विद्रोह के लिए यातना भोगना तथा आत्म-बलिदान करना अनिवार्य होता है। इसीलिए घनानंद ने प्रेम के पथ को तलवार की धार पर चलने से उपमा दी है।

हिन्दी साहित्य में मानव-प्रेम की कविता पर बीसवी सदी से पहले अघोषित प्रतिबन्ध लगा हुआ था। अपवाद स्वरूप कुछ उदाहरणों को छोडकर सारी कविता कृष्ण और राधा को पात्र बनाकर लिखी गई। सूफियों ने जैसे रूहानियत की आड़ लेकर प्रेम पर लगी सारी पाबन्दियो को तोडा वैसे ही रीतिकालीन कवियो ने कृष्ण और राधा का नाम लेकर प्रेम पर प्रतिबन्ध लगाने वाली सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह किया और साहित्य के विद्यार्थी जानते हैं कि इस कविता में समाज की किसी सीमा को तोडे बगैर नही छोड़ा गया। हिन्दी साहित्य मे मीरा का प्रेम इस विद्रोह का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है जिसने स्त्री जाति पर लगी सारी पाबन्दियों को तोड़ा है।

प्रेम के अलावा अन्य विषयों पर लिखी गई महान रचनाओ मे भी विद्रोह का भाव प्रमुख दिखाई देगा। राम के प्रति भक्ति-भाव से लिखे गए प्रथम महाकाव्य 'रामायण' मे कवि की वाणी ही क्रौंच की वियोग-पीड़ा से मुखरित होती है और उनकी समग्र रचना का केन्द्र-बिन्दु बन जाता है सीता का धरती-प्रवेश, गोया कवि कहना चाहता हो कि राम अपनी समस्त महानताओ के बावजूद ऐसा था कि सीता को उसकी शक्ल से भी नफरत हो गई और वह धरती मे समा गई। 'महाभारत' मे तो कवि ने समकालीन समाज की समस्त विद्रूपताओं का खुलकर वर्णन किया और महानता का लबादा ओढ़े किसी भी पात्र को नहीं बख्शा। इस महाकाव्य के सभी पात्र किसी न किसी बिन्दु पर आकर मान-मर्दित, पतित और क्लीव दिखाए गए हैं। महाकवि कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का अद्भुत सौन्दर्य भी शकुन्तला के विद्रोह और पराक्रमी राजा दुष्यन्त के मानमर्दन से प्रकट होता है।

स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता को जीने वाले हर व्यक्ति को विद्रोह का रास्ता अनिवार्य रूप से चुनना पड़ता है क्योंकि हर व्यवस्था किसी न किसी रूप मे इन मूल्यों को कुचलती है। यह विद्रोह सर्जनात्मक तब बनता है जब विद्रोह अहिंसात्मक होता है। हिंसक विद्रोह सर्जनात्मक नही हो सकता क्योंकि हिंसा

अपने प्रतिद्वन्द्वी को जो एक प्रकार से उसका महबूब भी होता है, हमेशा के लिए दूर हटाने, उसे समाप्त करने के लक्ष्य को लेकर चलती है। प्रतिद्वन्द्वी के समाप्त होने पर निर्माण की सारी संभावनाएं ही खत्म हो जाती हैं। हिंसक व्यक्ति जब अपने प्रतिद्वन्द्वी की हत्या कर देता है तो वह प्रतिद्वन्द्वी को अपने अनुकूल बनाने की, जो उसका वास्तविक लक्ष्य होता है, सारी संभावनाओं को खो देता है। इस-लिए उसका प्रयास अन्ततः नकारात्मक ही सिद्ध होता है। सर्जनात्मक विद्रोह का सबसे सुन्दर उदाहरण महात्मा गांधी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान पेश किया है जिसमे वे सत्याग्रह, असहयोग सविनय अवज्ञा और 'करो या मरो' के चार चरणों में विकसित अहिंसात्मक विद्रोह को स्वतन्त्रता-प्राप्ति का हथियार बनाते है। साहित्य और कलाओ मे इसी सर्जनात्मक विद्रोह की अभिव्यक्ति होती है।

लेखक अपनी बात कहने के लिए कभी रोमांस का रास्ता चुनता है, कभी यथार्थ चित्रण का। रोमांस मे वह अपनी कल्पना को छूट देता है और उसके बल पर अपनी मनपसन्द सृष्टि की रचना करता है। यह सृष्टि विश्वामित्र की नई सृष्टि की तरह व्यवस्था के देवताओ के लिए चुनौती बन जाती है। यथार्थ स्थितियो का चित्रण करने वाला लेखक वर्तमान विकृतियों और विद्रूपताओं को सामने लाकर व्यवस्था को चुनौती देता है। दोनो प्रकार के लेखक विद्रोह को अपनी-अपनी विशिष्ट शैली में दर्ज करते हैं।

यूरोप के देशों मे स्वतन्त्रता, समता और बन्धुता के मानव-मूल्यों का युद्ध छेड़ने वाले रोमांटिसिज्म (स्वच्छन्दतावाद) के लेखक और कवि ही थे जिन्होंने अपनी उन्मुक्त कल्पना से प्यार, संवेदना, आशा, विद्रोह और कष्टों को सहने की क्षमता की अद्भुत सौन्दर्य-सृष्टि की। दूसरे विश्वयुद्ध के समय फ्रांस के अस्तित्व-वादी लेखको और कवियों ने भी स्वतन्त्रता और समता के अपने अधिकार को हर कीमत पर बनाए रखने और उनके प्रयोग से अपने अस्तित्व की घोषणा करने के लिए विद्रोह (रिजिस्टेंस) के रास्ते को अपनाया। हिन्दी साहित्य के जिस काल मे यह देश अपनी खोई हुई आजादी के लिए, विश्व में बराबरी का स्थान पाने के लिए और विश्व-बिरादरी में एक स्वाभिमानी सदस्य के रूप मे शामिल होने के लिए संघर्ष-रत था, उस समय सारे छायावादी कवियो ने शैले, कीट्स, बॉयरन जैसे विद्रोही कवियों से प्रेरणा ग्रहण कर उन्मुक्त प्यार, पूर्ण स्वतन्त्रता और अबाध स्वच्छन्दता का साहित्य लिखा।

संभवतः इसीलिए शैले, कीट्स, बॉयरन आदि कवि आधुनिक युग के मानव-अधिकारो के उद्घोषक के रूप में जाने जाते हैं। उस युग के कवियो और लेखकों की दृष्टि का संकेत हमें शैले की एक छोटी-सी कविता मे मिल सकता है जिसका भावानुवाद इस प्रकार है :

"कहती आस सीमातीत ऐसी पीर सहना
कष्ट जो दामिनी-सा हो उसे भी क्षमा कहना
और करना सर्वशक्तिमान सत्ता का उल्लंघन
प्यार करना, कष्ट सहना, तब तलक आशा धरे मन
जब तलक आशा स्वयं निज खण्डहरों से
रच नहीं ले गीत नव, चिरंतन स्वरों के
यही स्वच्छन्द सुन्दर हर्षमय जीवन यही है
यही है सफलता साम्राज्य सुख, जीवन यही है।

रोमांटिसिज्म के कवियों ने अपनी स्वच्छन्द कल्पना से जो काम किया, वही यथार्थ स्थितियों का चित्रण करने वाले डिकन्स और जोला जैसे उपन्यासकारों ने किया।

पीछे कहा जा चुका है कि मन और परिस्थितियों के द्वन्द्व की तीन दिशाएं होती हैं। कभी मन परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढाल लेता है, कभी वह परिस्थितियों का त्याग और तिरस्कार कर उनसे दूर हो जाता है और कभी परिस्थितियों के आमने-सामने खड़ा होकर संघर्ष की मुद्रा अपनाता है। परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढाल लेने की स्थिति अक्सर तब आती है जब लेखक व्यवस्था का अंग बन जाता है और चारण की भूमिका निभाने लगता है। अन्य दोनों स्थितियों में लेखक विद्रोह की मुद्रा में होता है। पलायन की मुद्रा का विद्रोह विशेष प्रभावकारी नहीं होता यद्यपि व्यवस्था के प्रति तिरस्कार और नितान्त उपेक्षा का कुछ नकारात्मक प्रभाव अवश्य होता है। इसका उदाहरण हमारा भक्ति-साहित्य है। संघर्ष की मुद्रा का साहित्य अत्यन्त प्रभावशाली होता है और विद्रोह में बहिष्कार से लेकर 'करो या मरो' का संकल्प हो तब तो यह महाशक्तिशाली व्यवस्थाओं को बदल सकता है।

समता की चाह : नारी और दलित चेतना का साहित्य

हिन्दी का अधिकाश साहित्य (और सभवत. अन्य भाषाओं का भी) स्वतत्रता की चाह से लिखा गया है। बधुता की चाह वैसे तो समस्त श्रेष्ठ साहित्य मे अर्तनिहित होती है किन्तु इससे प्रेरित विशिष्ट साहित्य भी हो सकता है। अभी तो बधुता का दार्शनिक विवेचन भी बहुत कम हुआ है। समता की चाह से प्रेरित साहित्य लिखा तो गया है किन्तु मात्रा अधिक नही है। कारण, यह साहित्य उसी व्यक्ति द्वारा लिखा जा सकता है जिसने विषमता की यातना झेली हो। भारतीय समाज मे विषमता की यातना झेलने वाला वर्ग स्त्री-शूद्र वर्ग है और चूकि उसे सदियों तक विद्या से वचित रखा गया, वह अपने मन को अभिव्यक्त करने मे सक्षम नही रहा। इसका यह मतलब कतई नही कि जो इस वर्ग मे नही आता वह समता का साहित्य लिख ही नही सकता। निश्चय ही लेखक में दूसरो की यातना को अपनी यातना बनाने की क्षमता होनी चाहिए। किन्तु यह पर-काया-प्रवेश जैसी साधना कोई बिरला लेखक ही कर पाता है। इसलिए सवर्ण जातियो मे पैदा लेखकों द्वारा शूद्रो की वास्तविक पीड़ा को स्वर देने वाली रचनाएं कभी-कभार ही सामने आती हैं। अधिकतर तो ऐसी रचनाओ मे भावुकता, कृत्रिमता और लेखक के अपने पूर्वाग्रहो का आरोप ही मिलता है। बाल-साहित्य के साथ भी ऐसा ही होता है। बाल-साहित्य उस व्यक्ति द्वारा लिखा जाता है जो बालक नहीं होता, जो अपने बचपन को बहुत पीछे छोड़ चुका होता है। यदि उसके भीतर बालक जीवित नहीं होगा तो वह कृत्रिम, उपदेशात्मक बाल-साहित्य ही लिख सकता है। इसीलिए बाल-साहित्य के नाम पर जो कुछ प्रकाशित होता है उसमें 90-95 प्रतिशत साहित्य लोक-कथाएं तथा उपदेशात्मक शिक्षा-प्रधान सामग्री होती है।

नारी-मन को अभिव्यक्ति देने या नारी को परिभाषित करने का काम अब तक पुरुषों ने ही किया है उसी तरह जैसे दलित मन को अभिव्यक्त करने का काम सवर्णों ने किया है महिलाओं और दलितों द्वारा लेखन में प्रवेश से कुछ दशकों

से स्थिति में परिवर्तन हुआ है हालांकि महिलाओं और दलितो को अपनी रच-नाओं पर मान्यता की मुहर लगवाने के लिए उन्ही मानदंडो के अनुसार लिखना पड़ता है जो पुरुषों और सवर्णों ने निर्धारित किए है । यह स्थिति कैसे बदलेगी, कहना कठिन है । जो साहित्य-शास्त्र स्कूलों-कालेजो में पढाया जाता है वह पुरानी सोच और पुरानी मान्यताओं में इतना जकड़ा हुआ है कि उसमे नये प्राण फूंकने की संभावना तो नहीं दिखाई देती । दो हजार साल पुरानी मान्यताए और वह भी हमारे उत्कर्षकाल की नहीं, ह्रासकाल की जिनके अनुसार शूद्र पशु के समान है और स्त्री नरक की खान, भोग की वस्तु, सिर्फ बच्चे जनने-पालने और पुरुष की कामना तृप्त करने के लिए । वह सिर्फ प्रेम का आलबन है, आश्रय नही, गोया स्त्री कभी प्रेम नहीं करती वह सिर्फ प्रेम का विषय होती है । पूरे साहित्य-शास्त्र में एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा जिसमें स्त्री को आश्रय बताया गया हो । रामचन्द्र शुक्ल आदि आचार्य जिन्होंने भारतीय साहित्य-शास्त्र की पश्चिम के विचारों के संदर्भ में पुनर्व्याख्या करने की कोशिश की, भारतीय साहित्य-शास्त्र की इन विसंगति को नहीं देख पाए । उन्होंने यह नही देखा कि स्त्री-शूद्र की मूल-भूत मानवीय इच्छाओं की उपेक्षा कर एकांगी दृष्टि वाला साहित्य-शास्त्र एकागी साहित्य को ही जन्म दे सकता है । आचार्य शुक्ल ने साहित्य की ऐसी सीमाएं बाध दी कि पिछले पचास दशकों में साहित्य का पठन-पाठन और लेखन उनके आस-पास ही घूम रहा है । किसी आचार्य में उन सीमाओं को तोडने का साहस नही हुआ । हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कुछ प्रयास अवश्य किया लेकिन उनके अधूरे काम को आगे नहीं बढ़ाया जा सका ।

आचार्य शुक्ल ने तुलसी को तो महान कवि कह दिया जो साहित्यकार से ज्यादा भक्त थे, जिन्होंने साहित्य को धर्म का दास बनाया तथा दासता को महिमा-मंडित किया लेकिन कबीर, सूर और मीरा को वे नहीं समझ सके जिन्होने समाज की बंधी हुई शक्तियो को मुक्त किया । साहित्य हर प्रकार की दासता से मुक्त करता है, ईश्वर की दासता से भी, और ऊंच-नीच, स्त्री-पुरुष के तमाम घेरो को तोड़कर समता और बंधुता का अहसास कराता है । साहित्य की यह कल्पना शुक्ल में या उनके अनुयायियों में कैसे आ सकती थी जब तुलसी के राम वर्णाश्रम धर्म की रक्षा के लिए ही अवतरित हुए थे ?

कुछ लोग दावा करते हैं कि साहित्य-रचना से स्त्री-शूद्र को बाहर रखकर भी इनकी भावनाओं को अभिव्यक्ति देने वाला साहित्य लिखा गया है और लिखा जा सकता है । एक आचार्य के शब्दो में हम साहित्य में स्त्री-शूद्र का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं । अब साहित्य-रचना या सृजन जीवन की सर्वोत्तम क्रिया है और हर व्यक्ति को इसमें प्रवृत्त होना चाहिए । इसके बिना वह जीवन को सम्पूर्ण रूप से नहीं जी सकता है । यह ठीक है कि सबमे यह क्षमता नही होती और ऐसे लोग

परोक्ष रूप मे साहित्य-पठन से इसकी आंशिक उपलब्धि प्राप्त करते है। सृजन का सुख (और पीडा भी) ऐसी अनुभूति है जिसे व्यक्ति स्वयं उस प्रक्रिया से गुजर कर ही प्राप्त कर सकता है। यह कहना कि साहित्य-रचना में स्वयं प्रवृत्त हुए बिना वह सम्पूर्ण सुख प्राप्त कर सकता है वैसा ही है जैसे पण्डों को खिलाए गए भोजन से पितरो की तुष्टि मान लेना। अतः साहित्य के मामले मे प्रतिनिधित्व का सिद्धात अनर्गल सिद्धांत है। स्त्री-शूद्र के मन की बात स्त्री-शूद्र ही सामान्यता कह सकते है।

यह बात उपलब्ध साहित्य पर नजर डालने से साफ हो जाती है। स्त्री की कल्पना व्यक्ति के रूप में नही, वस्तु के रूप मे करने वाले प्राचीन साहित्य मे स्वतंत्र और सम्पूर्ण व्यक्तित्व वाले नारी-पात्रों की बहुत कम गुंजाइश थी क्योकि ऐसा आमतौर पर माना जाता था कि पुरुष द्वारा खीची गई रेखा (लक्ष्मण-रेखा) को पार करते ही स्त्री का व्यक्तित्व-लोप हो जाता था और वह छाया या माया बन जाती थी (हालांकि द्रौपदी जैसे कुछ सशक्त नारी-पात्र अपवादस्वरूप मिल जाते है)। आधुनिक साहित्य मे भी स्वतंत्र और सम्पूर्ण व्यक्तित्व वाले नारी-पात्रों का नितात अभाव दिखाई देता है। मैथिलीशरण गुप्त की उर्मिला और यशोधरा का सारा जीवन पति के विरह मे बीत गया। उन्होंने तो स्त्री-जीवन की व्याख्या भी आचल मे दूध और आंखो में पानी के रूप में दे दी। जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य का नाम तो स्त्री के नाम पर रखा गया किन्तु उनके दोनों नारी-पात्र मनु की दो लालसाएं मात्र है, उनका स्वतंत्र अस्तित्व नही है। हिन्दी के आधुनिक उपन्यासो मे की गई नारी-पात्रों की सृष्टि अधिकतर सृष्टि नही है बल्कि लेखक द्वारा व्यक्तिगत सम्पर्क में आई नारियों को अपनी पूर्वधारणाओं के खाचे मे फिट करने का प्रयास भर है। पूर्वधारणाएं अर्थात् स्त्री भोग, विवाह, प्रेम और संतानोत्पत्ति में काम आने वाली चीज है। इन्हीं जरूरतों को पूरा करने के लिए उपन्यास मे स्त्री-पात्रों को लाया गया। यदि लेखक ने समझा कि चाट-मसाला अच्छी मात्रा मे होना चाहिए तो ऐसी नारियों को खोजा गया या फूहड़ ढंग से गढा गया जो दर्जनों पुरुषो द्वारा भोगे-सताए जाने के बाद लेखक की किसी पूर्वधारणा को सिद्ध कर सकें। यह काम यथार्थ चित्रण के नाम पर किया गया। कुछ लेखक इस बात पर गर्व करते हैं कि उनके पात्र प्रत्यक्ष जीवन के जीते-जागते पात्र है। ऐसे लेखको में पात्रों का सृजन करने की क्षमता नही होती और जब उन्हें जीवन मे उपयुक्त पात्र नहीं मिलते तो उनका लिखना भी बन्द हो जाता है।

रागेय राघव ने बहुत उपन्यास लिखे हैं और अनेक नारी-पात्रों की तथाकथित सृष्टि भी की है। लेकिन नारी-मन सबंधी उनकी धारणाएं बताती हैं कि वे नारी का संसार प्रेम विवाह सेक्स और की से बाहर

नहीं मानते थे। 'छोटी सी बात' की सुशीला कहती है कि स्त्री का तन ही उसके मन का शत्रु है। 'कल्पना' में लेखक कहता है : "नारी-तत्व उत्सर्ग मे निहित है। जहाँ कहीं अपने आप को उत्सर्ग करने की, अपने को खपा देने की भावना प्रधान है, वही नारी है।" 'छोटी सी बात' में लेखक का एक विचार-कण इस प्रकार है : "पुरानी नारी आप को भोग्या मानती थी। आधुनिक नारी पुरुष को अपना भोग्य मानती है पर यह नहीं जानती कि वासना के संघर्ष में वह पुरुष पर विजय पाना तो दूर, उसके समान भी नहीं हो सकती।" फिर 'राह न रुकी' मे पात्र के माध्यम से एक स्थान पर कहते है : "भाग्य का नाम मत दो उसे, वह तुम्हारे कर्मों का फल है (जैसे कर्मफल और भाग्य दो अलग चीजें हों)। यह झूठ है कि स्त्री पर अत्याचार हो रहा है, अत्याचार स्त्री और पुरुष दोनो पर हो रहा है।"

क्या आश्चर्य कि उनकी अधिकांश नारी-पात्र सेक्स की असीम भूख के सताए हैं जैसे, '[illegible]' की [illegible], 'आखिरी आवाज' की निहाल आदि। नागार्जुन के उपन्यासों में भी ऐसे पात्रों की भरमार है। वर्ग-संघर्ष की प्रक्रिया को तीव्र करने के लिए स्त्री का जितना भयानक शोषण दिखाया जा सकता है, जायज है, भले ही पाठकों को वह चाट-मसाला लगे। 'नई पौध' की बिसेसरी, 'कुम्भीपाक' की चम्पा और 'इमरतिया' की इमरती ऐसे कुछ उदाहरण हैं। भगवतीचरण वर्मा के नारी-पात्र भी लगभग इसी भांति भ्रष्ट हैं जैसे 'अचल मेरा कोई' की कुती, 'रेखा' की रेखा। चित्रलेखा तो सेक्स की ज्वाला है जिसे एक पुरुष झेल लेता है किन्तु दूसरा विवश हो जाता है। यशपाल के नारी-पात्रो में 'मनुष्य के रूप' की सोमा का व्यक्तित्व भी उसकी सेक्स अपील में सीमित है। उनके 'झूठा सच' की कनक और तारा को व्यक्तित्व का विस्तार देने का प्रयास हुआ है किंतु इस मार्क्सवादी धारणा ने कि आर्थिक मुक्ति सब रोगो की दवा है, उनमे वह विस्तार नही आने दिया है जो आना चाहिए था। वास्तव में मार्क्सवाद और फ्रायडवाद से प्रभावित लेखकों की नारियां गिनीपिग मात्र हैं जिन पर लेखक अपने दर्शन के प्रयोग कर सकता है। प्रेम एक बुर्जुआ विचार है और सेक्स, भूख की तरह एक सहज क्रिया जिसमें आत्मिक लगाव के लिए कोई स्थान नही है, इस विचार ने प्रगतिवादी उपन्यासों के नारी-पात्रों को भोग की वस्तु बनाया है। कहीं-कहीं उन्हें कुछ सामाजिक-राजनैतिक भूमिका भी दी गई है लेकिन पर्चे बाटने, प्रूफ पढने या कहीं-कहीं तमंचा दागने तक। मुख्य काम उनका दादा कामरेडों की सहज भूख की तृप्ति ही रहा है।

जैनेंद्र, शरत के हिंदी अवतार हैं (विष्णु प्रभाकर को उनकी कड़ी कहा जा सकता है) और उनकी नारियां विद्रोहिणियां होते हुए भी अपनी सार्थकता पुरुष के आगे समर्पण में मानती है। एक स्थान पर 'सुखदा' मे वे कहते हैं : "स्त्रिया चाहती हैं पुरुषों को झुकाएं और झुक जाता है तो उससे नाराज होती हैं। पुरुष का ताडना

करने के बजाय नम्र रह जाना ही औरत को असह्य हो जाता है।" अपने अंतिम उपन्यास 'दशार्क' मे भी वे इस विचार को नहीं छोड़ पाए कि औरत को पुरुष की ताड़ना या उग्रता में सुख मिलता है। बल्कि 'दशार्क' में पुरुष की हिंसा को धैर्य से सहना और इस प्रकार पुरुष को पशु बनने से रोकना स्त्री का सबसे बड़ा धर्म माना गया।

अज्ञेय इस मायने मे अलग हैं कि उनकी नारियां सेक्स की पूर्ण तृप्ति (फुलफिलमेंट) को विवाह से अधिक महत्व देती है जैसे : 'नदी के द्वीप' की रेखा लेकिन उनकी उपयोगिता पुरुष पात्रो के व्यक्तित्व के विकास मे सहायक होने के अलावा कुछ खास नही है जैसे शशि की 'शेखर एक जीवनी' मे। नरेश मेहता के नारी-पात्रो मे वही 'प्रगतिशील' स्पर्श है। उनके 'डूबते मस्तूल' की रजना दर्जनो पुरुषो द्वारा बलात्कार का शिकार बनाए जाने के बाद भी निष्काम कर्म-योगी की तरह बनी रहती है और 'यह पथबंधु था' की सरना अंत समय कामरेड दादा का चुम्बन कर अपनी सार्थकता सिद्ध करती है। अमृतलाल नागर ने अलबत्ता निरगुनिया के रूप मे स्वतंत्र व्यक्तित्व वाले नारी-पात्र की रचना की। हालांकि वे उसे वास्तविक घटना पर आधारित कहते है, उसका अपना व्यक्तित्व है चाहे जैसा भी हो। यह कर्ता है, कर्ता का विषय नही।

स्वातंत्र्योत्तर पीढ़ी के लेखको मे, जिन्होंने पुरानी पीढ़ी के लेखकों के खिलाफ विद्रोह करके 'नई जमीन तोड़ने' का दावा किया, स्त्री-पात्रों की सृष्टि के सबंध मे इतना ही अंतर आया कि उन्होंने स्त्री-पात्रो को किन्हीं दार्शनिक विचारो के परीक्षण के लिए गिनीपिग नहीं बनाया। किन्तु उन्होंने 'भोगे हुए यथार्थ' के नाम पर एक सरल नुसखे की खोज कर ली। इसके अनुसार लेखक जिन औरतों के सम्पर्क मे (यथार्थ या कल्पना मे) आया उसे उठाकर उपन्यास-कहानी मे रख दिया। अपने भोगे हुए यथार्थ को उन्होने स्त्री का भोगा हुआ यथार्थ भी मान लिया और वे इस विचार-संकट से बच गए कि उनके स्त्री-पात्र स्त्रियो के मन की अभिव्यक्ति करते है या नहीं। लेखन जारी रहे इसके लिए कोशिश की गई कि औरतों के अधिक से अधिक सम्पर्क मे (विवाह, प्रेम या महज इश्कबाजी द्वारा) आया जाए और जब वह क्षमता नही रही तो लिखना भी बंद हो गया। राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर, कृष्ण बलदेव वैद, महेन्द्र भल्ला, रमेश बक्षी आदि के लेखन को इसी परिप्रेक्ष्य मे समझा जा सकता है। मोहन राकेश और राजकमल चौधरी असमय चले गए वरना उनके लेखन का भी वही हश्र होता।

प्रश्न उठता है कि हिन्दी साहित्य मे क्यों नही ऐसे नारी-पात्रो की रचना हुई जो सेक्स, प्रेम, विवाह, तलाक, संतानोत्पत्ति के घेरे से बाहर जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के तनावो को झेलते, उनसे टकराते एक सम्पूर्ण जीवन जीते हैं? क्या इन घेरों से निकलकर विभिन्न क्षेत्रों मे काम करने वाली महिलाएं हैं ही नहीं?

इंदिरा गांधी, विजय लक्ष्मी पंडित, प्रमिला दंडवते, मृणाल गोरे, मेधा पाटकर, किरण बेदी, संतोष यादव, बछेंद्री पाल, शाइनी, पी टी ऊषा या अन्य क्षेत्रों मे काम करने वाली महिलाएं क्या पैदा नहीं होती जो अपनी पहचान प्रेयसी-पत्नी के अलावा किसी और रूप में भी बनाती हैं ? प्रसिद्ध महिलाएं ही क्यों, सामान्य जीवन जीने वाली महिलाएं भी सिर्फ प्रेयसी, पत्नी या मां-बहन नहीं होती वे कुछ और भी होती हैं। खेतो, कल-कारखानों, दुकानों, दफ्तरो, रक्षा-सेवाओ आदि मे काम करने वाली महिलाओं की एकमात्र समस्या सेक्स नही होती, उन्हे पचासो तरह की समस्याओ का सामना करना पड़ता है, तनाव झेलने पडते है और चुनौतियो का मुकाबला करना पड़ता है तथा सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक सत्ताओ के मारक बोझ से अपने व्यक्तित्व को बचाना पड़ता है। कौन करेगा इस संघर्ष की, इस यातना की अभिव्यक्ति, सिवा महिलाओ के ?

नहीं, पुरुष लेखक यह काम नही कर सकता। न उसे इसका ज्ञान होता है और न यह उसका भोगा हुआ यथार्थ होता है। अपनी चमड़ी से बाहर निकलने की क्षमता हिन्दी लेखक मे (और भाषाओं की बात नही करता, संभवतः वहा भी यही स्थिति हो) विकसित नहीं हुई है। वह तो औरत के संबध मे 'मनुस्मृति' की धारणाओं से भी मुक्त नहीं हो पाया है। सिनेमा, टेलीविजन और विज्ञापन माध्यमो ने (जिनमे अधिकतर गैर-साहित्यकार होते हैं) तो औरत की बहुत वाहियात तसवीर पेश की है और उसको सेक्स की पुड़िया बना दिया है किन्तु साहित्य-कर्मियो ने भी अब तक कोई अच्छा काम नहीं किया है।

महिलाएं भी उस तरह के स्त्री-पात्रो की सृष्टि नही कर पा रही है जिस तरह के पात्र होने चाहिए। लेकिन यह मुख्य रूप से इसलिए कि उनके सामने साहित्य के जो मानदंड है वे पुरुषो द्वारा निर्धारित हैं और साहित्य मे स्थान बनाना है तो उन्हें उन्ही मानदडों को अपनाना पडता है। यही स्थिति दलित-लेखन की भी है। दलित लेखकों को भी उन्ही मानदंडो के चौखटे मे अपनी रचनाओं को फिट करना पड़ता है जो सवर्ण समाज ने बनाए हैं। उनके आत्मकथ्यात्मक लेखन में समाज की जो विद्रूपता सामने आ रही है, यथार्थ चित्रण के नाम पर उसे सवर्णो के बीच प्रशंसा मिल रही है। किन्तु क्या इससे सवर्णों की संकीर्ण धारणाएं भी ध्वस्त रही हैं ? नहीं, उन्हें एक तरह से मानसिक सुख मिल रहा है यह सोचकर कि हम समाज की इस विद्रूपता से अलग हैं।

महिलाओं के लेखन की भी लगभग यह स्थिति है। महिलाओं के आत्म-कथ्यात्मक लेखन को पुरुष समाज मे कुछ चटकारे के साथ स्वीकार किया गया जिससे उत्साह पाकर कुछ लेखिकाओं को महिला-लेखक कहा जाना भी अच्छा नही लगता। हालांकि जब कृष्णा सोबती और मृदुला गर्ग जैसी प्रखर लेखिकाओ ने निधड़क होकर कुछ बातें कहीं तो पुरुष को नागवार गुजरा। तथापि इस समय

कई प्रतिभाशाली लेखिकाएं लेखन को अपनी पहचान बनाने का गंभीर प्रयास कर रही हैं और नये मुहावरे, नई सोच की तलाश मे हैं। दरअसल वे बिना यह जाने लिख रही हैं (दलित लेखकों की तरह ही) कि उनके लेखन की प्रेरक शक्ति समता की चाह है। समता की चाह के साहित्य मे नारी आब्जेक्ट या आलम्बन नहीं, सब्जेक्ट या आश्रय होगी। उसका चित्रण पुरुष के निमित्त नही, अपने निमित्त होगा। इस तरह की साहित्य-रचना महिलाओं और पुरुष-लेखकों दोनो के लिए जबर्दस्त चुनौती है।

दलित साहित्य : दिशा, दृष्टि और विचार

मराठी के दलित साहित्य का आंदोलन साठ के दशक मे शुरू हुआ और अब वह तीन दशक पुराना हो चुका है। तेलुगु में दिगंबर कविता और कन्नड मे बंडाय साहित्य का आंदोलन भी पृथक साहित्यिक धारा के रूप में स्वीकृत है। किंतु हिंदी मे दलित साहित्य का अभी उन्मेष ही हुआ है। कारण संभवतः यह है कि इसके लिए काफी बड़ी संख्या में दलित लेखकों का आगे आना जरूरी है और हिंदी में इसके लिए स्थितियां अनुकूल नहीं हैं।

इसका कारण यह नहीं है कि दलित वर्ग में लेखक पैदा करने की क्षमता नहीं है। इस तरह का वाहियात तर्क देने वालों की कमी नहीं है। कारण संभवतः यह है कि हिंदी शुरू से ही सवर्ण जातियों की भाषा रही। ब्राह्मण, ठाकुर, कायस्थ, बनियों के अलावा अन्य जातियों के लेखक दीया लेकर ढूंढने पर ही मिल सकते हैं। जातियों का उल्लेख बेहूदगी हो सकता है लेकिन हिंदी लेखन-जगत के चरित्र को समझने के लिए यह जरूरी है। जातियों के उल्लेख से बचने की हमारी प्रवृत्ति हमारे पाखंड की द्योतक है। हम जातिवाद से ऊपर उठने का ढोंग करते हैं जबकि हमारा हर व्यवहार जातिवाद से चालित होता है। जातिवाद हमारे समाज में मवाद की तरह भरा हुआ है और इसे छिपाने के बजाय बाहर निकालने की आवश्यकता है।

दलित जातियों के लेखक न उभर पाने का एक और कारण रहा हिंदी को शुरू से ही संस्कृतनिष्ठ बनाने की प्रवृत्ति। अच्छी हिंदी लिखने का मतलब ही यह माना जाता था कि इसमें साधारण बोलचाल के शब्द बहिष्कृत हों और निरुक्त-निघंटु का ज्ञान अधिक से अधिक प्रतिबिंबित हो। भारतेन्दु काल में अवश्य बोलचाल की भाषा की प्रधानता रही किंतु शुक्ल-द्विवेदी काल मे हिंदी ऐसी हो गई कि विभक्तियों को हटा दिया जाए तो बताना मुश्किल हो कि रचना हिंदी की है या संस्कृत की। संभवतः संस्कृतनिष्ठ और बोलचाल की भाषा का द्वंद्व ब्राह्मण-कायस्थ द्वंद्व का द्योतक था। विश्वविद्यालयों में आज भी संस्कृतनिष्ठ भाषा का साम्राज्य है। इस देववाणी-प्रधान भाषा के साहित्य मे दलितों के लिए कहां स्थान हो सकता है जिन्हें सदियों तक इसे सुनने और बोलने की मनाही थी।

हिंदी के इस पहलू पर प्रखर दलित लेखक डा० धर्मवीर की पुस्तक 'हिंदी की आत्मा' का अध्ययन किया जाना चाहिए।

हिंदी में जैसे नारी पात्र पुरुषों के निमित्त हैं वैसे ही दलित पात्र भी अधिकतर सवर्णों के निमित्त है क्योंकि जैसे स्त्री-मन के बारे में अधिकतर पुरुषों ने लिखा उसी तरह दलित-मन के बारे में अधिकतर सवर्णों ने लिखा। या तो दलित-पात्र सवर्णों में करुणा जगाने के लिए हैं या उनका संस्कार करने के लिए, उनकी उदारता, महानता या नीचता दिखाने के लिए। दूसरे शब्दों में वे सब्जेक्ट नहीं बने, आब्जेक्ट ही रहे। हिंदी साहित्य को पढ़ने के बाद हम नहीं जान सकते कि दलित अपने बारे में क्या सोचते हैं, क्या महसूस करते हैं क्योंकि जो कुछ इसमें अभिव्यक्त हुआ वह सवर्णों के मन से निकला। सवर्णों ने जैसा देखा, जैसा महसूस किया उसीकी जानकारी हमको मिलती है। इस दृष्टि से यह कहना गलत नहीं होगा कि जब तक दलितों में से बड़ी संख्या में लेखक नहीं आएंगे तब तक सही मायनों में हिंदी में दलित साहित्य नहीं आएगा। स्मरणीय है कि किसी समय साहित्य में नायकत्व का स्थान देवी-देवताओं को मिलता था जैसे पौराणिक साहित्य में। मध्यकाल में राजाओं-सामंतों को भी यह स्थान मिला। साधारण आदमी को नायकत्व का स्थान आधुनिक काल में मिला। स्त्री-शूद्र को नायकत्व का स्थान केवल समता की चाह से प्रेरित साहित्य में ही मिल सकता है।

हिंदी में दलित-साहित्य प्रचुर मात्रा में होने का दावा कई लोगों ने किया है। किंतु घूम-फिर कर प्रेमचंद की 'कफन' और 'सद्गति' कहानियों को ही उदाहरण के रूप में आम तौर पर पेश किया जाता है। इसमें 'कफन' कहानी तो निश्चय ही दलित-विरोधी है। इस कहानी में आर्थिक विषमता के कुपरिणामों को दिखाया गया है इसलिए प्रगतिशीलों की दृष्टि में यह क्रांतिकारी कहानी है और वे इसे दलित चेतना की कहानी भी कहते हैं। किंतु आर्थिक विषमता का कुपरिणाम दलित वर्गों के पाशवीकरण में ही क्यों दिखाया गया, ब्राह्मण-क्षत्रिय भी तो गरीबी में अधम, नीच हो सकते हैं। आखिर विश्वामित्र ने कुत्ते का मांस खाया ही था। यह कहानी प्रगतिशीलता की कसौटी पर भी खरी नहीं उतरती। प्रगतिशील दृष्टि शोषित पात्र को पशु के स्तर तक नहीं गिराती, वह सर्वहारा का लुम्पीकरण नहीं करती। अतः यह कहानी प्रेमचंद की प्रगतिशीलता की नहीं, प्रगतिशीलता से उनके मोह-भंग की कहानी है। 'सद्गति' भी दलित साहित्य की कहानी नहीं है। इस कहानी में लेखक का प्रयोजन कर्मकांडी ब्राह्मण की धूर्तता और स्वार्थ का पर्दाफाश करना था और वह बहुत सटीक ढंग से किया भी गया है।

यहां कोई प्रश्न कर सकता है कि दलित साहित्य से मेरी मुराद क्या है? निश्चय ही मैं इस बात को नहीं मानता कि दलित साहित्य केवल दलितों द्वारा

ही लिखा जा सकता है। किंतु यह मैं अवश्य मानता हूं जब तक दलितों में से बड़ी संख्या में लेखक नहीं आएंगे हिंदी में दलित साहित्य का अभाव ही रहेगा क्योंकि सवर्णों में असाधारण लेखक ही दलित साहित्य लिख सकता है।

मराठी का अधिकांश दलित साहित्य दलित लेखकों द्वारा आत्मकथ्य के रूप में लिखा गया। यह समाज की भयानक और वीभत्स तस्वीर थी जो पहले देखने को नहीं मिली थी। हिंदी में भी कुछ लेखकों ने इस फारमूले को अपनाया है। ओमप्रकाश वाल्मीकि ने इस तरह की एक कहानी लिखी है। मराठी में इस साहित्य को नवीनता के कारण मान्यता मिली और दिग्गज साहित्यकारों एवं समीक्षकों ने इसे मराठी साहित्य की बहुमूल्य देन के रूप में स्वीकृत किया। किंतु अब इस साहित्य का वह आकर्षण नहीं रह गया है और यह धारा शिथिल पड़ती जा रही है। एक ही तरह के अनुभवों की पुनरावृत्ति हो रही है। साहित्यिक गुणों के अभाव के बावजूद कई रचनाएं प्रतिष्ठित और पुरस्कृत हुईं। युवा लेखक लक्ष्मण गायकवाड़ की पहली ही रचना पर साहित्य अकादेमी का पुरस्कार मिलने पर विजय तेंदुलकर जैसे प्रसिद्ध लेखक को भी कहना पड़ा कि यह साहित्य के लिए अच्छा नहीं है। दलित लेखक भी अनुभव करने लगे हैं कि अपने को नंगा करने वाला यह साहित्य दलित समाज में लोकप्रिय अथवा स्वीकृत नहीं हुआ बल्कि नापसंद ही किया गया किंतु सवर्ण समाज ने इसे सराहा और इसका स्वागत किया। दलित लेखकों को सवर्णों में प्रतिष्ठा अवश्य मिली किंतु अपने समाज में वे कट गए। संभवतः सवर्ण समाज को इससे एक तरह का पैशाचिक सुख मिला, वैसा ही जैसा दर्दनाक दुर्घटना से आदमी को मिलता है, इस अहसास से कि मैं इससे अलग हूं। सवर्णों को इसमें सुरक्षा-कवच मिला जिसमें बंद रह कर वे दलितों के प्रति 'सहानुभूति' का सुख ले सकते थे। यदि मराठी दलित साहित्य से सवर्ण लोगों को अपने पापों का बोध हुआ होता और उनके श्रेष्ठता-बोध में कमी आती तो इस साहित्य की सार्थकता मानी जा सकती थी। किंतु ऐसा कुछ नहीं हुआ। महाराष्ट्र के ब्राह्मण-प्रभु-मराठे उतने ही संकीर्ण हैं। वे आंबेडकर या महात्मा फुले के प्रति उतने ही असहिष्णु हैं और मराठवाड़ा विश्वविद्यालय का नाम बदलने के सवाल पर उसी तरह लोगों के घर फूंकने तथा दंगे भड़काने के लिए तैयार रहते हैं। न तो यह साहित्य दलितों के हीनता-बोध को कम करता है और न सवर्णों के श्रेष्ठता-बोध को। तो फिर इसकी सार्थकता क्या हुई? साहित्य तो जीवन के प्रति आस्था जगाता है, हारे-थके मनों को जीने का हौसला देता है, आदमी को पशु-स्तर से ऊपर उठाता है और सही मायनों में उसे आदमी बनाता है। यह सब काम इस साहित्य के द्वारा कहां हो रहा है?

नहीं। दलित साहित्य के लेखकों को ही नहीं सभी लेखकों को इस बात पर विचार करना होगा कि साहित्य की सार्थकता हम किसमें मानेंगे। आखिर लेखक

लेखक है। उसमे जाति, धर्म, लिंग, नस्ल आदि के भेद हो सकते हैं किंतु लेखक के रूप मे उनमे कोई भेद नही होता। साहित्य का धर्म एक है, उसके मूल आधार एक है, उसकी रचना-प्रक्रिया और ग्रहण-प्रक्रिया भी एक है। तो फिर साहित्य को हम किस रूप में परिभाषित करें कि दलित साहित्य उसकी चौखट मे आ सके। प्राचीन साहित्य-शास्त्र की दृष्टि अथवा तथाकथित आधुनिक मार्क्सवादी-गैर मार्क्सवादी दृष्टि इसमे सहायक नही होगी। हमें नए ढंग से साहित्य को परिभाषित करना होगा और साहित्य की मूलभूत प्रेरणा स्वतंत्रता, समता आदि को बनाना होगा।

साहित्य आदमी की कुछ मूल इच्छाओं या आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। ये इच्छाएं आहार, निद्रा, भयमुक्ति की भौतिक जरूरतों से अलग है। भौतिक आवश्यकताएं आदमी के भौतिक अस्तित्व के लिए होती हैं और ये आदमी और पशु सबके लिए समान हैं। इनके अलावा आदमी की कुछ आध्यात्मिक आवश्यकताए होती हैं जिनकी पूर्ति न हो तो आदमी आदमी नही रहता, बिना सीग-पूछ का पशु बन जाता है। कुछ लोगों ने इन्हें सत्य, शिव और सुंदर की इच्छाए कहा और किसी दैवी सत्ता को उनका मूल स्रोत मानकर आदमी को धर्म की ओर उन्मुख किया। किंतु सत्य, शिव और सुंदर फल हैं, किन्ही मूल प्रवृत्तियो का परिणाम है, इसीलिए उनके मूल स्रोत की खोज की जाती है। कोई रचना, कोई काम हमे सत्य, शिव, सुंदर क्यो लगता है, इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक हो जाता है अतः इन्हे मूल इच्छाए नही कहा जा सकता। मूल इच्छाए है स्वतत्रता, समता और बधुता। यही साहित्य-कलाओं की प्रेरक भी हैं और इन्ही की तुष्टि साहित्य-कलाओ का लक्ष्य भी है।

जैसा कि पीछे कहा गया, विश्व का अधिकांश साहित्य स्वतंत्रता की चाह का साहित्य है। स्वतत्रता धार्मिक, राजनैतिक, सामाजिक सत्ताओ से हो या अपने मन के पूर्वाग्रहो और जड संस्कारों से हो, है वह स्वतत्रता की चाह की अभिव्यक्ति। समता की चाह की अभिव्यक्ति अभी हाल ही की चीज है। साम्राज्यवाद से मुक्ति प्राप्त करने के बाद दलित-शोषित समाजों को इसका तीव्र बोध हुआ। भारत में इस चाह को जगाने का काम डा० आंबेडकर और डा० लोहिया ने किया। दलित साहित्य और नारी-चेतना का साहित्य अन्य प्रकार के साहित्य से इस रूप मे भिन्न है कि यह समता की चाह का साहित्य है। अमरीकी और लैटिन अमरीकी देशों के साहित्य में भी समता की चीख सुनाई पडती है इसलिए उसमे नई ताजगी और विशिष्टता दिखाई देती है। नारी-चेतना के साहित्य मे भी, जिसे 'फेमिनिस्ट' कहकर 'डिसमिस' करने की कोशिश की जाती है, समता की चाह अपनी अभिव्यक्ति पाती है। आगे आने वाले वर्षों मे इन दो धाराओ का ही वर्चस्व रहेगा इसका कारण है कि समता की चाह सारे विश्व में नया आवेश,

नया रचनात्मक तनाव प्रस्तुत कर रही है। यह भी सही है कि इस तरह का साहित्य अधिकतर दलितों और महिलाओं द्वारा ही लिखा जाएगा क्योंकि जिसने विषमता की यातना भोगी है वही यह साहित्य लिख सकता है। लेकिन यह भी सच है कि इस लेखन के पीछे स्पष्ट विचार और ठोस दर्शन नही होगा तो इसकी दिशा गलत हो जाएगी जैसाकि मराठी दलित साहित्य मे हुआ और वह सवर्णों की पैशाचिक तुष्टि का और दलितों के अवसाद का साहित्य बन गया या नारी-चेतना के साहित्य मे हो रहा है जहा सेक्स सबंधो की 'बोल्डनेस' को ही स्त्री-स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति मानने से पुरुष समाज को पैशाचिक तुष्टि मिल रही है।

गैर-दलित और पुरुष भी समता की चाह से प्रेरित साहित्य लिख सकते है। किंतु यह कठिन साधना से ही होगा। भारतीय समाज जो दो-अढ़ाई हजार वर्ष से जडता-ग्रस्त रहा है अपने रूढ़ सस्कारो से लड़ना नही सिखाता। आमतौर पर हमे विषमता की पीड़ा नही सताती, उन लोगो को भी नही जो विषमता की चक्की मे पिसते है। तथापि अच्छे लेखक मे अपने बंधनों को तोडने की क्षमता होती है और यह मानने का कोई कारण नहीं कि दलित साहित्य गैर-दलितो द्वारा तथा नारी-चेतना का साहित्य पुरुषों द्वारा नही लिखा जा सकता है।

विभूति नारायण राय और से० रा० यात्री द्वारा सम्पादित 'वर्तमान साहित्य' का दो भागो मे कहानी विशेषाक प्रकाशित हुआ था जिसमे से दो कहानियो का उल्लेख इस सदर्भ मे किया जा सकता है। एक कहानी है मार्कडेय की 'हलयोग' और दूसरी हृदयेश की 'मनु'। आज की पीढी के सदर्भ में इन दोनो कहानीकारों को पुरानी पीढी का कहा जा सकता है। इन दो कहानियो को मैं दलित साहित्य की अच्छी रचनाए कह सकता हू हालाकि इनके लेखक दलित नही हैं। 'हलयोग' कहानी दिल दहला देने वाली कहानी है। इसमे दलित परिवार का एक प्रतिभाशाली लडका पढ़-लिखकर गाव के प्रायमरी स्कूल मे अध्यापक बन जाता है। चौथे वर्ण का होने के कारण उसका नाम चौथीराम रख दिया जाता है। सवर्ण अपने बच्चों को उसकी कक्षा मे नही भेजना चाहते क्योंकि चौथीराम ने फैसला किया कि हरिजन और सवर्ण बच्चो को समानता के आधार पर या तो टाटपट्टी मुहैया कराई जाएगी या दोनो को जमीन पर बैठना होगा। चौथीराम मैले-कुचैले हरिजन बच्चों के हाथ-मुह धुलाता था और उनकी साफ-सफाई का ध्यान रखता था। सवर्णों ने उसको निकलवाने की साजिशें रची। जब वे उनमें सफल नही हुए तो उसे किसी जिन्न-भूत की आत्मा का शिकार बता कर पागल बना दिया। यह सब इस तरह से किया गया कि उसके घरवाले भी उसे पागल समझने लगे और गाव के ओझों-चेलों से उसे भयानक यातनाएं दिलाई गई इनमे एक यातना थी 'हलयोग' अर्थात लकडी के बड़े नटठे को चीर कर उसके बीच उसकी टाग जकड दी गई जिससे वह कई दिनों तक वहीं नटठे से

बंधा रहा। वह बंधा-बंधा ही खाना-पीना और वहीं टट्टी-पेशाब करना और उसके नजदीक कोई नही जाता था। चौथीराम के हमदर्द केवल कुछ बच्चे थे जिनमें सवर्णों के बच्चे भी थे जो अपने मास्टर जी को बहुत प्यार करते थे। लेकिन ये बच्चे लाचार थे, अपने माता-पिताओं की क्रूरता को वे समझ नहीं पाते थे और उन्होने दहशत भरे मन से इन सारी घटनाओं को देखा। कुल मिलाकर यह एक भयानक किंतु खूबसूरत कहानी है।

हृदयेश की कहानी 'मनु' में सत्यनारायण झिंगरन नाम के एक कर्मकांडी ब्राह्मण का प्रसग है जो बेहद गरीबी मे जीने के बावजूद जमाने की बदलती हवा के साथ अपने जीवन का तालमेल नही बिठा सका। हरिजनो के हौसले बुलंद हुए और वे पडितो के साथ मुहजोरी तथा हाथपाई करने लगे। थाने मे शिकायत भी नही सुनी जाती थी क्योंकि वहा भी हरिजन थानेदार आ गए थे। पड़ोस के बाल्मीकि मरे हुए कुत्ते को उठाने से आनाकानी करते है और अपने सूअरो-मुर्गियो को पडित जी के घर के अदर भेज कर उसे अपवित्र कर देते हैं। तंग आ कर वह आत्महत्या कर लेता है और उसके आत्मदाह को आरक्षण-विरोधी आत्मदाह कह कर प्रचारित किया जाता है।

यदि हम नारी-चेतना के साहित्य को भी दलित साहित्य मान कर चलें, जो गलत नहीं होगा, तो इसके उदाहरण के रूप मे मैं नयनतारा सहगल और डा० एन० मंगतराय के प्रेमपत्रों के सग्रह 'रिलेशनशिप' का जिक्र करूंगा। प्रेम स्वतंत्रता, समता और बंधुता का साधक सबसे सुदर और प्रबल भाव है। इसे रसराज ठीक ही कहा गया है। यह बड़ी से बड़ी सत्ता के खिलाफ विद्रोह है। आदम और हौवा ने ईश्वर से विद्रोह और स्वर्ग के सुखों का त्याग किया था। प्रेम धनी-निर्धन, सवर्ण-असवर्ण, श्वेत-अश्वेत की दीवारों को तोड़ने में समर्थ है। एक सुदर प्रेम-कथा आदमी को वह अहसास दिलाती है जो पोथी-ज्ञान और अध्यात्म की साधना से नहीं मिल सकता। 'रिलेशनशिप' मे प्रेम का ऐसा उदात्त रूप देखने को मिलता है जो मन के सारे मैल धो देता है।

मेरे विचार से दलित साहित्य को दलित लेखको द्वारा अपने घर के चिथडे बिखरने तक सीमित नही रखा जाना चाहिए। यह अत्यंत शक्तिशाली धारा है और इसकी अनंत संभावनाएं हैं। गैर-दलितों को भी पूरी गंभीरता के साथ इसमे प्रवृत्त होना चाहिए। कविता मे तो दलित साहित्य की दृष्टि अद्भुत सौंदर्य-सृष्टि कर सकती है क्योंकि कविता प्रथम भावोन्मेष से, फर्स्टहैंड इंप्रेशन से, आती है अत: नितात नई दृष्टि से वस्तुओं के देखे जाने के कारण स्थितियों पर नया प्रकाश पडेगा। कथा साहित्य में भी बधी-बधाई परिपाटियां टूट सकती हैं और नपुसक क्रोध और आवेश के बजाय विद्रोह और उत्सर्ग को वाणी देने वाली प्रेमादि कोमल मनोभावो की उत्कृष्ट कालजयी रचनाएं आ सकती हैं।

साहित्य की कुछ प्रमुख धारणाएं : पुनर्विचार

हमारा साहित्य-शास्त्र जीवन की जिस अवधारणा पर आधारित था, वह अवधारणा आज कोरे विश्वास के स्तर पर ही अपनाई जा सकती है, बुद्धि के स्तर पर नहीं। पूर्वजन्म-परजन्म, भाग्य अथवा कर्मफलवाद, मोक्ष-निर्वाण आदि से जुडी जीवन की अवधारणा के कारण हमारे साहित्य-शास्त्र मे भी अलौकिकता का तत्त्व आया और कभी साहित्य मे मिलने वाले रस को ब्रह्मानंद सहोदर कहा गया, कभी साहित्यकार को भावयोगी या मधुमति भूमिका का साधक कहा गया।

किन्तु आज साहित्य-कला, राजनैतिक-सामाजिक कार्य-व्यापार के लिए हमे जीवन की यथार्थ तथा अनुभवगम्य दृष्टि को ही अपनाना पडेगा। हमे यह मानकर चलना होगा कि जीवन जन्म से शुरू होकर मृत्यु पर खत्म हो जाता है। इस जीवन का न पिछले किसी जीवन से सम्बन्ध है और न अगले किसी जीवन से। न इस जीवन के सुख-दुख के कारण किसी पूर्व जन्म मे है और न इसकी पूर्णता किसी अगले जन्म पर निर्भर है। न मनुष्य जन्म के साथ पूर्व जन्म की किसी चीज को लेकर आता है और न मरने के बाद रूह या आत्मा जैसी कोई चीज बची रहती है जो स्वर्ग-नरक पाती है अथवा ब्रह्म में विलीन होती है। जीवन की इस अवधारणा को स्वीकार करने का यह मतलब भी है कि जन्म एक संयोग है, एक आकस्मिक घटना है। कौन किस परिवार या भू-भाग में जन्म लेता है यह न तो किसी पूर्व कारण पर निर्भर करता है और न दैवी इच्छा पर। इसलिए जन्म के साथ हर मनुष्य स्वतंत्र होता है और उसके अधिकार हर मनुष्य के बराबर होते हैं। दूसरे शब्दों में स्वतंत्रता, समता और बंधुता हर मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकार होते हैं हैं जिन्हें छीनना जीवन-विरोधी काम है। चूंकि ये अधिकार मनुष्य के जीने की अनिवार्य शर्तं हैं साहित्य-कलाओं का काम सभी प्रकार के दबावों और बंधनों से इन अधिकारों की रक्षा करना है।

हर जीव की प्रवृत्ति होती है जीवन की ओर बढ़ना और मृत्यु से अपनी रक्षा करना। जीवन-मृत्यु के इस द्वंद्व का अंत मृत्यु है जो अटल है और इसलिए जीवन का सारा व्यापार एक तरह से बेतुका और निराशापूर्ण होता है। मनुष्य इस बेतुके-

पन और निराशा से बचने के लिए कई तरह के झूठमूठ के विश्वास ओढ़ता है जैसे आत्मा की अनश्वरता, मृत्यु के बाद का जीवन या परमात्मा के साथ सहवास, मोक्ष आदि। किंतु ये झूठमूठ के विश्वास उसे कृत्रिम शांति देते हैं, वास्तविक शांति नहीं। वास्तविक शांति उसे तभी मिल सकती है जब वह जिंदगी के इस बेतुकेपन को सहज भाव से स्वीकार करे। वह यह मानकर चले कि इस द्वंद्व का अंतिम परिणाम मृत्यु है किंतु इससे जीवन की सार्थकता कम नहीं हो जाती। बेतुकेपन के बावजूद, निराशा के बावजूद उसे जीवन की ओर बढ़ना है और अपने जन्मजात अधिकारों—स्वतंत्रता, समता आदि—को जीते हुए मृत्यु को, जो अवश्यभावी है सहज भाव से ग्रहण करना है। यही उसकी मृत्यु पर विजय है। अपने व्यक्तिगत सघर्ष को मानव-जाति के व्यापक सघर्ष का अंग मानकर वह निराशा के बावजूद जीवन की सार्थकता को बोध प्राप्त कर सकता है। जिस अनुपात में वह व्यक्तिगत सघर्ष को मानव-जति के व्यापक संघर्ष के साथ जोड़ने में समर्थ होता है उसी अनुपात मे उसमें जिंदगी के बेतुकेपन को सहने, निराशा में काम करने और मृत्यु के भय पर विजय प्राप्त करने की शक्ति विकसित होती है। यही निराशा कर्म, सृजन और निष्काम कर्म है।

अक्सर आदमी जीवन में घटी आकस्मिक दुर्घटनाओं से अभिभूत होकर पूर्व जन्म के कर्मफल, प्रारब्ध या दैवी हस्तक्षेप में विश्वास करने लगता है। उसे लगता है कि किसी अदृश्य शक्ति ने उसे अपने क्रोध का लक्ष्य बनाया है इसलिए वह उन अदृश्य शक्तियों के आगे आत्मसमर्पण द्वारा अपने मन को सात्वना देने का प्रयत्न करता है। यह उसके हारे हुए, टूटे हुए मन की प्रतिक्रिया है। सयोग, आकस्मिक दुर्घटना या अकारण दुख को प्राकृतिक जीवन की विशेषता मानकर दु:खो को सहज भाव से स्वीकार करने के लिए बहुत मजबूत मन की जरूरत होती है। ऐसे मन की साधना बहुत कठिन होती है। हम इस कठिन साधना से गुजरने के बजाय अदृश्य शक्तियों की आस्था का सरल मार्ग चुनते हैं। यह जीवन के यथार्थ से पलायन है।

जीवन की यथार्थवादी दृष्टि से जिस साहित्य की रचना होगी उसकी सौंदर्य सबधी अवधारणाए प्राचीन साहित्य की अवधारणाओं से अलग होगी। उदाहरण के लिए प्राचीन समाजों मे सौंदर्य को ईश्वरीय गुण माना जाता था। सत्य, शिव और सुन्दर शब्दों की व्याख्या हम अनिर्वचनीय भाषा में ही कर सकते थे। जैसे सुदर के सबध मे आमतौर पर कहा जाता है कि जो हमारे मन को आकृष्ट करे, जिसे देखकर हम अपनी सुध-बुध भूल जाए और किसी विराट की लय मे खो जाए, या जो हमारे मन के सताप हर कर हमें अपूर्व आनद मे डुबो दे वह सुंदर है। किंतु मन को आकृष्ट करने, सुध-बुध भुलाने वाला अपूर्व आनंद क्या है, क्यो मिलता है या किस प्रक्रिया के द्वारा मिलता है, इन सवालों में जाने की हम

जरूरत नहीं समझते। हम मान लेते हैं कि यह एक दैवी वरदान है, एक दिव्य त्रिकिरण है।

महात्मा गांधी ने सत्य के संबंध में सभी प्राचीन धार्मिक समाजों से स्वीकृत दृष्टि 'ईश्वर ही सत्य है' को मानने के बजाय 'सत्य ही ईश्वर है' कहा। इसके साथ ही उन्होंने स्वतंत्रता को सबसे बड़ा सत्य माना। अतः गांधीजी के अनुसार जिसने आजादी को पा लिया उसने मानो ईश्वर को पा लिया। साहित्य की सही दृष्टि यही है। जो चीज हमें स्वतंत्रता, समता और बंधुता की ओर ले जाए, हममें इनका बोध जगाए, वही सुंदर है। राजमहल में बैठे किसी कवि को भयानक आंधी-तूफान में भी दिव्य सौंदर्य की झलक मिल सकती है किंतु झोपड़ी में रहने वाले आदमी के लिए उस आंधी-तूफान में कोई सौंदर्य नहीं होगा। अतः सौंदर्य कोई सर्वसामान्य कल्पना नहीं हो सकती। सौंदर्य जीवन की ओर बढ़ने और बाधाओं से लड़ने में है। यह प्रत्येक व्यक्ति की स्वतंत्रता, समता, बंधुता की मूल आकांक्षाओं से जुड़ी कल्पना है। गुलामी में कोई सौंदर्य नहीं हो सकता और न ही विषमता और शत्रुता में सौंदर्य हो सकता है। साहित्य में सौंदर्य की सृष्टि इसी रूप में होती है कि साहित्य हमें विभिन्न प्रकार की गुलामी से निजात दिलाता है और वह विषमता और द्वेष की दीवारों को तोड़ता है।

नदी, वन, पर्वत, जल-प्रपात, पुष्पोद्यान, सूर्योदय-सूर्यास्त अथवा चंद्रमा की विभिन्न छटाओं में हमें जिस सौंदर्य के दर्शन होते हैं वह इसलिए हमें आह्लाद और उल्लास देता है कि इन प्राकृतिक दृश्यों को देखकर हम अपनी संकीर्णताओं के पिंजड़े में मुक्ति का अहसास पाते हैं और एक विराट जगत के साथ अपने को एकाकार महसूस करते हैं। ठीक यही बोध हमें सुंदर साहित्यिक रचना को पढ़ने या अच्छी कलाकृति को देखने पर मिलता है। जिस मात्रा में कोई रचना हमें अपनी संकीर्णताओं से मुक्त करती है, विषमताओं से ऊपर उठाती है और दीवारों को तोड़कर संपूर्ण मानव-जाति अथवा सृष्टि के साथ हमें जोड़ती है, उसी मात्रा में वह रचना सुंदर कही जा सकती है।

देह-सौंदर्य

मानव शरीर प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ कलात्मक रचना है। वैसे सभी प्राणियों के शरीर का अपना सौंदर्य होता है। यह सौंदर्य होता है उनकी जीवन-शक्ति या प्राण-शक्ति का जो मृत्यु पर विजय पाने की आकांक्षा का ही दूसरा नाम है। मृत्यु की ओर गति दुखदायी, भयानक और असुंदर है। जीवन की ओर हर गति सुख-कारक, आह्लादक और सुंदर है। प्रत्येक प्राणी का दैहिक सौंदर्य बचपन में अपनी पराकाष्ठा पर होता है, क्योंकि बचपन अम्लान प्राण-शक्ति का छलछलाता स्रोत होता है। यौवन का सौंदर्य जीवन की आकांक्षाओं और क्षमताओं के पूर्ण विकास

के कारण अत्यंत सुन्दर और दैदीप्यमान हो उठता है। सौंदर्य आध्यात्मिक कल्पना है किंतु उसकी अभिव्यक्ति देह या रूप के माध्यम से होती है। रूप, आकार, पदार्थ से देह की निर्मिति होती है। हम प्रेम और भावों के सौंदर्य की बात करते हैं किंतु ये भाव देह के माध्यम से व्यक्त होते हैं। देह अपने में सुंदर नहीं होती, उसकी सुंदरता उसके भीतर प्रवाहित जीवन-शक्ति में, मानव चेतना में जिसका स्वभाव स्वतंत्रता समता और बंधुता है, निहित होती है। चेतना-शून्य, निर्जीव देह में कोई सौंदर्य नहीं हो सकता। जीवन की ऊर्जा, मानव-चेतना से स्पंदित नग्न या निरावरण देह बहुत सुंदर होती है, उसमें अश्लील कुछ नहीं होता बशर्ते कि हमारे भीतर अश्लील भाव न हों। छोटे बच्चे की नग्न देह में अश्लीलता का बोध केवल विकृत मन व्यक्ति को ही हो सकता है। दैहिक सौंदर्य को त्वचा के रंग, नस्ल या लिंग के चश्मे से देखना सौंदर्य की सही दृष्टि नहीं है। सौंदर्य स्वस्थ शरीर और अच्छी भावनाओं से स्पंदित चेतना में होता है। घृणा और द्वेष से ओतप्रोत सुंदर देह का व्यक्ति भी वस्तुतः सुंदर नहीं होता, वह आकर्षण नहीं, विकर्षण का प्रभाव उत्पन्न करता है। दैहिक सौन्दर्य में पुरुष-देह और स्त्री-देह का भेद करना भी सौन्दर्य की संकीर्ण-दृष्टि है।

दैहिक सौन्दर्य में अश्लीलता का तत्त्व तब प्रवेश करता है जब वह अश्लील भावनाओं का वाहक होता है। दैहिक सौन्दर्य का बाजारू माल बनना उसका अश्लील बनना है। दैहिक सौन्दर्य जब देह की सहज लय के साथ प्रकट होता है, प्रदर्शन के प्रयास के बिना प्रकट होता है, तो वह ग्रेस, शील या प्रसाद की अभिव्यक्ति होता है। यह अदृश्य और अस्पृश्य सम्पूर्ण दैहिक सौन्दर्य की स्थिति है। इसमें दैहिक सौन्दर्य दिव्य और पावन अनुभूति देता है। जब देह की सहज लय को तोड़कर उरोज-नितंब आदि अंगों का सचालन-प्रदर्शन ध्यानाकर्षण के प्रयोजन से सायास किया जाता है और ऐसा लगता है कि ये अंग समूची देह से अलग, ऊपर से आरोपित हैं जो देह की लय से नहीं, गुरुत्वाकर्षण के नियमों से चालित हैं तो श्लीलता भंग होती है और अश्लीलता प्रकट होती है। सौन्दर्य-प्रतियोगिताओं और मॉडलिंग के पीछे सौन्दर्य को पण्यवस्तु बनाने का भाव निहित है इसलिए इनमें प्रसाद (ग्रेस) का अभाव होता है। उसमें धन के लिए स्वतंत्रता को बेचने की गंध आती है।

सौन्दर्य मनुष्य को स्वतंत्रता, समता आदि के रूबरू खड़ा करके उसे अपनी मुक्तावस्था का आभास देता है। यदि ऐसा करने के बजाय वह भोग की लालसा जगाए तो उसका कारण या तो सुन्दरता का अधूरापन होगा या द्रष्टा की संस्कार-हीनता।

सौन्दर्य की भोगवादी दृष्टि संकीर्ण दृष्टि है, बल्कि यह दृष्टि कई तरह की विकृतियाँ पैदा करती है। सुन्दरता को भोग की वस्तु या भोग का निमंत्रण मानने

वालों में परपीड़ारति (सैडिज्म) की प्रवृत्ति पनपने की काफी संभावना होती है। फूल का सौन्दर्य भौंरे को आकर्षित करने के लिए है, ऐसा तर्क देने वाले यह भूल जाते हैं कि भौंरा रंग या गंध मे आकृष्ट होता है किंतु रंग अथवा गंध अपने मे सौन्दर्य नहीं है। शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध इंद्रियों के विषय है और उन्हे आकृष्ट करते है किंतु सौन्दर्य इन गुणों से परे की चीज होती है। प्राकृतिक सौन्दर्य के संबंध मे इमर्सन ने कहा कि प्रकृति का सौन्दर्य अंतिम (निरपेक्ष) नही है बल्कि यह आंतरिक और बाह्य सौन्दर्य की उद्घोषणा है। सार्त्र ने इसे इंद्रियातीत मूल्य कहा है जिसमे भूत, वर्तमान और भविष्य के विलय से कालिक समग्रता की निष्पत्ति होती है। सौन्दर्य विश्व की आदर्श स्थिति की अभिव्यक्ति है और यह स्थिति चेतना (मनुष्य) का आदर्शीकरण है। सौन्दर्य को इस प्रकार देखने से सत्व और अस्तित्व की ऐसी एकता प्रकट होती है जिसमें दर्शक सद्चिद् की सम्पूर्ण एकता का अनुभव करता है।

सौन्दर्य मानव-चेतना के आदर्शों (स्वतंत्रता, समता, बंधुता) की अभिव्यक्ति है। इसीलिए सौन्दर्य को शाश्वत आनंद का स्रोत कहा जाता है। यह दर्शक को भीतर की ओर उन्मुख करके उसमे अपनी स्वतंत्रता, समता आदि की मूलवृत्तियो का अहसास जगाता है। यह देखने की वस्तु है, भोग करने की नही। इसे भोग वस्तु मानने वाले का लक्ष्य होता है इसकी 'ग्रेस' को नष्ट करना। ग्रेस मे देह दूसरे की पहुंच से बाहर होती है। सौन्दर्य को भोग की वस्तु मानने वाले का लक्ष्य देह को पाना होता है और देह को पाते ही 'ग्रेस' नष्ट हो जाती है।

हमारे प्राचीन साहित्य-शास्त्र में सौन्दर्य की जो दृष्टि है और जिसे हम आज भी अपनाए हुए हैं वह मुख्यतया भोगवादी है। दैहिक सौन्दर्य के वर्णन के लिए कवियों ने अधिकतर स्त्री को ही चुना और स्त्री को भोग की वस्तु माना गया। स्त्री का हर वह व्यवहार सुन्दर हो गया जो पुरुष मे उसके लिए चाह को जगाए। स्त्री के उठने-बैठने, चलने, अंगड़ाई लेने, अलसाने, थकने, हंसने, रोने, खीजने, तड़पने आदि में भी सौन्दर्य देखा जाने लगा। रीतिकालीन कविता ऐसी हास्यास्पद और विकारग्रस्त, सौन्दर्य-दृष्टि की कविता का उदाहरण है। स्त्री के कनक-छरी सी छीणकाय हो जाने में भी अपूर्व सौन्दर्य है। उसके विरह-तप्त होकर श्वास-प्रश्वास की क्रिया मे कष्ट झेलने मे भी सौन्दर्य है। उर्दू और फारसी की कविता में तो इस सौन्दर्य-दृष्टि की पराकाष्ठा है। वहां तो औरत के पर्दे या चिलमन के पीछे छिपे रहने में भी अद्भुत सौन्दर्य है। कई लेखको को (विशेषकर बंगाली लेखकों को) पति के चरणो की धूल माथे पर लगाने और पति का जूठा खाने मे भी महान सौन्दर्य दिखाई देता है। आभूषण जो स्त्री की गुलामी की बेड़ियां हैं, सुन्दरता के उपादान हो गए। लज्जा जो हीनताबोधक भाव है, स्त्री का आभूषण बन गया। इसे केवल किशोर सुन्दरता की रखवाली करने वाला भाव मान लिया

गया। वास्तव में लज्जा इस बोध की अभिव्यक्ति है कि हमारी देह दूसरे के लिए है। यह बोध स्त्री-पुरुष दोनों को होता है किंतु इसे स्त्री का आभूषण बना कर स्त्री के मन में यह धारणा बिठा दी गई कि वह मात्र भोग-वस्तु है भोक्ता कभी नहीं। प्राकृतिक सौन्दर्य को भी पुरुष के मन में स्त्री की चाह जगाने वाले उद्दीपनों के रूप में इस्तेमाल किया गया। पुरुष के सौन्दर्य का वर्णन करने की आवश्यकता महसूस नहीं की गई। यह इसलिए कि पुरुष के सौन्दर्य की भोक्ता स्त्री होगी और स्त्री को भोक्ता मानने के लिए कवि-साहित्यकार तैयार नहीं थे। वह तो भोग की वस्तु (आलंबन) ही हो सकती है, भोक्ता (आश्रय) नहीं।

सौन्दर्य की इस भोगवादी दृष्टि ने ऐसा समाज बनाया है जो प्रेम और सेक्स-संबंध में भेद करना नहीं जानता। यह ऐसा रुग्ण समाज है जो स्त्री पर किए गए हर अत्याचार को उचित ठहरा सकता है। किसी स्त्री के बन-ठनकर बाहर निकलने को पुरुष के लिए आमंत्रण मानकर बलात्कार जैसे घोर अपराधों का भी वह औचित्य सिद्ध कर सकता है। इसी दृष्टि ने हमारे समाज को परपीड़ारत (सैडिस्ट) समाज बनाया है जो सती-प्रथा, शिशु-कन्या हत्या और वधू-हत्या जैसे कुकर्मों को प्रश्रय देता है। प्राचीन भारतीय समाज की सौन्दर्य-दृष्टि भोगवादी रही जिसके फलस्वरूप स्त्री-पुरुष संबंध को बीज और खेत की उपमा से देखा गया। वैसे सभी प्राचीन समाजों की दृष्टि यही रही और वहां भी स्त्री भोग-वस्तु ही रही।

प्रेम

सौन्दर्य की अनुभूति की सबसे श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है प्रेम। प्रेम उतना ही व्यापक शब्द है जितना कि सौन्दर्य। सौन्दर्य को भोग की वस्तु मानने वाला व्यक्ति कभी प्रेम नहीं कर सकता। जैसे सौन्दर्य हमें अपने भीतर की स्वतंत्रता, समता आदि से साक्षात्कार करा कर आध्यात्मिक आनंद देता है उसी तरह प्रेम भी हमारी इन भीतरी शक्तियों को जगाकर हमें आध्यात्मिक भूमि पर ले जाता है। सूफी संतों की दुनियावी इश्क को रूहानी इश्क में बदल देने की साधना वस्तुतः प्रेम की सच्ची साधना है।

प्रेम आदमी के अस्तित्व की, उसके वुजूद की घोषणा है अर्थात् वह उसके स्वतंत्रता, समता, बंधुता के अधिकारों की सशक्त विज्ञप्ति है। प्रेम से वंचित व्यक्ति सूखा ठूंठ होता है। स्वतंत्रता, समता आदि के अधिकारों की घोषणा का मतलब होता है उन तमाम शक्तियों और सत्ताओं से विद्रोह जो इन अधिकारों पर पाबंदी लगाती हैं। प्रेम का उद्‌गम दुनिया की सबसे बड़ी शक्ति (ईश्वर) के खिलाफ विद्रोह से होता है। आदि पुरुष और आदि स्त्री (आदम और हौवा) को इसी विद्रोह के कारण स्वर्ग से निकाला गया। वह सुखों को त्याग कर कष्ट झेलने का मार्ग है।

प्रेम करने वाला प्रेम करने की अपनी स्वतंत्रता का कभी सौदा नही करता। वह जात-पात, धनी-निर्धन, गोरे-काले और संकीर्ण राष्ट्रीयताओं की दीवारों को तोडने का हौसला रखता है और इस प्रकार समता तथा बंधुता के अपने अधिकारो को जीने का संकल्प करता है।

प्रेम इसलिए सबसे सुन्दर भाव माना जाता है (इसे रसराज कहा जाता है) क्योंकि इसकी प्रवृत्ति न केवल अपनी स्वतन्त्रता को बनाए रखने की होती है बल्कि जिससे प्रेम किया जाता है, उसकी स्वतन्त्रता को बनाए रखने मे भी उसकी प्रवृत्ति होती है। प्रेमी जिस अभाव की अनुभूति करता है उसकी पूर्ति वह प्रिय की स्वतंत्रता मे ही कर सकता है। हम अपना मूल्य स्वय नही आंक सकते। मैं क्या हूं, कैसा हूं, कितना अच्छा या बुरा हूं, इसे हम दूसरे के माध्यम से ही जान सकते हैं। विषयि के रूप में हम अपने को विषय के रूप मे (तथ्यगत रूप से) नही जान सकते क्योंकि हम एक साथ विषयि और विषय नही बन सकते। अपने को विषय के रूप में जानने के लिए हमें किसी अन्य की नजरो का विषय बनना पड़ता है। प्रेम की चाह वास्तव मे अन्य की निगाह मे स्वीकृति पाने और इस प्रकार अपने को जानने की चाह है। जीवन मे किसी की नजरों मे स्वीकृत न होने का बोध अपने जीवन की व्यर्थता का बोध होना है और यह अत्यत कष्टकर एव आत्महत्या की ओर ले जाने वाला होता है। किन्तु प्रेमी प्रिय का विषय तभी बन सकता है जब प्रिय विषयि के रूप मे उसे देखे अर्थात् वह अपनी पूरी स्वतन्त्रता के साथ प्रेमी को पसन्द करे। बंदी बनाए गए या धन से खरीदे गए या भय से वश में किए गए प्रिय की नजरो मे स्वीकृति प्रेमी को संतोष नही दे सकती क्योंकि वह प्रेमी का सही मूल्यांकन नहीं हो सकता। अतः प्रेम की निष्पत्ति जो दूसरे की नजर मे अपने को जानने और पाने की चाह है, प्रिय की स्वतन्त्रता मे ही निहित है। इसका अर्थ है कि जिन समाजो में स्त्री को गुलाम बनाकर रखने की प्रथा है, उनमें प्रेम असभव कल्पना है।

जीवन का अत जैसे निराशा है, प्रेम का अत भी निराशा है। इसका कारण है कि प्रेमी जब अपने को विषय के रूप में देखना और पाना चाहता है तो वह प्रिय को जो विषयि होता है, अपने मे लीन या जज्ब करना चाहता है ताकि वह खुद प्रिय की तरह विषयि बनकर अपने को विषय रूप मे देख-पा सके। किन्तु ऐसा करते ही प्रिय उसका विषय बना जाता है अर्थात् प्रिय का विषयिभाव लुप्त हो जाता है और प्रेमी का प्रयास विफल हो जाता है। प्रेम की इस स्थिति का वर्णन राधा और कृष्ण के प्रेम के कुछ पदों में मिलता है जिनमें राधा को कृष्णमय होकर अपने ही वियोग में तड़पता दिखाया गया है। किन्तु जैसे निराशा के बावजूद जीना एक सार्थक और सृजनात्मक क्रिया है उसी तरह विफलता के बावजूद प्रेम करना सार्थक और सृजनात्मक प्रयास है। दोनों अंतिम मंजिल की

कामना किए बिना सतत यात्रा का संकल्प है। प्रेम का अंतिम लक्ष्य विषयि और विषय का एकत्व असंभव है उसी तरह जैसे जीवन का अंतिम ध्येय सत् और चित् का एकत्व असंभव है किन्तु जितना संभव है उसके लिए प्रयत्न करना भी सार्थक है।

यह कहना मुश्किल है कि प्रेम की यह संभव उपलब्धि वैवाहिक प्रेम में कितनी सभव है। एक बात निश्चित है कि वेश्या-गमन में यह प्रेम संभव नहीं क्योंकि यह परतंत्र प्रिय (अर्थ से अपने प्रेम का विनिमय करने वाले प्रिय) का प्रेम है जो नितांत अधूरा होता है। स्वतंत्र प्रेमी-प्रिय के अविवाहित प्रेम में भी इसकी कम सभावना है क्योंकि इसमे प्रेमी और प्रिय के बीच स्वतन्त्रता तो बनी रहती है किन्तु विषयि-विषय के तादात्म्य की सभावना कम होती है। इसमे एक-दूसरे के लिए पूर्ण समर्पण की भावना नही होती। वैवाहिक प्रेम मे इस तादात्म्य की अधिक सभावनाएं हैं, यदि विवाह स्त्री की स्वतंत्रता का दमन न करता हो। जहां नर-नारी समता का सभव लक्ष्य वस्तुतः प्राप्त कर लिया गया हो अर्थात् जहां विवाह के बाद स्त्री को पुरुष के बराबर अधिकार प्राप्त हों और पत्नी को पति के चरणो की दासी या पति को पत्नी का परमेश्वर नही माना जाता हो वहां प्रेम की अधिक से अधिक सफलता की संभावना है क्योंकि वैवाहिक बंधन में एक-दूसरे के प्रति मर मिटने की भावना या दूसरे के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को विलीन कर देने की भावना निहित होती है और इसलिए विषयि-विषय का एक सीमा तक तादात्म्य स्थापित हो सकता है। एक-दूसरे के लिए उत्सर्ग जो मार्सेल के प्रेम का आदर्श है, विवाह मे संभव है।

प्रेम हवाई सबंध नही है। यह ठोस दैहिक सबंध है किन्तु यह दैहिक भाग नही है। प्लेटोनिक प्रेम जिसमें मात्र गुणो से प्यार किया जाता है, महज कल्पना है। दर्शन का प्रसिद्ध सिद्धांत है कि गुण-गुणी का पार्थक्य नही हो सकता। किसी के गुणो को प्यार करने का मतलब है उसकी देह मे भी प्यार करना। देह में जो भी शुचि-अशुचि तत्व हैं उन्हे समग्र रूप से स्वीकार करना। नाक, कान, आंख, होंठ आदि अलग-अलग अंगों से नही, समूची देह मे। इसीलिए प्यार करने वाला जातिगत या नस्लगत पूर्वाग्रहों पर विजय पाने में समर्थ होता है। प्यार का लक्ष्य प्रिय की देह को अपने अधिकार, अपने संरक्षण में लेना होता है। इसका मतलब सभोग-क्रिया नहीं, देह को सहलाना होता है। यह इसलिए कि देह जो मांस-पिंड (चेतना शून्य) होती है चेतना के संचरण से सजीव हो उठे। सहलाने की क्रिया मे प्रेमी मांस-पिंड के माध्यम से प्रिय की चेतना का अनुभव करता है और साथ ही अपने देह मे चेतना के सचार को महसूस करता है। मांस-पिंड मे चेतना के प्रवाह के अनुभव की अभिव्यक्ति सिहरन, रोमांच आदि में होती है और यही प्रेम का लक्ष्य होता है। इसके लिए शरीर के मांसल भागों नितंब, उरोज आदि को विशेष रूप से

चूमा जाता है क्योंकि इन भागों में चेतना के सञ्चार का बोध तत्काल होता है। मां जब बच्चे को स्पर्श देती है तो उनसे बच्चे को भी चेतना के सचरण का अनुभव होता है और मां को भी। प्रिय व्यक्ति से मिलने पर हमारी सहज क्रिया होती है उस व्यक्ति को स्पर्श करना। हाथ मिलाना, गले लगना, चुम्बन-आलिंगन यह सब सहज क्रियाएं हैं। अपने सहज रूप में इनमें कामोत्तेजन नहीं होना चाहिए। कामोत्तेजन में यह सहजता नहीं रहती और स्पर्श और सहलाने की क्रिया मर्दन और घर्षण की यान्त्रिक क्रिया में बदल जाती है। चेतना के अनुभव के बजाय लक्ष्य हो जाता है सम्भोग-सुख और उसकी निष्पत्ति के साथ ही चेतना के स्पर्श का सुख जो प्रेम का वास्तविक लक्ष्य होता है, समाप्त हो जाता है और शेष बचती है अवसाद मिश्रित सुख की स्मृति। इस प्रकार सभोग वास्तव में प्रेम का निषेध है। यह इच्छाशक्ति पर अध्यात्मकता अथवा भौतिकता की विजय है। आहार, निद्रा और भय की तरह संभोग (मैथुन) भी एक पशुसम क्रिया है। यह शरीर की भूख है, मन की भूख नहीं। मन की भूख प्रेम है।

साहित्य में प्रेम के इस आध्यात्मिक और दैहिक स्वरूप का वर्णन करने के लिए असाधारण प्रतिभा, गहन संवेदना, उच्चकोटि के सौन्दर्य-बोध तथा उद्दाम राग की आवश्यकता होती है। इस रूप में प्रेम स्वतंत्रता, समता और बंधुता को जीने का सशक्त माध्यम बनता है और रचना महान सौन्दर्य से विभूषित होती है। अनाड़ी लेखक प्रेम का चित्रण कामोद्दीपन के लिए करता है।

जहां प्रेम अन्य (दूसरे व्यक्ति) के विषयिभाव का स्वीकार है अर्थात् वह अन्य की स्वतन्त्रता को स्वीकार करता है, वासना, उपेक्षा, घृणा और हिंसा मे अन्य की स्वतन्त्रता का नकार है। वासना में अन्य की विषय के रूप मे चाह निहित है अर्थात् वह अन्य को उसकी स्वतन्त्रता से वंचित करके अपने अधिकार मे करना चाहता है। इसकी प्रवृत्ति भोग की होती है। उपेक्षा मे अन्य की सत्ता को ही नकारा जाता है। यह काम आदमी अन्य द्वारा विषय बनाए जाने के खतरे से बचने के लिए करता है किन्तु इससे उसका खतरा कम नहीं होता, बढ जाता है। अन्य की सत्ता समाप्त नहीं होती। अन्य उसे देख सकता है अर्थात् उसे अपनी निगाहों का विषय बना सकता है किन्तु वह उन निगाहो के हमले से अपनी रक्षा नहीं कर सकता क्योंकि वह अन्य को नहीं देखता। बिना देखे देखे जाने की स्थिति अरक्षित बना देती है। घृणा अन्य की सत्ता के प्रति असहिष्णुता का भाव है और उसकी गति हिंसा की ओर होती है। यह प्रेम का विपरीत भाव है।

इस प्रकार हमारा भाव-संसार अन्य के साथ हमारे संबंधों का परिणाम है। समाजिक प्राणी होने के नाते हमारा अन्य की सत्ता के साथ सरोकार होता है, इसलिए कि हम अपने को, विशेष कर अपनी देह को, दूसरो की नजर से ही जान सकते हैं। हम विषयि के रूप में अन्य को विषय बनाते हैं और अन्य भी विषयि

होने के कारण हमे विग्रह बनाना है। विषयि-विषय के इसी द्वंद्व मे सभी संबंधों का निर्माण होता है और ये संबंध, प्रेम, घृणा, क्रोध, भय आदि भावों-अनुभावों के रूप मे व्यक्त होते हैं। साहित्य मे इस भाव-संसार का जितना विशद और यथार्थ वर्णन होता है, रचना उतनी ही सुन्दर बनती है। किन्तु इसके लिए, भावों-अनुभावो का उल्लेख मात्र कर देना काफी नही होता (जैसा कि हमारे रीतिकालीन लक्षण ग्रथो मे हुआ हैं)। भाव, विभाव-अनुभाव और संचारी भावो के संयोग से रस की निष्पत्ति के सूत्र ने इस तरह के साहित्य को प्रेरणा दी है। किन्तु इनका सयोग मात्र कर देने से रचना अच्छी नही बन जाती। जब तक इन भावों-अनुभावों को जन्म देने वाले विषयि-विषय द्वंद्व का विशद चित्रण नहीं होगा, उनमे प्रभावोत्पादकता नही आएगी।

अन्य के साथ समूहगत संबंध

अन्य के साथ हमारा संबंध व्यक्तिगत ही नहीं होता है, समूहगत भी होता है। मनुष्य व्यक्ति होने के साथ-साथ किसी समूह का सदस्य भी होता है। यह समूह परिवार, कबीला, गांव, शहर, राज्य, राष्ट्र, वर्ग, दल, श्रमिक संगठन कुछ भी हो सकता है और इन समूहों मे भी परस्पर विषयि-विषय द्वंद्व चलता है। विषयि के रूप में 'हम' और विषय के रूप में 'वे' के बीच चलने वाले इस द्वंद्व को हम सुपरिचित 'वर्ग-सघर्ष' से भी अभिहित कर सकते हैं।

इस द्वंद्व मे व्यक्तिगत राग, द्वेष, प्रेम, घृणा आदि के भाव समूहगत रूप धारण करते है जिनमे मैत्री शत्रुता, अलगाव, अविश्वास, भय, युद्ध आदि की सामाजिक-राजनैतिक समस्याए पैदा होती हैं। ये समस्याएं भी साहित्य का विषय होती है और इनसे कन्नी काटकर केवल व्यक्तिगत संबंधों तक साहित्य को सीमित रखना साहित्य की संकीर्ण दृष्टि है।

जिस प्रकार व्यक्तिगत संबंधो के तनावों का समाधान न कर पाने के कारण व्यक्ति कई प्रकार के मनोरोगों और विकृतियों का शिकार हो जाता है उसी प्रकार सामाजिक संबधो के तनावो का समाधान न होने से सामाजिक विकृतिया आती हैं। साहित्य का काम इन विकृतियों का यथार्थ चित्रण करके इन्हें समाज के लिए उद्घाटित करना या प्रकाश में लाना होता है। इससे समाज मे इन विकृतियो के संबध मे चेतना पैदा होती है और बदलाव की प्रक्रिया शुरू होती है। साहित्यकार का काम सीधे तौर पर समाधान प्रस्तुत करना नहीं होता। उपदेश देने की अदा मे प्रस्तुत समाधान से पाठकों की स्वतत्रता का व्याघात होता है। लेखक का काम पाठक में स्वतत्र सोच की प्रक्रिया को तेज करना है। पाठक के ऊपर हावी हो जाना, उसे खुद सोचने का मौका न देना, अच्छे लेखन के लक्षण नहीं है। इसीलिए जिस लेखन में पाठकों की भावनाओं को उभाड कर उन्हें अश्रु-

विमोचन आदि की अपस्मारक स्थिति में पहुचा दिया जाता है (जैसा कि आमतौर पर फिल्मों में देखा जाता है) उसे अच्छा नही माना जाता क्योकि भावावेग पाठक को सोचने में असमर्थ बनाते हैं। सामाजिक समस्याओं के प्रति लेखक का सरोकार पात्रो अथवा कथा-योजना के माध्यम से व्यक्त होना चाहिए न कि भाषण या उपदेश द्वारा।

प्रतिबद्ध लेखक स्थितियों में बदलाव लाने के लिए, विश्व को अपने ढग से बदलने के लिए लिखता है। वह वर्तमान स्थितियों मे अभाव (लैक) देखकर उस अभाव की पूर्ति का लक्ष्य सामने रखकर रचना करता है। इसलिए वह अपने पाठकों से उम्मीद करता है कि वे उस लक्ष्य की निष्पत्ति मे सहायक हो। वह पाठकों का मनोरजन करने के लिए, उन्हें हसाने-रुलाने के लिए, उनकी ऊब मिटाने के लिए, उनकी मांग के अनुसार भोग-सामग्री उपलब्ध कराने के लिए नही लिखता है। वह उपभोक्ता माल का निर्माता नही होता। वह ऐसी चीज का सृजन करना चाहता है जो सारे मानव-समाज की भलाई के लिए हो। लेकिन उसका यह काम प्रबुद्ध पाठक की मदद के बिना पूरा नहीं हो सकता और वह भी तब जब पाठक उसके शुरू किए गए काम को उसकी परिणति तक पहुंचाने के लिए स्वतंत्र मन से साथ दे। इसलिए लेखक के लिए यह बहुत जरूरी है कि जहा अपनी स्वतत्रता पर पाठक की माग को हावी न होने दे वहा पाठक की स्वतत्रता को भी अभिभूत न करे। उसकी अपील पाठक की भावनाओं को नही उसके विवेक को होनी चाहिए।

लेखक का काम समाधान प्रस्तुत करना नही है, इसका यह मतलब नही कि उसे समस्याओ के मूल में जाकर उनके उपचार के सबध में अपनी राय बनाने या अपना लक्ष्य तय करने की भी जरूरत नही है। यह काम तो उसे करना ही पडता है क्योकि इसके बिना वह भविष्य को चुनने या लक्ष्य निर्धारित करने का काम नही कर सकता जो सृजन की अनिवार्य शर्त है। किन्तु अपने निर्णय को वह पाठकों पर लादता नहीं है बल्कि स्थितियों का विश्लेषण करके वह पाठकों को अपना निर्णय लेने के लिए प्रेरित करता है।

विभिन्न प्रकार के सबधों की सही दृष्टि न होने के कारण इस समय हमारे समाज मे कई विकृतियो ने प्रवेश किया है। इनमें से कुछ प्रमुख विकृतियो पर विचार किया जा सकता है।

देह और आत्मा के संबंध की विकृतियां

भारतीय समाज में देह को नश्वर और गर्हित और आत्मा को सुख-दुख, जरा-मृत्यु से परे शुद्ध, बुद्ध और निर्मल माना जाता रहा है। देह पिंजड़ा है और आत्मा पछी जो पिंजड़े के अंदर-बाहर आता जाता रहता है। दोनों के बीच इतना

पार्थक्य है कि आत्मा की मुक्ति के लिए देह का उत्पीड़न उचित बन जाता है। इस दृष्टि के अतिशय के कारण हत्या आदि नृशंस कृत्यों का औचित्य सिद्ध किया जा सकता है क्योंकि हत्या चोला बदलने की तरह हानि-रहित बन जाती है। आत्मा की मुक्ति के लिए नर-बलि या पशु-बलि दी भी जाती थी। किसी ईश्वर पुरुष के हाथ से वध को आत्मा की विमुक्ति कह कर उचित ठहराने वाली कहानियाँ भी हमारे प्राचीन ग्रंथों में मिल जाती हैं। इस विकृति का सबसे भयानक रूप है वर्तमान जीवन के कष्टों तथा मानव-कृत अथवा व्यवस्था-कृत अन्याय-अत्याचार को आत्मा के पूर्वजन्म के कर्मों के फल के रूप में देखना। यह नियतिवाद आदमी को एकदम अवश बना देता है तथा उसमें अपनी स्थिति में सुधार करने की इच्छा मर जाती है।

देह और आत्मा में भेद अवश्य है किंतु दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। एक के बिना दूसरी नहीं रह सकती। दोनों में भेद यह है कि दोनों की भूखें अलग-अलग हैं। शरीर की भूख और आत्मा की भूख में अंतर है। न शरीर की भूख तृप्त करके (भोग से) आत्मा की भूख शांत की जा सकती है और न आत्मा की भूख शांत करके (ज्ञान, चिंतन आदि से) शरीर की भूख को शांत किया जा सकता है। शरीर की पीड़ा और आत्मा (मन) की पीड़ा में भी हर कोई स्पष्ट भेद कर सकता है। शरीर के रोग और मन के रोग भी अलग-अलग होते हैं। किंतु आत्मा शरीर के बिना कुछ नहीं है और शरीर आत्मा के बिना लाश या मिट्टी है।

पश्चिमी सभ्यता जिसे आधुनिक सभ्यता और वैज्ञानिक सभ्यता भी कहा जाता है, देह को ही आत्मा मानने की दूसरी अतिवादी दृष्टि अपनाती है। वैज्ञानिक खोजों ने देह का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया और आत्मा या मन की सारी क्रियाओं को भी भौतिक या रासायनिक परिणामों के रूप में देखा। इस दृष्टि की विकृति भोगवाद के रूप में प्रकट हुई जिसमें शरीर की मांगों की अधिकाधिक तृप्ति का भाव था। इस भोगवादी दृष्टि ने आत्मा की सबसे बड़ी भूख (स्वतंत्रता समता और बंधुता की भूख) की उपेक्षा की। उसने शरीर की भूख की तृप्ति के लिए, उपभोगवादी समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए, कमजोर देशों को लूटने, उनकी स्वतंत्रता को छीनने, महाविनाश के हथियार जमा करने तथा पर्यावरण के विनाश का काम किया जिसके कारण आज मानव-जाति का अस्तित्व ही संकट में पड़ गया है।

अस्तित्ववाद देह को आत्मा का अतीत मानता है जो निरंतर उसके साथ रहती है। आत्मा कोई भी काम देह के बिना नहीं कर सकती किंतु वह देह के निर्देश को मानने के लिए बाध्य नहीं है। उसे देह की सीमाओं में काम करना पड़ता है किंतु उसका प्रयास इन सीमाओं को तोड़ने का होता है। देह और आत्मा के बीच निरंतर चलने वाले इस द्वंद्व का अंत मृत्यु है जिसमें न देह, देह रह जाती

है और न आत्मा (अनश्वर आत्मा के रूप में) शेष बचती है।

अपनी देह से प्यार करना (देह अन्य के प्यार का विषय है) आत्मरति का विकार है और अपनी देह से घृणा आत्महत्या की ओर ले जानेवाला भाव है। देह को आत्मा का साधन अर्थात् ध्येय का साधन मानना सम्यक दृष्टि है किंतु देह को आत्मा मानकर उसी की पूजा करना भोगवाद है। देह को नकारना हिंसा की प्रवृत्ति को आमंत्रित करना है। हमारे दर्शनों का निचोड़ और अस्तित्ववाद का निचोड़ एक ही है और वह यह कि देह को आत्मा मानना अज्ञान और दुखों का मूल है किंतु जहां हमारे दर्शनों में देह और आत्मा के बीच आग-पानी का संबंध माना गया अस्तित्ववाद में दोनों के सहअस्तित्व को स्वीकार किया गया।

स्त्री-पुरुष संबंध की विकृतियां

हमारी अधिकांश वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं का मूल स्त्री-पुरुष संबंधों की असंगतियों में है। स्त्री-पुरुष संबंधों में समता की दृष्टि की सर्वश्रेष्ठ कल्पना अर्धनारीश्वर की कल्पना है जिसके अनुसार स्त्री में आधे गुण पुरुष के और पुरुष में आधे गुण स्त्री के हों। लेकिन इस आदर्श कल्पना की ओर मानव-समाज के बढ़ने का अभी कोई प्रमाण नहीं मिलता। जिस भारतीय समाज से यह कल्पना आई उसमें तो स्त्री को पशु का दर्जा ही दिया गया। पश्चिमी समाज में भी स्त्री को हीन-सेक्स ही माना गया। अन्य समाजों की स्थिति भी लगभग यही है। नारी-प्रधान समाज यदि कभी रहे होंगे या आज भी कहीं होंगे तो उनकी स्थिति कैसी होगी यह कहना मुश्किल है। किंतु यदि वहां इससे उल्टी स्थिति होगी तो वह भी अच्छी नहीं होगी। संभवतः इसीलिए नारी-प्रधान समाज लुप्त हो गए।

स्त्री-पुरुष संबंधों की दो विकृतियां आज प्रबल रूप में हमारे सामने हैं—पुरुष का अहंकार और स्त्री का दैन्य। वस्तुतः ये एक ही समस्या के दो पहलू हैं। ये पुरुष को भोक्ता और स्त्री को भोग्या मानने के परिणाम हैं। यह स्त्री में मानव-चेतना के (जिसका स्वभाव स्वतंत्रता, समता और बंधुता है) नकार का फल है। फिल्म, टेलीविजन और विज्ञापन-प्रचार आदि के माध्यमों ने तो स्त्री को भोग-वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया ही है, साहित्य में भी अधिकतर यही हुआ है। फिल्मों की भूमिका इसमें सबसे अधिक भौंडी है, विशेषकर इनके गीतकारों की, जिनमें स्त्री के स्वाभिमान को ध्वस्त करने की होड़ रही है। क्या आश्चर्य यदि इन फिल्मों तथा अन्य दृश्य-प्रचार माध्यमों से एकमात्र संस्कार ग्रहण करने वाली युवा पीढ़ियां सेक्स-संबंधों के मामलों में रोगी हैं। प्यार जो जिंदगी का सबसे सुंदर वरदान है, उनके लिए इतना ही अर्थ रखता है कि शारीरिक भूख की तृप्ति हो। यदि इसके साथ धन, मान-सम्मान भी प्राप्त हो तब तो कहना ही क्या? प्यार के लिए न जाति,-

धर्म या खानदान छोड़ा जा सकता है, न मां-बाप से मिलने वाली सुख-सुविधाओं का त्याग किया जा सकता है, न कष्ट झेला जा सकता है और न अपने पुरुष-अहंकार में कोई कमी की आ सकती है। विवाह कुल मिला कर स्त्री को युद्ध में जीतने या अपहरण करने का प्रभाव छोड़ते हैं। जैसे ही विवाह सम्पन्न होता है, स्त्री दासी बन जाती है। यह प्यार नहीं, प्यार का विद्रूप है क्योंकि प्यार की सच्ची अनुभूति प्रिय की स्वतंत्रता में ही संभव है।

इस समय सारे विश्व में समता की भूख प्रबल है। जाति और नस्ल की समता के आंदोलन के साथ नर-नारी समता का आंदोलन मानव-समाज में नई क्रांति की दस्तक दे रहा है। इस क्रांति में स्त्री-पुरुष संबंधों में आमूल परिवर्तन होगा। साहित्य को इस क्रांति का वाहक बनना पड़ेगा। इसके लिए आवश्यक है कि सौंदर्य की भोगवादी दृष्टि को त्यागा जाए, स्त्री-पुरुष संबंध में किसान-खेत की संकीर्ण दृष्टि के विपरीत समता के संबंध की स्वस्थ दृष्टि अपनाई जाए।

काल के साथ संबंध की विकृतियां

हर मनुष्य और हर समाज को काल के साथ सुसंगत संबंध स्थापित करना पड़ता है। जीवन अतीत से अनागत की ओर चलने वाला क्रम है। यह अविच्छिन्न प्रवाह है। वर्तमान अतीत से कटकर नहीं रह सकता और न वह भविष्य की ओर गमन किए बिना रुक सकता है। वर्तमान को तत्क्षण के रूप में पकड़ना असंभव है क्योंकि वह ठहरा हुआ नहीं होता, वह गति के रूप में ही रह सकता है। वर्तमान अतीत का निषेध है, उसी तरह जैसे चिद् सद् का निषेध है किंतु जैसे सद् के बिना चिद् नहीं रह सकता उसी तरह अतीत के बिना वर्तमान नहीं रह सकता। इसका निहितार्थ है कि हमारा हर निश्चय (भविष्य का चुनाव) अतीत के संदर्भ में, उसे ध्यान में रखते हुए, होना चाहिए किंतु यह निश्चय अतीत के दबाव में आकर नहीं किया जाना चाहिए। जैसे चेतना देह की सीमाओं को मद्देनजर रखकर अपना लक्ष्य चुनती है किंतु देह द्वारा निर्देशित नहीं होती (नहीं होनी चाहिए) उसी तरह अनागत का चुनाव या कर्म का संकल्प अतीत के दबाव में नहीं किया जाना चाहिए।

काल के साथ इस सुसंगत संबंध को न अपना पाने के कारण आदमी अतीत के बदले चुकाने या अतीत को पुनर्जीवित करके उसे वर्तमान की तरह जीने का प्रयास करता है और प्रतिशोध की आग में जलता है। मानव-सभ्यता के इतिहास में होने वाली अधिकांश हिंसापूर्ण घटनाएं अतीत के बदले चुकाने या अतीत को वर्तमान की तरह जीने की कोशिशों का परिणाम है। दुनिया में चले क्रूसेड, जिहाद और धर्मयुद्ध इसकी मिसालें हैं। हमारे वर्तमान में रामजन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का विवाद भी इसी सदोष काल-दृष्टि का परिणाम है।

भविष्य संभावना है। भविष्य उसी का हो सकता है जिसकी संभावनाएं हैं जिसे अभी कुछ होना है। जो हो चुका (जो अतीत बन गया) उसका भविष्य नही हो सकता। अतः अतीत को पुनर्जीवित करने का प्रयास व्यर्थ है। हमारा अतीत स्मृति के रूप में, इतिहास के रूप में हमेशा हमारे साथ रहता है। वह भविष्य का मार्ग तय करने में सहायक होता है लेकिन वह भविष्य नही बन सकता क्योंकि वह शव की तरह राग-द्वेष से परे है।

व्यक्तिगत जीवन में भी जब हम अतीत को अपने वर्तमान से अलग नही करते अर्थात् अतीत को वर्तमान पर हावी होने देते हैं तो मनोविकार का शिकार होते हैं। अपने प्रियजन की मृत्यु के बाद हम उसके शव को आग या मिट्टी के हवाले कर देते है और धीरे-धीरे उसे अपने वर्तमान से काटकर उसकी याद को स्मृति के गर्भ में धकेल देते हैं। जो ऐसा नही कर पाते उनका मनोविकार ग्रस्त होना अवश्यभावी होता है। दिक् और काल के साथ हमारा संबध कर्मकांडो और धार्मिक अनुष्ठानो का विषय नही है (जैसाकि कुछ भारतीयता-प्रेमी बताते है), यह संबंध दैनिक व्यवहार से है। दिक् के साथ हमारा व्यावहारिक संबध अपने संसार को क्रम और विन्यास देना है। चित्रकला में स्पेस के उपयोग मे इसी दिक्-संबंध की आवश्यकता पड़ती है।

निज-पर संबंध की विकृतियां

निज का अस्तित्व पर के अस्तित्व पर निर्भर है। मैं क्या हूं, कैसा हू इसका निर्धारण मैं खुद नही कर सकता, इसके लिए मुझे दूसरे पर निर्भर होना पडता है। मुझे यदि अपने आप को जानना है (जो मेरे जीवन की सबसे बडी चाह है) तो मुझे पर की उपस्थिति की कामना करनी चाहिए, पर का मेरे प्रति प्रेम-भाव है तो भी और शत्रु-भाव है तो भी। शत्रु-भाव वाला पर भी मेरे व्यक्तित्व के किसी पहलू को देखता है जो शायद प्रेम-भाव वाले पर को नहीं दिखाई देता। इसलिए शत्रु-भाव वाला पर भी मेरे लिए उपयोगी है। उसकी उपस्थिति को समाप्त करके, उसे हिंसा, हत्या आदि द्वारा दूर करके मैं अपना ही अहित करता हू।

पर को वश में करके मैं उसके माध्यम से अपने निजत्व को पाता हूं। इसका एकमात्र रास्ता है प्रेम। हिंसा इससे विपरीत रास्ता है जिस पर चल कर मै पर का अस्तित्व समाप्त करता हूं और अपने निजत्व को पाने मे विफल रहता हू। शत्रु-भाव वाले पर को वश में करने की संभावनाएं होती है। इन संभावनाओ को प्रेम के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। हिंसा पर को वश में करने की सारी संभावनाओ को समाप्त कर देती है। वैसे हिंसा भी पर को वश में करने के उद्देश्य से की जाती है। हिंसा करने वाले का लक्ष्य होता है कि शत्रु उसके वश मे हो जाए और उसकी बात माने किंतु इसकी परिणति हत्या है. पर की अनुपस्थिति है, जो

उसके उद्देश्य को पूर्ण विफल बना देता है।

मानव-जाति ने निज-पर संबंध की समस्याओं के समाधान के लिए अधिकतर हिंसा का रास्ता अपनाया है जिसके कारण असंख्य युद्धों और अत्याचारों से मानव-जाति पीड़ित रही है। लेकिन इससे घृणा, द्वेष आदि का अंत नहीं हुआ, बल्कि वृद्धि ही हुई। हम इन समस्याओं का बेहतर समाधान प्रेम और अहिंसा के मार्ग पर चलकर कर सकते हैं, भले ही यह रास्ता लंबा हो और हमारे धैर्य तथा हमारी सहनशीलता के लिए चुनौती उपस्थित करता हो। इस प्रकार निज-पर संबधों के समाधान के लिए (द्वंद्व-रहित और वर्ग-रहित समाज की क्रांति के लिए भी) हिंसा के मार्ग की असफलता निश्चित है। सभी अस्तित्ववादी लेखकों ने इसे स्वीकार किया जिसके कारण वे रक्त-क्रांति के सिद्धांत को मानने वाले साम्य-वाद से दूर हो गए। किंतु वे अपने संघर्ष में (प्रतिरोध आंदोलन में) अहिंसा के मार्ग के प्रति पूर्णतया प्रतिश्रुत नहीं रहे। इस मार्ग का सर्वोत्तम उदाहरण गांधी-लोहिया ने ही प्रस्तुत किया जो आने वाली मानव-सभ्यता का मुख्य आधार बन सकता है।

निज-पर के संबंध का एक आयाम भाषा है। भाषा अन्य व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकार करने की घोषणा है। सार्त्र के शब्दों में "मैं अपनी भाषा को नहीं समझता हू, उसी तरह जैसे मैं अपनी देह को जो दूसरों के लिए है, नहीं जानता हू।" सार्त्र का कहना है कि शब्द जब बोला या लिखा जाता है तो पवित्र होता है किन्तु जब वह दूसरे के पास पहुंचता है तो वह जादू बन जाता है। इसका निहितार्थ यह है कि लेखक को अपनी भाषा की शक्ति जानने के लिए पाठक पर निर्भर करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त इसका एक निहितार्थ यह भी है कि भाषा के भी दो रास्ते हैं—प्रेम का और हिंसा का। प्रेम की भाषा का लक्ष्य भिन्न विचार के व्यक्ति को अपने अनुकूल बनाना होता है और हिंसा की भाषा का लक्ष्य विरोधी को ध्वस्त करना होता है। यह विरोधी के विनाश, उसकी अनुपस्थिति की दिशा में प्रयास है जो उसे अनुकूल बनाने के लक्ष्य को विफल करता है। यह रूठी हुई महबूबा की हत्या के समान पागलपन है। भाषा (शब्द) की हिंसा शस्त्र की हिंसा से भी ज्यादा भयानक होती है। इसका एक उदाहरण है हिन्दू-शास्त्रों द्वारा मंत्र अथवा धार्मिक शब्द के माध्यम से स्त्री-शूद्र की हिंसा जिसने हजारों साल से उन्हें स्वाभिमान और गर्व से वंचित कर रखा है। यह एक तरह से हत्या ही है। विरोधी पक्ष के विचारों के प्रति असहिष्णु होकर कुतर्क और वितंडावाद करना या गाली देना भी शाब्दिक हिंसा है। आदमी इसका सहारा तभी लेता है जब वह अपने को विरोधी पक्ष की तुलना में कमजोर पाता है।

संबंध अनन्त हैं इसीलिए जीवन अनंत है। इस अनंतता के पीछे है मानव-

चेतना की स्वतन्त्रता जो अननुमेय है। मानव कब क्या करेगा, कैसे व्यवहार करेगा, इसका न तो पूर्वानुमान लगाया जा सकता है और न उसे नियन्त्रित और निर्देशित किया जा सकता है। चूंकि साहित्य संबंधों की तलाश करता है अतः साहित्य में हमेशा नई-नई चुनौतियां उपस्थित होती रहेंगी। हर नई पीढ़ी की सर्जक प्रतिभाओं को अपने समय में नई चुनौतियों का सामना करना होगा।

उपसंहार

हर रचना की नियति उसका अधूरा रह जाना है। एक तो इसलिए कि कोई भी सत्ता या वस्तुस्थिति मानव-चेतना के समक्ष पूर्ण तरह अनावृत नहीं होती। चेतना उसके कुछ पहलुओं को ही देख सकती है। दूसरे इसलिए भी कि मानव ने अभी ऐसी भाषा का विकास नहीं किया है जो उसके अहसासों को पूर्ण रूप से व्यक्त कर सके। इसीलिए किसी भी रचनाकार को अपनी रचना से पूर्ण तृप्ति नहीं मिलती है। इस मायने मे मेरी यह पुस्तक भी अधूरी है।

लेकिन रचना के अधूरेपन को भरने का काम पाठक करता है बशर्ते कि पाठक स्वतंत्र मन से उसे ग्रहण करे। लेखक की स्वतंत्रता रचना को जन्म देती है और पाठक की स्वतंत्रता उसे पूर्णता की ओर ले जाती है। किन्तु यह तब होता है जब पठन सृजनात्मक क्रिया बनती है, जब पाठक अपनी स्वतंत्रता को हर तरह के दबावो से मुक्त रखता है। यदि वह रचना को किसी मजबूरी मे पढ़ता है (जैसे परीक्षा या समीक्षा की मजबूरी) या प्रचार-विज्ञापन अथवा किसी बड़े समीक्षक की टिप्पणी से प्रभावित होकर पढ़ता है तो वह अपनी स्वतंत्रता का प्रयोग नही करता और इसीलिए रचना के अधूरेपन को पूर्णता की ओर ले जाने की अपनी भूमिका नही निभा सकता। कोई भी साहित्यिक रचना विद्यार्थियों द्वारा परीक्षा की मजबूरी से पढ़ी जाए या चर्चित-पुरस्कृत का लेबल लगाने के बाद कुतूहल की तृप्ति के लिए पढ़ी जाए तो यह उस रचना या उसके रचनाकार के लिए विशेष सम्मान की बात नहीं हो सकती क्योकि इससे रचनाकार का उद्देश्य सिद्ध नही होता। रचनाकार का उद्देश्य होता है कि जो प्रक्रिया उसने शुरू की है उसे कोई सही परिणति की ओर ले जाए और यह काम पाठक की स्वतंत्रता ही कर सकती है। इसीलिए जहां लेखक अपनी स्वतंत्रता से कोई समझौता किए बिना, हर तरह के दबावों और प्रलोभनो से मुक्त रहकर लिखता है, उसे ऐसे पाठक की तलाश होती है जो हर तरह के दबावो से मुक्त रहकर रचना को पढ़े। यदि ऐसा एक भी पाठक लेखक को मिल जाता है तो उसकी रचना अपनी सार्थकता प्राप्त करती है।

की यह उपलब्धि ही उसका असली सुख है इसकी तुलना में पुरस्कार

सम्मान देता है।

लेकिन कभी-कभी (या अक्सर) लेखक भी पाठक की स्वतंत्रता पर हावी होने लगता है या उसकी स्वतंत्रता को प्रभावित करता है। सुनियोजित और सुविचारित ढंग से पाठक की भावनाओं के साथ खेलना, शब्द-चमत्कार या भाषा की कला-बाजियों से पाठक को अभिभूत करना अथवा उसे अपने पांडित्य से आतंकित करना इसी दिशा के प्रयास होते है। मैं इसे लेखन का दुर्गुण मानता रहा हू हालांकि मैं विश्वास के साथ नही कह सकता कि मैं इस बीमारी से पूरी तरह मुक्त हू। तथापि मैं इस बीमारी के प्रति हमेशा जागरूक जरूर रहा हू। यदि यह दुर्गुण इस पुस्तक मे प्रवेश कर गया हो तो मैं प्रबुद्ध पाठक से उम्मीद करूंगा कि वह इसे मेरी कमजोरी मानकर नजरअदाज कर दे।

जैसाकि मैंने शुरू मे कहा था यह पुस्तक वैचारिक संकट से बने घटाटोप कुहासे मे भविष्य का रास्ता टटोलने का प्रयास है। बचपन मे घने बीहड़ जगल मे घुटनों के बल चलकर, काटो से हाथ-पैर मुह छिदवाते हुए रास्ता ढूढ़ने का अनुभव प्राप्त किया था। मुझे याद है वह जितना यातना-भरा था उतना ही सतोषदायक भी हालांकि उस बीहड़ मे मेरा प्रयास हल्की-सी खरोच से ज्यादा नही था। न जाने मेरे बाद कितने ही बच्चों ने अपनी नन्ही-नन्हीं खरोचों से उस जंगल को मापा तब कहीं वहां पगडंडी जैसी कोई लकीर उभरी थी। यह पुस्तक खरोच बनेगी, यह उम्मीद लेकर चलना अपने को छलना है। लेकिन क्या प्रयास अपना औचित्य स्वयं नहीं होगा? क्या स्थितियों से अनासक्त रहते हुए या उन्हें मात्र झेलते हुए जीने की अपेक्षा उन्हें बदलने के लिए हाथ-पैर मारना बेहतर नहीं है? इस कोशिश मे मैंने इस पुस्तक के निष्कर्ष के रूप मे जो कुछ पाया वह नितात मेरा है और मैं इन निष्कर्षों को किसी के ऊपर थोपना अनैतिक मानता हू।

मै मानता हू कि विश्व का समस्त महान साहित्य स्वतत्रता की चाह से प्रेरित है। इसका मतलब यह नहीं कि इस प्रकार के साहित्य की संभावनाएं चुक गई है। स्वतंत्रता का सघर्ष शाश्वत संघर्ष है। यह ऐसा युद्ध है जो कभी खत्म नहीं होता और इसके लिए प्रतिक्षण नया मोर्चा लेना पड़ता है। गुलामी के अनत रूप हैं। बाहरी गुलामी से अधिक लेखक को भीतरी गुलामी से लडना पडता है। इसमें हार-जीत का फैसला नहीं होता, केवल युद्ध होता है और इस युद्ध से बचने की कोशिश छद्म लेखन है तथा यह लेखक की आत्महत्या है। समता और बधुता का युद्ध भी वास्तव मे स्वतंत्रता का ही युद्ध होता है। इस युद्ध की केवल रणनीति किंचित भिन्न होती है। समता की चाह के साहित्य के लिए विषमता की यातना का तीव्र बोध जरूरी है। इसमें तिक्तता और उग्रता अनिवार्य है। बंधुता की चाह वैसे तो हर साहित्य में निहित होती है किन्तु देश और काल की सीमाओ का पारगमन करने वाला विशिष्ट प्रकार का साहित्य भी लिखा जा सकता है महान रोमाय

और फंतासी कथाएं इस प्रकार का साहित्य होती हैं। उच्च कोटि का बाल-साहित्य भी इस श्रेणी में आता है।

स्वतंत्रता को जीने का एक मात्र रास्ता है विद्रोह। निषेध, असहयोग, बहिष्कार आदि विद्रोह के ही रूप हैं। इस विद्रोह का अहिंसात्मक होना जरूरी है। प्रेम विद्रोह का सर्वश्रेष्ठ रूप है। प्रेम अपनी स्वतंत्रता की घोषणा भी है और दूसरे (प्रिय) की स्वतंत्रता की प्रतिबद्धता भी। स्वतंत्रता को जीने का अर्थ है कष्ट और त्याग के रास्ते को चुनना। सुख-सुविधा की चाह का मतलब है किसी न किसी रूप में गुलामी को आमंत्रित करना।

साहित्य का सौंदर्य (उसका सत्य और शिव भी) स्वतंत्रता, समता और बंधुता की अभिव्यक्ति का परिणाम होता है। जिस अनुपात में किसी रचना में हमें इनकी अनुभूति होती है उसी अनुपात में वह रचना हमारे लिए सुंदर होती है। रसात्मकता और रमणीयता भी इसी में निहित होती है।

राजनीति अथवा धर्म के लक्ष्यों के लिए साहित्य का सृजन करना गैर-साहित्यिक काम है क्योंकि साहित्य के लक्ष्य इन दोनों के लक्ष्यों के विपरीत होते हैं। राजनीति, धर्म जहां स्वतंत्रता, समता आदि पर अंकुश लगाते हैं, साहित्य का काम इन अंकुशों को तोड़ना होता है।

साहित्य में स्त्री-शूद्र को आश्रय या नायकत्व का दर्जा देना, उसे आलंबन या विषय के रूप में नहीं, विषयि के रूप में प्रस्तुत करना, वर्तमान और भविष्य के साहित्य के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। इस कसौटी पर जो रचना खरी उतरेगी उसे किसी आलोचक की बैसाखी की जरूरत नहीं होगी।

साहित्य के दादाओं की भूमिका अदा करने वाले आलोचकों एवं समीक्षकों के लिए जहां सार्त्र का विशेषण, 'कब्रिस्तान का चौकीदार' सटीक बैठता है वहां सच्चे आलोचकों और समीक्षकों का होना किसी भाषा के लिए गौरव की बात भी है। यह लेखक और पाठक के बीच महत्त्वपूर्ण कड़ी है। लेकिन यह भूमिका आलोचक तभी निभा सकता है जब वह अपने पूर्वाग्रहों से ऊपर उठने की क्षमता रखता हो।

मुझे लगता है कि हिन्दी लेखक आम तौर पर सामान्य पाठक के लिए नहीं लिखता। लिखते समय वह इस बात के प्रति सचेत होता है कि उसकी रचना लेखक बन्धुओं, समीक्षकों, साहित्य के विद्वानों या विद्यार्थियों अथवा तथाकथित प्रबुद्ध व्यक्तियों के हाथ में जानी है और उनकी पसन्द-नापसन्द पर ही रचना का भाग्य निर्भर है (भाग्य, अर्थात् उसका पुरस्कृत, सम्मानित होना अथवा पाठ्य-पुस्तक बनना)। इसीलिए लेखक सचेत होकर ऐसी भाषा लिखता है जो उसकी सहज भाषा नहीं होती और उसमें कृत्रिम भाषा फलतः शब्द-क्रीड़ा पांडित्य प्रदर्शन आदि बातें प्रमुख हो जाती हैं जैसे हर रचना एक विशिष्ट पाठक वर्ग को

सम्बोधित होनी चाहिए जैसे—बाल-साहित्य बालक वर्ग को। इसमे शहरी बच्चे या ग्रामीण बच्चे, उच्च वर्गीय बच्चे या साधारण वर्गीय बच्चे की कल्पना लेखक में अपने वातावरण के अनुसार, हो सकती है। इसी तरह हिन्दी में लिखी गई रचना हिन्दी क्षेत्र के लोगों को या सारे भारत के हिन्दी जानने वालो को सबोधित हो सकती है किन्तु वह फ्रांस-अमेरिका के लोगो को सबोधित नहीं हो सकती (जैसाकि अंग्रेजी मे लिखने वाले भारतीय लेखकों की रचनाएं आम तौर पर होती है)। कुछ रचनाएं महिलाओ, दलितो अथवा नवसाक्षरो के वर्ग को भी संबोधित होती हैं। किन्तु यदि रचना सिर्फ लेखक बधुओ, आलोचको, समीक्षकों और तथाकथित साहित्य-मर्मज्ञो को ही सबोधित हो तो रचना का दायरा स्वतः ही छोटा हो जाता है। हिन्दी साहित्य पाठको से आज इसी कारण कटा हुआ है।

साहित्य समाज का दर्पण है, यह कथन इस मायने मे तो सच है कि समाज इसमें अपना चेहरा देख सकता है। किन्तु वह यथास्थिति का जड़ चित्र नही होता बल्कि समाज में होने वाले भावी परिवर्तनो का सूचक भी होता है। इसका कारण है कि लेखक साहित्य में समाज को उद्घाटित करता है, उस पर पड़े पर्दों को हटाता है तो वास्तव मे वह भविष्य को चुन रहा होता है। भविष्य की प्रतिबद्धता के बिना वह उद्घाटन का काम भी नही कर सकता। उद्घाटन का मतलब ही है प्रकाश डालना और प्रकाश लेखक को उस संकल्प से मिलता है जिसे वह भविष्य के संबध में करता है। इस प्रकार साहित्य समाज का जड प्रतिबिंब प्रस्तुत नही करता बल्कि निर्माणात्मक संभावनाओं से युक्त प्रतिबिंब प्रस्तुत करता है।

साहित्य मे कलाकार और अदाकार का भेद बना रहना चाहिए (और क्षेत्रो मे रहे न रहे) क्योंकि अदाकारी साहित्य को बाजारू माल बना देती है। साहित्य को फिल्म-दूरदर्शन आदि प्रचार माध्यमो का अनुचर बनाने में भी यही खतरा है। इससे लेखक की रचना को व्यापक प्रचार तो मिल सकता है लेकिन यह प्रचार उसका बाजार-भाव ही बढ़ा सकता है, रचना की सृजनात्मक प्रक्रिया को आगे नहीं बढ़ा सकता क्योंकि उसके लिए पाठक की स्वतंत्रता जरूरी शर्त है और फिल्म-दूरदर्शन के दर्शकों की स्वतन्त्रता बंधक होती है।

पुरस्कार साहित्यिक गतिविधि को कुल मिलाकर फूहड़ता प्रदान करते है। लेखक को उसका उचित पारिश्रमिक देने के बजाय खाल उतार कर शाल पहनाने का प्रहसन तो यह है ही, यह ऊंच-नीच की सीढीनुमा वर्णव्यवस्था को मजबूत करने की साजिश भी है। पुरस्कार लेखक से उसकी स्वतंत्रता भी छीनते है जिसका बोध लेखक को भले ही न हो किन्तु जिसका प्रभाव उसके लेखन पर अवश्य पड़ता है।

लेखक जब अपने हर सामान्य अनुभव को बहुमूल्य मानने लगता है तो वह दूसरों के अनुभव को अपना अनुभव बनाने (सवेदना. सहानुभूति) की क्षमता खोता है। इस स्थिति मे उसका लेखन अथवा)

से प्रेरित होता है। भोगे हुए यथार्थ का लेखन अधिकतर इसी श्रेणी में आता है। अपने शब्दों में विमोहित लेखन भी इस कोटि का होता है। आत्मकथात्मक लेखन में इसका बहुत अधिक खतरा रहता है। यह अतीत-मोह या आत्मालिप्तता का लेखन बन जाता है।

जैसे मॉडल को सामने अथवा स्मृति में बिठाकर बनाया गया चित्र कल्पना-सृजित चित्र की ऊंचाई को नहीं छू सकता, वैसे ही जीवन के वास्तविक पात्रों को आधार बनाकर लिखी गई कहानी-उपन्यास कृति उस ऊंचाई को नहीं छू पाती जिसमें लेखक अपनी मौलिक कल्पना से पात्रों की सृष्टि करता है। पात्रों को जीवन से ज्यों-का-त्यों उठाना और कल्पना-सृजित पात्रों का जीवन से उठाए गए पात्र लगना दो अलग बातें हैं। लेखक की कला दूसरे प्रकार के पात्रों में निखरती है।

मिथक कथाओं और ऐतिहासिक घटनाओं के पुनर्कथन के रूप में किया गया लेखन भी मॉडल पेंटिंग जैसा प्रयास है जिसमें विशेष लेखकीय प्रतिभा दरकार नहीं होती। मिथक और इतिहास को भविष्य के प्रकाश में पुनः आलोकित करना महत्त्वपूर्ण काम है लेकिन इन्हें मनमाने ढंग से तोड़ना-मरोड़ना या इनकी सामग्री को किंचित हेरफेर के साथ अपने मौलिक लेखन के रूप में प्रस्तुत करना सस्ता लेखन है।

कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध आदि सभी साहित्यिक विधाओं की अपनी-अपनी विशेष शक्ति है। एक विधा का काम दूसरी विधा नहीं कर सकती। कहानी में कविता करना या कविता में कहानी कहना अच्छा प्रयास नहीं माना जा सकता। कविता राग या पैशन की चीज है और कहानी अनुचिंतन या रिफ्लेक्शन की। दोनों के अनुभव अलग-अलग किस्म के होते हैं। कविता में प्रत्यक्ष अनुभव होता है तो कहानी में उस अनुभव का ज्ञान। कहानी और उपन्यास भी अलग-अलग विधाएं हैं। दोनों के बीच अन्तर केवल आकार का नहीं है। कहानी जीवन का व्यष्टिगत विश्लेषण (माइक्रो एनेलेसिस) करती है, उपन्यास जीवन का समष्टिगत विश्लेषण (मैक्रो एनेलेसिस) करता है। कहानी में बायोप्सी और उपन्यास में ऑटोप्सी की प्रक्रिया अपनाई जाती है। दोनों के लिए अलग-अलग क्षमता की जरूरत होती है। निबंध के लिए अलग ही मनःस्थिति की अपेक्षा होती है और बाल-साहित्य के लिए भी। एक लेखक के लिए इन अलग-अलग मनःस्थितियों को प्राप्त करना असंभव नहीं होता किन्तु एक विधा की मनःस्थिति दूसरी विधा की रचना में दोष पैदा करती है।

साहित्य में एक अच्छी रचना का जन्म धर्म में किसी महापुरुष के अवतार से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता किन्तु अच्छी रचना को पहचानना और उसे स्वीकार करना बहुत कष्टकर होता है। सहृदय पाठक और समालोचक के लिए ऐसी रचना

से साक्षात्कार अपार आनद का अवसर होता है और इस आनन्द को छिपाकर रखना उसके लिए असभव हो जाता है। वह नये लेखक मे भी इस प्रकार की सभावना देखता है इसलिए वह किसी लेखक और रचना को अपने पूर्वाग्रहो से देखने की कोशिश नही करता। कुटिल आलोचक अपने पूर्वाग्रहो का बदी होने के कारण या तो उस रचना को देखने से इन्कार करता है और देखता है तो चुप्पी मारकर अस्वीकार कर देता है। इस प्रकार सच्चे आलोचको और पारखियों का अभाव अनेक अच्छी रचनाओ की असमय मृत्यु का कारण बनता है जो किसी भी भाषा के लिए दुर्भाग्य की बात है।

समाज मे सर्जक की भूमिका विषपायी शिव की होती है जिसे विध्वस और निर्माण साथ-साथ करना होता है। उसका रौद्र रूप समाज के लिए सहज-ग्राह्य नहीं होता, इसलिए उसे अधिकतर समाज की उपेक्षा ही मिलती है। धर्म, राजनीति, समाज की तमाम संस्थाएं और व्यवस्थाए उसे प्रतिद्वंद्वी शक्ति मानकर उस पर अंकुश लगाने की कोशिश करती है। किन्तु वे उसे बांध नही सकती क्योकि सर्जक स्वयंभू होता है। वह धर्म, समाज, राजनीति की निर्मिति नही, स्वयं की निर्मिति होता है।

परिशिष्ट एक

ज्यां पाल सार्त्र और बंधुता का मूल स्रोत

ज्यां पाल सार्त्र और बेनी लेवी के बीच 'हिंसा, क्रांति और बंधुता' विषय पर एक लंबी बातचीत हुई थी। इसका विवरण हैदराबाद से प्रकाशित, केशवराव जाधव द्वारा सम्पादित पत्र 'औलिम्पस' के मार्च-अगस्त, 1992 अंक में छपा था। बातचीत इस मुद्दे से शुरू हुई कि 1793 के विद्रोहियों के बीच जो भाईचारे की भावना बनी थी उस वामपंथी बंधुता का ह्रास क्यों हुआ और वामपंथी एकता क्यों टूटी? बातचीत के दौरान वे लोकतंत्र, वोट और वयस्क मताधिकार पर विचार करने के बाद बंधुता पर आते हैं। बातचीत के कुछ अंश नीचे दिए जा रहे हैं -

बेनी लेवी : क्या आप मार्क्स की यह बात दुहरा रहे हैं कि वोट राजनैतिक व्यक्ति की अभिव्यक्ति है और यह ठोस सामाजिक संबंधों अर्थात् उत्पादन संबंधों की मूल अभिव्यक्ति का फल है?

ज्यां पाल सार्त्र . एक मायने मे हां। लेकिन मैं उत्पादन संबंधों को प्राथमिक संबंध नही मानता। वोट के संदर्भ मे यह प्राथमिक है। शहरों मे बसने वाले मजदूर एक ही इलाके में रहते हैं, एक ही तरह का काम करते हैं और वे वोट देने जाते हैं। लेकिन मेरी दृष्टि में यह बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। जो चीज उन्हें उत्पादन संबधो से भी ज्यादा मजबूती से बांधती है, जो उन्हें उत्पादक होने से अधिक इस बात का अहसास कराती है कि उन्हें एक-दूसरे की जरूरत है, वह यह है कि वे सब मनुष्य हैं। इस तथ्य का अध्ययन किया जाना चाहिए। हमें यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि एक व्यक्ति होने और अन्य पड़ौसी व्यक्तियो के साथ मिलकर कानून बनाने, संस्थाएं चलाने तथा अपने आप को वोट के जरिए नागरिक बनाने का क्या मतलब है। सुपरस्ट्रक्चर के बारे में मार्क्स ने अच्छा काम किया लेकिन यह कल्पना बिल्कुल गलत है क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच

प्राथमिक सबंध कुछ और होना है और उसी का हमें पता लगाना है।

बेनी लेवी : आपको नही लगता कि आपने 'सर्च फार मेथड' मे इसका पता लगाया है ?

सार्त्र : मैं उसे ढूंढ रहा था लेकिन मैं कुछ और भी ढूंढ रहा था। बड़ी बात यह कि मैंने उसका दूसरा खंड नही लिखा। आपको मालूम ही है कि मैंने 'सर्च फार मेथड' किनारे रख दिया क्योंकि मेरे भीतर यह विचार परिपक्व नही हुआ। मैं उसके साथ नही चल सका। मुद्दा यह है कि मैं समाज को उस रूप मे लू जिस रूप मे 'सर्च फार मेथड' मे मैंने उसकी कल्पना की तो मुझे कहना पडेगा कि बंधुता के लिए इसमें जगह नही है। इसके विपरीत यदि मैं समाज को लोगो के बीच संबध का परिणाम मानू जो राजनीति से ज्यादा मूलभूत है तो मुझे मानना होगा कि लोगो के बीच एक प्राथमिक सबंध होना चाहिए, हो सकता है, होता है और यह है बंधुता।

बेनी लेवी . बंधुता प्राथमिक संबध क्यो है ? हम एक ही पिता की सतानें तो नही है ?

सार्त्र : नही। लेकिन किसी भी अन्य प्रकार के संबंध मे पारिवारिक सबध प्राथमिक है।

बेनी लेवी : लोग एक परिवार होते है ?

सार्त्र : एक मायने में वे एक परिवार होते हैं।

बेनी लेवी : आप इस प्राथमिक संबध को किस रूप मे देखते है ?

सार्त्र : प्रत्येक व्यक्ति का जन्म वैसी ही घटना है जैसी उसके पड़ोसी का जन्म। यहा तक कि एक तरह से, आपस मे बातें करने वाले दो व्यक्तियों की मा एक ही होती है। वास्तविक मा नहीं, ऐसी मा जिसकी न आखे हैं न चेहरा। यह एक विचित्र प्रकार का विचार है लेकिन हम दोनो इस विचार के साझेदार है बल्कि हम सभी इसके साझेदार हैं। एक ही प्रजाति के होने का मतलब है एक ही माता-पिता का होना। इस नाते हम सब भाई हैं। वास्तव मे मानव प्रजाति को इसी रूप मे परिभाषित किया जाता है, जैवशास्त्रीय गुणो के रूप मे इतना नही जितना हमारे बीच के किसी और सबंध, बंधुता के रूप मे। यह एक ही मा से जन्म लेने का सबध है। मेरा यही अभिप्राय है।

बेनी लेवी : प्लेटो की 'रिपब्लिक' मे सुकरात ने अच्छे नगर की आवश्यकताएं बताईं—हर वर्ग का एक स्थान आदि—और फिर कहा : "सुनो प्रिय, मैं एक और बात जोड़ना चाहता हूं। इसका जिक्र थकान पैदा करने वाला होगा किंतु मैं कहना जरूर चाहता हूं। एक और चीज की आवश्यकता है। नगर के सभी लोगो में यह भावना जगानी होगी कि वे सब आपस में भाई हैं। उनमे यह विश्वास जगाना होगा कि वे एक ही मां की संतानें हैं और मैं यह कहना चाहता

हू कि यह मां हमारी धरती है। हमें इस रूप में इस विचार को रखना होगा और तब लोग मानेंगे कि हम एक ही धरती की संतानें हैं और इसीलिए भाई-भाई हैं। निस्सदेह सबके स्वभाव अलग-अलग हैं जो बात स्पष्ट करती है कि क्यों एक योद्धा है, दूसरा किसान और तीसरा मैजिस्ट्रेट लेकिन मूल रूप में सब भाई-भाई हैं।"…इसका मतलब कि आप जिस मां की बात मुझसे कर रहे हैं—एक पवित्र और सदेहशील असत्य के द्वारा—वह ग्रीक संदर्भ की धरती मा तथा नेशन (राष्ट्र) के आधुनिक सदर्भ की भी धरती मा हो सकती है।

सार्त्र : मैंने सुकरात के वक्तव्य को कभी पवित्र असत्य नहीं माना। वे वास्तव में मानते थे कि सब मनुष्य आपस में भाई-भाई हैं। किन्तु वे इसे ठीक-ठीक नही कह पाए। इस तरह सत्य को परिभाषित करने के लिए उन्हें सम्प्रेषणीय शब्दावली नही मिली तो उन्होने इसे मिथक बना दिया।

बेनी लेवी : ठीक है, सुकरात के अभिप्राय का समर्थन किया जा सकता है। तथापि यह तथ्य तो बना ही हुआ है कि उनके सामने कठिनाई आई जो वर्तमान समय की कठिनाई है और सारे ढाचे के लिए खतरा बन गई है। मन ऐसी स्थिति मे मिथक मे भटकने से कैसे बच सकता है जब मूल समस्या यह हो कि हम कैसे भाई-भाई की तरह रह सकते है या बंधुता को जीवन में ला सकते हैं।

सार्त्र : इसका मिथक से कोई लेना-देना नही है। बंधुता वह संबंध है जो एक प्रजाति के सदस्यो के बीच होता है। हजारों साल पूर्व प्रारंभिक सामाजिक विभाजन कबीलो या गणो के रूप में हुआ जिनकी पहचान टोटम या गण-चिह्न था। टोटम ने सारे कबीले को बांधा और उनके सारे संबंधों को वास्तविकता प्रदान की, उदाहरण के लिए उन्हें आपस में विवाह करने मे रोकने के मामले में। यह सबंध बंधुता था। मेरा मतलब है कबीले की उस महान संकल्पना को, मातृ-सबध की एकता को—उदाहरण के लिए उस पशु मे जिसने हम सब को जन्म दिया—आज हमें पुन: पहचानना होगा क्योंकि यही सच्ची बंधुता थी। एक अर्थ में यह निश्चय ही मिथक था, इसमें कोई सदेह नहीं। लेकिन यह सच भी था।

बेनी लेवी : क्या आप वही नही कर रहे हैं जो सुकरात ने करने का प्रयास किया, अर्थात् समस्या खडी हुई तो मिथक का सहारा ले लिया ?

सार्त्र : नही, मैं ऐसा नहीं मानता हूं। मेरा मतलब है कि मिथक की खोज समूह के लोगो ने अपने पारस्परिक सबध, समूह-सबध को समझने-समझाने के लिए की। दूसरे शब्दों यह जाने बिना खोज की कि वे जन्म देने वाले की खोजकर रहे है जिसके परिणाम स्वरूप वे भाई-भाई हैं। क्यो ? क्योंकि प्रारंभ मे उन्हे लगा कि वे भाई-भाई हैं। बाद में उनकी खोज ने भाईचारे को निश्चित अर्थ दिया। लेकिन खोज से बंधुता का भाव मिला ऐसी बात नही है।

बेनी लेवी : लेकिन हमारी समस्या है कि हम बंधुता की मूल कल्पना के

लिए मिथक में न जाए। हम इस जाल से कैसे बच सकते हैं जिसमें सुकरात फंस गए थे ?

सार्त्र : हम जाल मे नहीं फंस रहे हैं। कबीले के सभी लोग भाई-भाई होते हैं बशर्ते कि वे एक ही औरत से पैदा हो जिसका प्रतीक गणचिह्न है। उस क्षण औरत का व्यक्तित्व विचारणीय विषय नही है, वह मात्र एक औरत होनी चाहिए जिसके गर्भ मे भ्रूण विकास कर सके, जिसके पास दूध पिलाने के लिए स्तन हो या शायद बच्चे को उठाने के लिए पीठ हो। यह औरत टोटमिक पक्षी भी हो सकता है।

बेनी लेवी : लेकिन यह तो मानते हैं (या नही ?) कि जैवशास्त्रीय संबध को बिल्कुल छोड़ा नही जा सकता। अन्यथा बंधुता के बजाय कुछ और भी कहा जा सकता है, जैसे समता। लेकिन मुझे लगता है कि आप बधुता की कल्पना की ओर बहुत आकृष्ट हुए हैं और समता की कल्पना से उतने नही जुडे हैं जितने कभी थे। अतः हमे ऐसी परिभाषा ढूंढनी है जिसमें जैवशास्त्रीय संदर्भ को मानकर चला जाए किंतु उसका इतना विस्तार किया जा सके कि वह जैवशास्त्रीय न रहे और मिथक भी न बने।

सार्त्र : बिल्कुल ठीक। तो फिर एक मानव और दूसरे मानव के बीच वह कौन-सा सबध है जिसे बधुता कहा जा सकता है ? यह सबंध समता का तो नही है। यह ऐसा संबंध है जिसमें काम करने की प्रेरणा रागात्मक क्षेत्र से मिलती है जबकि काम का क्षेत्र व्यावहारिक होता है। दूसरे शब्दो मे समाज मे व्यक्ति और उसके पडोसी के बीच संबंध सबसे पहले रागात्मक/व्यावहारिक होना है। कहा जा सकता है कि शुरू मे लोगो मे यह चेतना रही होगी। लेकिन यह ऐसा उपहार है जिसकी पुनः खोज होनी चाहिए। जब मैं किसी आदमी को देखता हूं तो सोचता हूं कि उसका और मेरा उद्गम एक ही है। मेरी तरह वह भी, हम कह सकते हैं, मानवता रूपी मां से पैदा हुआ है या जैसाकि सुकरात ने कहा, धरती रूपी मा से पैदा हुआ है या किसी अन्य मा से···

बेनी लेवी : यह मा, मानवता, धरती क्या है ? हम अब भी मिथक मे भटक रहे हैं। क्या इस मिथक से अपने को अलग करने का कोई रास्ता नही ?

सार्त्र : मैं समझता हू कि मेरे और आपके बीच या आपके और मेरे बीच जो सबध है वह मिथकीय नहीं वास्तविक है। हम आदमी और उसके पडोसी के बीच के संबंध को बंधुता कहते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि उनका उद्गम एक ही है। उद्गम एक है और भविष्य में लक्ष्य एक है। एक उद्गम एक लक्ष्य, यह है बधुता।

बेनी लेवी : क्या यह सच्चा और बोधगम्य अनुभव है ?

सार्त्र : मैं समझता हू कि मुकम्मिल और वस्तुत. बोधगम्य अनुभव यह तब

होगा जब प्रत्येक व्यक्ति के भीतर विद्यमान लक्ष्य—मानव का निर्माण—प्राप्त कर लिया जाएगा। उस वक्त यह कहना संभव होगा कि सब लोग एक ही उद्गम से आए हैं, माता या पिता के सेक्स की वजह से नहीं बल्कि हजारों साल की उस प्रक्रिया के फलस्वरूप जिसने अंत में मानव की रचना की। तब सच्ची बंधुता होगी।

बेनी लेवी : मैं सहमत हूं किंतु यह अंतिम परिणाम किस चीज से इंगित होना है?

सार्त्र : इस तथ्य में कि यह नैतिकता नाम की चीज है।

बेनी लेवी : अपने वर्तमान अनुभव में हम मिथक का सहारा लिए बिना बंधुता को कैसे स्पष्ट कर सकते हैं?

सार्त्र : क्योंकि बंधुता भविष्य की चीज है। मिथक का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं क्योंकि मिथक अतीत की चीज है। बंधुता वह संबंध है जो मनुष्यों के बीच भविष्य में तब बनेगा जब सारे इतिहास से गुजर कर वे अपने में यह कह सकेंगे कि वे भावना और कार्य में एक-दूसरे से जुड़े हैं। नैतिकता अपरिहार्य है क्योंकि इसका मतलब है कि मानव या अधोमानव का भविष्य मुश्तरिका कार्रवाई के सिद्धांतों पर आधारित है अर्थात इसके साथ-साथ ही उनके आस-पास भौतिकता (जिसका मतलब मूलतः अभाव है) के आधार पर भविष्य बन रहा है। इसका अर्थ है यह मानना कि तुम्हारा सब कुछ मेरा है और मेरा सब कुछ तुम्हारा। मुझे जरूरत होगी तो तुम मुझे दोगे और तुम्हें जरूरत पड़ेगी तो मैं तुम्हें दूंगा। यही नैतिकता का भविष्य है। और आदमियों की कुछ ऐसी जरूरतें होती हैं जिन्हें वे अपनी बाहरी स्थितियों के कारण पूरा नहीं कर पाते। यहां जितना होना चाहिए उससे हमेशा कम होता है। आदमी की जरूरतों से कम खाद्य पदार्थ और उस खाद्य पदार्थ के उत्पादन में लगे कम लोग। हम अभाव या किल्लत से घिरे हैं जो एक वास्तविक तथ्य है। हमें हमेशा किसी न किसी चीज की कमी रहती है। इसके दो समाधान हैं। दोनों मानवीय हैं किंतु एक-दूसरे से मेल नहीं खाते। तथापि हमें एक-साथ दोनों को लेकर जीना है। एक है मानव का निर्माण करना, मानव की उपलब्धि जो एक नैतिक संबंध है और दूसरा है अभाव के खिलाफ युद्ध।...

इस वार्तालाप में हिंसा और क्रांति की कल्पनाओं पर भी विचार किया गया है किन्तु हमने बंधुता से संबंधित अंश को ही यहां उद्धृत किया है। सार्त्र ने कभी बंधुता को हिंसा से भी जोड़ा था, अल्जीरिया की हिंसक क्रांति के समर्थन के दौरान, और कहा था कि समान शत्रु के खिलाफ हिंसा की भावना भी बंधुता की भावना पैदा करती है। किंतु इस वार्तालाप में आगे चलकर उन्होंने माना है कि वे अब का विश्वास कर नहीं सकते। हिंसा बंधुता या गुलामी का शिकंजा तोड़ने के लिए

(क्रांति के लिए) आवश्यक हो सकती है लेकिन आजादी मिलने के बाद तो बंधुता का कोई और स्रोत ढूंढना पड़ेगा।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि फ्रांस के दार्शनिकों ने इन संकल्पनाओं पर गहराई से विचार किया किंतु हमारे यहां इन पर बहस हुई ही नहीं जबकि इन संकल्पनाओं का जन्म यहां हुआ और इन्हें संविधान में रखा गया। कुछ समय पहले राजमोहन गांधी ने एक बहुचर्चित व्याख्यान में 'शत्रुता से बंधुता' के सार्त्र के थीसिस को 'शत्रुता में एकता' के अपने थीसिस के रूप में पेश किया था बिना यह जाने कि सार्त्र ने इस थीसिस को बाद में खुद ही अस्वीकार कर दिया था। समता के मुद्दे पर तब लोग सोचने लगे जब आरक्षण का मसला गरम हुआ और उच्चतम न्यायालय ने उस पर ऐतिहासिक निर्णय दिया। बंधुता को हमने संविधान में मानव की गरिमा और राष्ट्र की एकता का साधक कहा है अतः इस शब्द की गहरी छानबीन की आवश्यकता है। सुकरात ने बंधुता को स्पष्ट करने के लिए धरती मां की कल्पना रखी और सार्त्र ने भी उससे मिलते-जुलते एक उद्गम का विचार रखा। हमारे यहां मोक्ष की कल्पना के अंतर्गत मानव को विराट का अंश माना गया। यह भी एक मिथकीय विचार है। मनुष्य को जब विराट के अंश होने का बोध हो जाता है तभी वह अपने को पहचानने लगता है अर्थात् उसकी अस्मिता बनती है तथा गरिमा का बोध होता है और तभी सच्ची बंधुता प्रकट होती है। राष्ट्र की निष्ठा मानव-जाति के प्रति निष्ठा से कैसे मेल खाए इस पर भी विचार होना चाहिए।

परिशिष्ट दो

वर्तमान सभ्यता का संकट और गांधी-लोहिया

डंकेल प्रस्तावों के माध्यम से भारत और तीसरी दुनिया के देशों पर लादी जा रही 'ऋणं कृत्वाघृतं पिबेत्' की अर्थनीतियों को पूंजीवादी सभ्यता द्वारा अपने विनाश को रोकने की अंतिम हताश कोशिश कहा जा सकता है। ऐसा लगता है कि पूंजीवादी सभ्यता जिसे आधुनिक सभ्यता, पश्चिमी सभ्यता भी कहा जा सकता है, दो सदियों की जीवन-लीला पूरी करके अस्ताचल की ओर तेजी से बढ़ रही है और एक नई सभ्यता का उदय होने वाला है। अत: इस अस्ताचलगामी सभ्यता की कहानी पर सरसरी नजर डालना रोचक होगा।

पूंजीवाद को आधुनिक सभ्यता का पर्याय बनाने के कारण कुछ लोगों को लेख के शुरू में ही आपत्ति हो सकती है अत: यह स्पष्ट करना जरूरी है कि मैं पूंजीवाद को न सिर्फ आधुनिक सभ्यता का पर्याय मानकर चल रहा हूं बल्कि इसे पश्चिमी सभ्यता, औद्योगिक सभ्यता का समानार्थक शब्द भी मानकर चल रहा हूं और साम्यवाद को भी इसी सभ्यता का एकरूप मान रहा हूं। इसका कारण है कि ये तमाम नाम उस सभ्यता को दिए गए हैं जो औद्योगिक क्रांति के गर्भ से पैदा हुई थी।

इस कथन का यह अभिप्राय नहीं कि यह सभ्यता इंग्लैंड, जर्मनी या फ्रांस के किसी कारखाने का उत्पाद है और न ही यह कि औद्योगिक क्रांति अचानक कुकरमुत्ते की तरह जमीन से फूटी। औद्योगिक क्रांति स्वयं यूरोप के नवजागरण काल में हुए उस विचार-मंथन का परिणाम है जो पूर्वी देशों के साहित्य के साथ सम्पर्क के बाद बुद्धिजीवी वर्ग में चला। औद्योगिक क्रांति से पहले ही मानव जीवन के अंतिम लक्ष्यों के सम्बन्ध में काफी सोच-विचार हो चुका था जिसका सार फ्रांस के इंसाइक्लोपीडिया लेखकों (वाल्टेयर, दिदरो और डेलम्बर्ट आदि) ने प्रस्तुत किया था। स्वतन्त्रता, समता और बंधुता को जीवन के मूलभूत मूल्य और अंतिम

लक्ष्य मानने का अर्थ था पूर्वकालीन ईसाइयत के मूल्यों से विलगाव और यह एक नई सभ्यता का सूचक था। ये मूल्य भारतीय समाज के परम लक्ष्य मोक्ष के विखंडित रूप थे जिसे धर्म, अर्थ और काम के क्षेत्र की सभी गतिविधियों का अंतिम लक्ष्य माना जाता। इस 'मोक्ष' शब्द के अंतर्गत भी सर्वोच्च स्वतंत्रता, सर्वोच्च समता और बंधुता का आशय निहित था हालांकि जन्म-मरण की शृंखला के साथ जुड़ कर इसका अर्थ भारतीय साहित्य में बहुत संकुचित हो गया था।

सभ्यता के दोहरे लक्ष्य

ध्यान में रखने वाली बात है कि हर सभ्यता अपने लिए दो तरह के लक्ष्य निर्धारित करती है, एक दूरगामी लक्ष्य और एक तात्कालिक लक्ष्य। दार्शनिकों को हमेशा इन दो लक्ष्यों या आदर्शों से जूझना पड़ता है। एक तो उन्हें यह तय करना होता है कि मनुष्य क्या है, कहां से आया, उसे कहां जाना है और दूसरे यह निश्चित करना होता है कि वह किस मार्ग पर चल कर अपनी मंजिल तक पहुंच सकता है। इन्हें आध्यात्मिक और भौतिक लक्ष्य भी कहा जा सकता है। इन दो प्रकार के लक्ष्यों के लिए विभिन्न समाजों में विभिन्न संकल्पनाओं का इस्तेमाल हुआ है। भारतीय समाज में इनके लिए ब्रह्म और माया शब्द हैं। पश्चिमी दार्शनिकों ने इनके लिए आध्यात्मिक और भौतिक या आदर्श और यथार्थ (स्पिरिट और मैटर) शब्दों का इस्तेमाल किया है। इन दो प्रकार के लक्ष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या हो, दर्शन शास्त्र की अधिकांश ऊहापोह इसी सवाल को लेकर रही है। कुछ दार्शनिक एक लक्ष्य की सिद्धि से दूसरे लक्ष्य की स्वतःसिद्धि मानते हैं, कुछ दोनों को बिल्कुल पृथक् और असंबद्ध मानते हैं और कुछ दोनों को स्वायत्त होते हुए भी परस्पर संबद्ध मानते हैं। गांधी आध्यात्मिक लक्ष्य की सिद्धि से भौतिक लक्ष्यों की स्वतः सिद्धि मानते थे। मार्क्स भौतिक लक्ष्य की सिद्धि से आध्यात्मिक लक्ष्य की स्वतः सिद्धि मानते थे। डॉ० राममनोहर लोहिया दोनों के बीच स्वायत्त सह-सम्बन्ध मानते थे। इस निबंध के प्रयोजन के लिए इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि किसी भी सभ्यता के विवेचन के लिए उसके दूरगामी लक्ष्यों और तात्कालिक लक्ष्यों अथवा आध्यात्मिक और भौतिक लक्ष्यों का विवेचन जरूरी हो जाता है। आध्यात्मिक लक्ष्य तो सभी सभ्यताओं में लगभग एक-से होते हैं हालांकि उनके मूल स्रोतों की कल्पना अलग-अलग हो सकती है जैसे ब्रह्म, ईश्वर, खुदा, ईसा, पैगम्बर आदि। भौतिक लक्ष्य ही किसी सभ्यता का वास्तविक स्वरूप निर्धारित करते हैं क्योंकि इनसे उस सभ्यता का मूल ढांचा खड़ा होता है। इनके चिंतन-मनन को भारतीय साहित्य में परा और अपरा विद्या कहा गया है।

औद्योगिक सभ्यता का मूल ढांचा

औद्योगिक सभ्यता के निर्माण के लिए सामाजिक ढांचे में मूलभूत परिवर्तन की जरूरत थी और यह परिवर्तन औद्योगिक क्रांति से आया। इस क्रांति ने समाज में एक नया वर्ग पैदा किया जिसे बुर्जुआ वर्ग या मध्य वर्ग कहा जाता था। सामंती युग में समाज दो ही वर्गों में विभाजित था, एक सामंत या शासक वर्ग और दूसरा उसकी छत्रछाया में पलने वाला प्रजा वर्ग, कृषि-दास आदि। औद्योगिक क्रांति ने इन दोनों के मध्यवर्ती तबके के हाथ में पूंजी और उत्पादन की शक्तियां देकर इसे इतना शक्तिशाली बना दिया कि वह समाज की दिशा को निर्धारित करने में सक्षम हो गया। उसने सामंती युग के मूल्यों को चुनौती दी और उसके स्थान पर अपने मूल्य निर्धारित किए—समाज, धर्म और राजनीति में ही नहीं, साहित्य और कलाओं में भी। प्राचीन मूल्यों की तुलना में उसने अपने मूल्यों को आधुनिक बताया और अपने द्वारा स्थापित सभ्यता को आधुनिक सभ्यता का नाम दिया।

इस प्रकार इस सभ्यता के आध्यात्मिक मूल्य या सर्वोच्च लक्ष्य (आदर्श) तो स्वतंत्रता समता और बंधुता बने किन्तु इसका ढांचा (यथार्थ) बना वैज्ञानिक आविष्कारों पर जिसकी प्रतीक मशीन या प्रौद्योगिकी थी। न्यूटन की भौतिक विज्ञान की खोजों ने मशीन का रूप स्थिर किया और उसके अनुरूप ही मानव और समाज की कल्पना की गई। राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक संस्थाओं का निर्माण एक जटिल मशीन के रूप में किया गया और मानव शरीर की कल्पना भी मशीन के रूप में ही हुई। इतना ही नहीं मानव-मन को भी मशीन का हिस्सा मानकर उसे नियंत्रणीय मान लिया गया और प्रौद्योगिकी इस लक्ष्य को प्राप्त करने में जुट गई। इसका मतलब था यंत्रवाद का मानव-मन की मूलभूत प्रवृत्तियों—स्वतंत्रता, समता और बंधुता—के साथ शत्रुतापूर्ण संबंध। यंत्रवाद ने शिक्षा का स्वरूप भी निश्चित किया। स्कूल, कारखानों की तरह चारदीवारी में बंद, घंटे की आवाज पर खुलने और बन्द होने वाले बने। स्कूल के बच्चों के लिए कारखाना मजदूरों की तरह वर्दी तय की गई। मशीन की एक ही क्रिया के अनुरूप स्कूलों के लिए एक-से पाठ्यक्रम को पढ़ाने-रटाने की प्रथा चली। साहित्य और कला में भी रूपवाद और ज्यामितीय आकारों की प्रधानता हुई और डिजाइन तथा कम्पोजीशन का महत्व बढ़ा। संगीत में मशीनी कोलाहल के स्वरों की लोकप्रियता बढ़ी और नृत्य में प्रकृति की लय-ताल का स्थान मशीन की गति, झटकों और विसंगत स्वरों ने ले लिया।

इस सभ्यता का स्वरूप निश्चित करने वाली दूसरी बड़ी खोज थी डार्विन की जिसने 'सर्वाइवल आफ दि फिटेस्ट' (शक्तिशाली की उत्तरजीविता) के सिद्धांत का प्रतिपादन करके तथा अधिक-से-अधिक शक्ति-संचय की ओर

इस सभ्यता को उन्मुख किया। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक ढांचे के निर्माण में प्रतियोगिता और शक्ति-संचय की दो प्रेरणाओं ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। यंत्रवाद ने भौतिक प्रकृति के नियमो को अपनाया और प्रतियोगितावाद ने प्राणी जगत के नियमों का सहारा लिया। यह मूल्य भी मानव के आध्यात्मिक मूल्यों (स्वतंत्रता, समता, बंधुता) के विपरीत था।

लोकतंत्र, पूंजीवाद, साम्यवाद

इन संकल्पनाओं के आधार पर जो राजनैतिक ढाचा बना वह लोकतंत्र कहलाया और जो आर्थिक ढांचा बना वह पूंजीवाद कहलाया। हालांकि इन दोनो व्यवस्थाओं को स्वतंत्रता, समता और बंधुता के आध्यात्मिक लक्ष्यों मे प्रेरित चलाया गया किन्तु इनके व्यावहारिक प्रेरणा-स्रोत उद्योगवाद, और प्रतियोगितावाद आदि ही थे। चूंकि आध्यात्मिक मूल्यो और व्यावहारिक मूल्यो मे विरोध था इसलिए यह लोकतंत्र और पूंजीवाद सही मायनो मे स्वतंत्रता, समता और बंधुता का साधक नहीं बन सका। कुछ चिंतकों का ध्यान इस विसंगति की ओर गया और वे एक वैकल्पिक व्यवस्था के बारे में सोचने लगे जिसमे स्वतंत्रता, समता और बंधुता के लक्ष्यो को बेहतर ढंग से प्राप्त किया जा सकता। फ्रांस का समाजवाद इस चिंतन का परिणाम था जिसे मार्क्स-ऐंगल्स ने आगे चलकर साम्यवाद का रूप दिया। लेकिन इस वैकल्पिक व्यवस्था की कल्पना भी औद्योगिक सभ्यता के भौतिक मूल्यों पर आधारित थी अर्थात् उद्योगवाद, प्रतियोगितावाद, शक्तिशाली के जीने का अधिकार, शक्ति-संचय या शक्ति का केन्द्रीकरण, उपभोगवाद और मानव-मन की मशीन के रूप में अवधारणा आदि बाते वैकल्पिक व्यवस्था मे भी ज्यों की त्यो रही इसलिए साम्यवादी व्यवस्था को पूंजीवादी व्यवस्था का ही जरा-सा बदला हुआ रूप कहा जा सकता है।

पूंजीवाद की मूल अवधारणाएं

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में पूंजी को शक्ति का स्रोत मानकर उसके अधिक से अधिक केन्द्रीकरण को लक्ष्य बनाया गया। धन का अधिक से अधिक संचय तभी हो सकता है जब अधिक से अधिक उत्पादन हो और अधिक से अधिक उत्पादन तब संभव है जब उद्योगों का तथा प्रौद्योगिकी का सतत विकास हो। किन्तु अधिक से अधिक उत्पादन की खपत के लिए लोगों मे अधिक से अधिक उपभोग की लालसा जगाना भी जरूरी है। उत्पादन की परिभाषा ही तुष्टिगुण के सृजन के रूप में की गई अर्थात् मनुष्य की आवश्यकताओं को तुष्ट करने की शक्ति के रूप में जिसका अर्थ था कि मनुष्य की आवश्यकताओ को निरन्तर बढ़ाया जाना जरूरी है ताकि निरंतर बढ़ता रहे और लाभ का भी अधिक से अधिक संचय

हो। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की बाइबिल एडम स्मिथ की पुस्तक 'दि वैल्थ आफ नेशन्स' को माना जाता है। इस पुस्तक में उत्पादन उसी कार्य को कहा गया है जिसके फल को भविष्य के उपयोग में (बाजार के माध्यम से) लाया जा सकता है। इसमें अर्थशास्त्री केयर्नक्रॉस के अनुसार "चर्च के लोगों, वकीलों, सभी प्रकार के लेखकों, अभिनेताओं, विदूषकों, ऑपेरा नर्तकों आदि कतिपय सम्मान्य और महत्त्वपूर्ण और कतिपय अत्यन्त नगण्य व्यवसायों को अनुत्पादक कह कर उपेक्षित कर दिया गया है क्योंकि इन सबका काम निष्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है।" हालांकि आगे के अर्थशास्त्रियों ने एडम स्मिथ की कई प्रस्थापनाओं में असहमति दर्ज की और उनमें कई सुधार किए गए, उनकी उत्पादन सम्बन्धी प्रस्थापना अपरिवर्तित रही और हाल के वर्षों में ही इस पर पुनर्विचार होने लगा है। स्मरणीय है कि साम्यवाद की उत्पादन सम्बन्धी अवधारणा और उसमें भी बड़े पैमाने के उत्पादन तथा उपभोग आदि की धारणाएं वही रहीं जो पूंजीवाद की थीं केवल सम्पत्ति और बाजार का स्वामित्व पूंजीपति वर्ग के स्थान पर सरकार के पास आया। इसके विपरीत गांधी ने पश्चिमी सभ्यता के स्थान पर एक नई सभ्यता की कल्पना रखी और इसलिए उन्होंने उत्पादन की इस परिभाषा को स्वीकार नहीं किया और कहा कि अपने लिए किया गया उत्पादन भी उत्पादन है (स्वावलम्बी जीवन) तथा उपभोग को सीमित करके सादगी और संयम का जीवन एक बेहतर आदर्श है। इसका मतलब है कि मार्क्स ने पूंजीवाद का विकल्प नहीं दिया किन्तु गांधी ने निश्चय ही एक विकल्प देने की कोशिश की।

राष्ट्रों की समृद्धि का माप

उत्पादन और उपभोग की धारणाओं की चर्चा इसलिए महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि इन्हीं धारणाओं के आधार पर पूंजीवाद में (और साम्यवाद में भी—कुल मिलाकर आधुनिक, पश्चिमी सभ्यता में) राष्ट्रों की समृद्धि और उन्नति को मापा गया। यह माप राष्ट्रीय आय कहलाता है और इसकी परिभाषा भी एडम स्मिथ से लेकर अब तक स्वयंसिद्ध तथ्य के रूप में स्वीकार की जाती रही है। राष्ट्रीय आय को तीन रूपों में पेश किया जाता है: (1) प्रत्येक व्यक्ति की आय के जोड़ के रूप में, (2) प्रत्येक व्यक्ति के उत्पादन के जोड़ के रूप में (अर्थात् उन सेवाओं और वस्तुओं का मूल्य जिनके उत्पादन के लिए लोगों को मुद्रा दी जाती है—अपने उपयोग के लिए किया गया वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन इसमें सम्मिलित नहीं होता) और (3) प्रत्येक व्यक्ति द्वारा खरीदी जाने वाली सभी वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य के जोड़ के रूप में (इसमें भी अपने उपयोग के लिए किया गया उत्पादन शामिल नहीं है)। दूसरे शब्दों में किसी देश का राष्ट्रीय उत्पादन, किसी अवधि में एक वर्ष में) उसके श्रम भूमि पूंजी

आदि उत्पादन कारकों के सम्मिलित उत्पादन का जोड़ है अथवा यह उन वस्तुओं और सेवाओं का मौद्रिक मूल्य है जो उस अवधि में प्रवाहित होती हैं और जिनका सामान्यतया मुद्रा से विनिमय होता है।

राष्ट्रीय आय की यह परिभाषा बहुत अनर्गल और मनमानी है इसलिए कि इसमे गैर-पूंजीवादी देशों में हजारो साल से चली आ रही अर्थ-प्रणाली को जिसमे अपने लिए किया गया उत्पादन भी उत्पादन माना जाता था, बिल्कुल नजर-अंदाज किया गया है। यदि उत्पादन को मुद्रा के मूल्य के बजाय उपभोग की शक्ति (तुष्टिगुण) से मापा जाए तो संभव है तथाकथित उन्नत देशो की आर्थिक स्थिति और भारत, चीन आदि तीसरी दुनिया के देशो की आर्थिक स्थिति मे बहुत अतर न रह जाए क्योंकि जो तुष्टि भारत में दस रुपये में प्राप्त की जा सकती है वही तुष्टि अमरीका और यूरोप के उन्नत देशों मे कम से कम तीस गुणा अधिक दाम पर (जैसे दस डालर पर) प्राप्त की जा सकती है।

मार्क्सवाद पूंजीवाद का विकल्प नहीं

ऐसा माना जाता है कि मार्क्स ने अर्थव्यवस्था मे एडम स्मिथ की प्रस्थापनाओं का विकल्प प्रस्तुत करने का प्रयास किया और समाजशास्त्र अथवा ऐतिहासिक विकास की व्याख्या में हीगेल को सिर के बल खड़ा किया। उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'पूंजी' एडम स्मिथ की प्रस्थापनाओं की समीक्षा के रूप में है और उनका महत्वपूर्ण सिद्धांत अतिरिक्त मूल्य का सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अंतर्गत उन्होंने सिद्ध किया कि श्रम के मूल्य का बहुत ही कम अंश श्रमिक को मजदूरी के रूप मे मिलता है और अतिरिक्त मूल्य पूजपति का लाभ बनकर, धन का चंद लोगो के हाथ मे केन्द्रीकरण करके मजदूर का निर्धनीकरण करता है। उन्होने कहा कि पूंजीवाद की यह विसंगति ही पूंजीवाद का नाश करेगी क्योंकि मजदूर के निर्धनीकरण की प्रक्रिया एक दिन ऐसे बिंदु पर पहुंच जाएगी जहां क्रांति फूटेगी और पूंजीपति वर्ग को धन-सम्पत्ति से वंचित कर दिया जाएगा। मार्क्स के इस सिद्धांत की बड़ी विसंगति यह थी कि उन्होंने जिस मजदूर वर्ग को सामने रखा वह औद्योगिक रूप से उन्नत देशों का मजदूर था, साम्राज्यवाद के शिकंजे में जकड़े तीसरी दुनिया के देशो के मजदूरों को उन्होंने नजरअंदाज किया। बावजूद 'दुनिया के मजदूरों एक हो जाओ' के नारे के वे यह कल्पना नहीं कर पाए कि औपनिवेशिक क्षेत्रों के मजदूरों के शोषण से उन्नत देशो के मजदूरों की स्थिति, निर्धनीकरण के बजाय, बेहतर होती जाएगी और यह समृद्ध मजदूर वर्ग क्रांति से विरक्त हो जाएगा। साम्यवादी क्रांति की विफलता का यह एक बड़ा कारण रहा। इस सिद्धांत के अलावा (जो उत्पादन सम्बन्धो को पुनर्व्याख्यायित करता है और जो विफल हुआ) मार्क्स ने पूंजीवाद के सारे साधनो को स्वीकार कर लिया जैसे बडे

उद्योगो से बड़े पैमाने का उत्पादन, उपभोगवाद, शक्ति का संचय और एकत्रीकरण (व्यक्ति के बजाय राज्य के हाथ में) आदि। अतः मार्क्सवाद या साम्यवाद को पूंजीवादी सभ्यता का विकल्प नहीं कहा जा सकता।

पश्चिमी लोकतंत्र की विसंगतियां

पूंजीवादी सभ्यता का राजनैतिक आदर्श लोकतंत्र कहलाया जिसमें स्वतंत्रता, समता और बंधुता के आध्यात्मिक मूल्यो को सामाजिक जीवन में लाने का लक्ष्य अपनाया गया। जैसाकि पीछे कहा गया ये आध्यात्मिक मूल्य नवजागरण काल की उपलब्धि थे और इनके साक्षात्कार का श्रेय अनेक लेखकों, कवियों और चिन्तकों को जाता है। सत्रहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिक डेकार्ट और इंग्लैंड के शिक्षा-शास्त्री लॉक से लेकर अठारहवीं शताब्दी के विचारकों, मोंटेस्क्यू, वाल्टेयर, रूसो, दिदरो, डेलम्बर्ट, तुर्गोट और अमरीका के थामस पेन आदि विचारकों तथा ब्रिटेन के शैली, बायरन आदि कवियो तक कितनी ही श्रेष्ठ प्रतिभाओं ने इन संकल्पनाओ का विकास किया था। औद्योगिक क्रांति ने इन महान और सुन्दर मूल्यों का बुर्जुआ हितों को आगे बढ़ाने में इस्तेमाल किया। इससे इन आदर्शों का व्यावहारिक स्वरूप अपने वास्तविक स्वरूप की तुलना में काफी भिन्न रहा। इस क्रांति को बुर्जुआ क्रांति कहा गया।

इंग्लैंड के बादशाह चार्ल्स प्रथम ने (जिसे फांसी दी गई थी) कभी स्वतंत्रता की मांग करने वालों के संदर्भ मे कहा था, "उनकी स्वतंत्रता इस बात में है कि उनकी सरकार हो न कि इस बात मे कि उनकी अपनी सरकार हो।" कुछ इसी तरह की तर्क-प्रणाली का उपयोग बुर्जुआ वर्ग ने स्वतंत्रता, समता और बंधुता के आदर्शों को अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लगाने के लिए किया। उदाहरण के लिए उसने भाषण की स्वतंत्रता और प्रेस की स्वतंत्रता पर जोर दिया क्योंकि प्रेस पर उसका कब्जा था। उसने सम्पत्ति के अधिकार पर जोर दिया क्योंकि वह अब विशाल सम्पत्ति का स्वामी बन चुका था। किन्तु उसने भूख और शोषण से स्वतंत्रता की व्यवस्था करने को जरूरी नही समझा। इसी तरह उसने सब को वोट का अधिकार देकर मान लिया कि समता स्थापित हो गयी किन्तु शोषण की प्रक्रिया के जारी रहते (जिसका भयानक उदाहरण औपनिवेशिक शोषण था) यह समता दिखावा मात्र थी। उनकी बंधुता भी इस्लाम की बंधुता की तरह थी अर्थात् 'अपने' लोगो के बीच बंधुता और जो 'अपने' नहीं थे उनके प्रति शत्रु-भाव। यह एशिया-अफ्रीका के देशों के लोगो के प्रति अब भी विद्यमान है। इस बुर्जुआ वर्ग की मानसिकता हिन्दू समाज के द्विज वर्णों की मानसिकता से मिलती-जुलती थी जिसके आदर्श तो बहुत खूबसूरत थे किन्तु व्यवहार अत्यन्त क्रूर था जैसे स्त्री-शूद्रों के प्रति व्यवहार।

सर्वहारा की क्रांति

मार्क्स और एंगेल्स ने बुर्जुआ क्रांति की इन विसंगतियो को देखा और उसके अगले चरण के रूप में सर्वहारा की क्रांति का विचार रखा। यह बात सर्वविदित है कि मार्क्स और एंगेल्स बुर्जुआ क्रांति से बहुत प्रभावित थे और लेनिन भी जर्मनी के तत्वज्ञान, अंग्रेजों के अर्थशास्त्र और फ्रांस के समाजवाद को मार्क्सवाद की विरासत मानते थे। सम्भवतः मार्क्स और ऐंगल्स समता, स्वतंत्रता और बंधुता के मूल्यों को पूर्णता तक ले जाना चाहते थे और इसके लिए उन्होने सारे विश्व मे शोषण-मुक्त समाज की कल्पना की। लेकिन उनकी शोषण की कल्पना केवल आर्थिक शोषण तक सीमित रही और जाति, नस्ल, लिंग आदि के आधार पर होने वाले शोषण की तरफ उनका ध्यान नही गया अथवा उन्होने इसे आर्थिक शोषण के आगे महत्व नही दिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने शोषण-मुक्त समाज के निर्माण के लिए सर्वहारा की तानाशाही का जो सिद्धात रखा, उसने स्वतंत्रता को गैर-जरूरी मूल्य बना दिया। उनकी बंधुता भी सर्वहारा वर्ग के भाईचारे तक सीमित रही और इतर वर्गों के प्रति घृणा, हिंसा और क्रूरता को भी उन्होंने जायज माना। इस प्रकार बुर्जुआ व्यवस्था में जहाँ बिना रोटी की आजादी का आह्वान था वहा साम्यवादी व्यवस्था में बिना आजादी की रोटी का आह्वान किया गया। इस साध्यगत भिन्नता को छोड़कर दोनो व्यवस्थाओं में साधनगत साम्यता थी।

वास्तव में पश्चिमी सभ्यता के स्वरूप-निर्धारण के लिए फ्रास-इग्लैड के दार्शनिकों और जर्मनी के दार्शनिकों के बीच जो तीव्र होड़ उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध से चली उसने तीन तरह की राज्य-व्यवस्थाओ को जन्म दिया। हीगेल ने मनुष्य की आध्यात्मिक उपलब्धि के सर्वोच्च प्रतीक के रूप मे राज्य की कल्पना की और उसे मनुष्य की तमाम आकांक्षाओं का स्रोत बनाया। यह डार्विन के सिद्धात के अनुसार शक्ति के केन्द्रीकरण का ही उपक्रम था। नीत्शे ने शक्तिशाली की चरम कल्पना 'सुपर रेस' के रूप में की और अन्य सबके जिंदा रहने के अधिकार पर प्रश्न-चिह्न लगाकर फासिस्वाद तथा नाजीवाद का मार्ग प्रशस्त किया। मार्क्स और ऐंगल्स ने इन दोनो के विपरीत सर्वहारा की क्राति की कल्पना रखकर शक्ति का केन्द्रीकरण मजदूर वर्ग मे किया और पूजीपतियों, सामतो के ही नही, किसानो के भी जिन्दा रहने के अधिकार को नकारा। इस प्रकार ये तीनों व्यवस्थाएं 'सर्वाइवल आफ दि फिटेस्ट' के मूल्य से प्रेरित थी अतः औद्योगिक सभ्यता की संतानें थी। उद्योगवाद, उपभोगवाद और प्रतियोगितावाद की समानता के कारण इनमे से कोई भी पश्चिमी सभ्यता से भिन्न नही थी।

विद्रोह के स्वर

किन्तु इस समूची व्यवस्था के खिलाफ जो अब तक पश्चिमी सभ्यता के नाम से जानी जाने लगी थी, एक तरफ से विद्रोह की आवाज उठ रही थी। यह आवाज आर्थोडक्स चर्च के देशों से उठ रही थी जिसका केन्द्र रूस था और जिसका पश्चिमी सभ्यता से पुराना बैर था।

रोम को ईसाई धर्म की प्रधान पीठ मानने वाले पश्चिमी यूरोप के रोमन कैथलिक देश और जर्मनी जैसे प्रोटेस्टेंट देश ईश्वर के साम्राज्य और धरती के साम्राज्य को अलग-अलग मानते थे। अधिकतर लोगों का यह विश्वास था कि ईश्वर का साम्राज्य इस दुनिया का नहीं है और ईसाई धर्म किसी राज्य का धर्म नहीं हो सकता। रोमन चर्च (ईसा के शब्दों के हवाले से) मानता था कि वह (रोमन चर्च) ईश्वर के साम्राज्य का प्रवेश-द्वार मात्र है। किन्तु येरुशलम, कस्तुनतुनिया (बाइजेंटाइन), एंटियाक और एलेक्जेंड्रिया के चर्च इस बात पर रोमन चर्च से सहमत नहीं थे। आगे चलकर कस्तुनतुनिया के आर्थोडक्स चर्च को ही महत्त्व मिला जिसका केन्द्र रूस बना। यहां के लोगों का विश्वास था कि धरती का साम्राज्य ईश्वर के साम्राज्य का ही रूप है और बादशाह (ज़ार) ईश्वर का प्रतिनिधि।

रूस में आर्थोडक्स चर्च से जुड़े कुछ लेखक पश्चिमी सभ्यता की विसंगतियों को अपने नजरिये से देख रहे थे। हालांकि यहां के अधिकांश बुद्धिजीवी पश्चिम की बुर्जुआ क्रांति से बहुत प्रभावित थे और वे ज़ारशाही के खिलाफ गुप्त आंदोलन भी चला रहे थे, दास्तोएव्स्की जैसे कुछ लेखक आर्थोडक्स चर्च के आध्यात्मिक मूल्यों के आधार पर पश्चिमी सभ्यता का विकल्प खोजने लगे थे। ध्यान में रखने वाली बात है कि उस समय रूसियों में पश्चिम-प्रेमी बड़ी संख्या में थे जो आज के हिंदुस्तानियों की तरह अपने बच्चों को विदेशी भाषा में तुतलाते देख गर्व महसूस करते थे। रूसियों में उस समय फ्रेंच बहुत लोकप्रिय थी। दास्तोएव्स्की जैसे लोगों को व्याज-स्तुति में स्लाव-प्रेमी कहा जाता था क्योंकि वे आर्थोडक्स चर्च की बुनियाद पर स्लाव-राष्ट्रवाद के हामी थे।

दास्तोएव्स्की और पश्चिमी सभ्यता

दास्तोएव्स्की की डायरी (दि डायरी आफ ए राइटर) में पश्चिमी सभ्यता के बारे में बहुत महत्वपूर्ण टिप्पणियां दर्ज हैं। एक स्थान पर दास्तोएव्स्की लिखते हैं : "पश्चिमी सभ्यता का नाश निश्चित है और रूस के ऊपर यह दायित्व आता है कि वह युरोप के प्रतियोगी राष्ट्रवाद के विग्रहों का समस्त मानव-जाति की नई विश्व-व्यवस्था से समाधान करे।"

फ्रांस के बारे में दास्तोएव्स्की ने लिखा कि रिपब्लिकन वहीं बुर्जुआ वर्ग के

लोग हैं जो पहली क्रांति के बाद उत्प्रवासियों तथा चर्च की सम्पत्ति को लूट-बेचकर धनी बने थे। अब यहां के आम तबके (डेमोस-सर्वहारा) भी सोचने लगे हैं कि वे भी लूटपाट करके अपनी स्थिति सुधार सकते हैं और उनके नेताओं (रिंग लीडरों) ने समाजवाद का जो विचार दिया है उसका मतलब यही है।

रूस की शक्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा : "रूस युरोप के किसी भी देश से अधिक शक्तिशाली होकर उभरेगा। युरोप की सभी बडी शक्तिया नष्ट हो जाएंगी क्योंकि वे अपने आम वर्गों (सर्वहारा) की असतुष्ट लोकतान्त्रिक आकांक्षाओं का भार नहीं सह पाएंगी। दूसरी ओर रूस मे ऐसा नही होगा क्योंकि यहां की आम जनता संतुष्ट है तथा आम मानसिकता अथवा आम सहमति के कारण यहां शांति बना रहेगा जिसके फलस्वरूप रूस ही एक विशाल शक्ति के रूप में उभरेगा।"

एक लेख में पश्चिमी सभ्यता (बुर्जुआ क्राति) पर विस्तार से विचार करते हुए दास्तोएव्स्की ने लिखा : "हमारी सदी में एक भयानक क्राति हुई और इसमे बुर्जुआ वर्ग विजयी हुआ। बुर्जुआ वर्ग के उदय के साथ-साथ वहा भयानक शहर बने जिनकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता था। इन शहरों मे आलीशान महल थे, अन्तर्राष्ट्रीय प्रदर्शनियां थीं, बैंक, बजट, प्रदूषित नदिया, रेलवे प्लेटफार्म और कई तरह की संस्थाएं थीं और इनके चारों ओर थे कारखाने। इस समय लोग एक तीसरे चरण की प्रतीक्षा कर रहे हैं जिसमे बुर्जुआ वर्ग का अन्त होगा, आम जनता जागेगी और वह नगरों में भूमि को कम्यूनों में वितरित करके बाग-बगीचो मे रहने लगेगी। बाग-बगीचे ही नई सभ्यता को लाएगे। इस प्रकार, सामंती युग के किलों की जगह शहरों ने ली और शहरो की जगह बाग-बगीचे लेंगे। यही सभ्यता के विकास की दिशा होगी।"

स्वतंत्रता, समता आदि के आदर्शों पर टिप्पणी करते हुए दास्तोएव्स्की ने लिखा : "रूस में स्वतंत्रता, समता और बधुता के सम्बन्ध में अलग धारणाओ का प्रचार किया जाना चाहिए। इस समय स्वतत्रता का अर्थ किया जाता है सब काम करने की छूट जबकि सच्ची स्वतत्रता अपने मन को जीतने मे है, अपनी इच्छा को जीतने में है ताकि आदमी एक ऐसी नैतिक स्थिति प्राप्त करे जिसमें वह विशेष क्षण मे अपने को अपना वास्तविक स्वामी कह सके। इच्छाओं के पीछे भागने की छूट से केवल गुलामी ही आ सकती है।"

"यही कारण है कि इस समय सारी दुनिया मे स्वतंत्रता को आर्थिक सुरक्षा मे और उसे सुनिश्चित करने वाले कानूनो मे देखा जा रहा है। 'मेरे पास पैसा है इसलिए मैं जो मरजी कर सकता हूं। चूंकि मेरे पास पैसा है अत. मैं खत्म होने वाला नहीं हूं, मुझे किसी की मदद की जरूरत नहीं और किसी की मदद की जरूरत न होना ही सर्वोत्तम स्वतंत्रता है।' किन्तु वस्तुतः यह स्वतत्रता नहीं है

बल्कि यह धन की गुलामी है। इसके विपरीत सर्वोच्च स्वतंत्रता धन को जमा करने मे नहीं और उसमें अपनी सुरक्षा मानने मे नहीं बल्कि अपनी सम्पत्ति को सब लोगो मे वितरित करने और सब की सेवा करने में है।"

दास्तोएव्स्की आर्थोडक्स चर्च को और उसके माध्यम से ईसा को सारी नैतिकताओं का मूल स्रोत मानते थे इसलिए उनका दृढ़ विश्वास था कि चर्च के आध्यात्मिक मूल्यों पर ही नई सभ्यता का निर्माण होगा। उन्होंने कहा कि "यूरोप की सभ्यता भौतिक सुखो के पुराने मानव देवता की विजय के अलावा कुछ नही है। यह विजय आध्यात्मिक सिद्धात (ईसाइयत) के ऊपर प्राप्त की गई जिसने कभी यूरोप की सारी मानव-जाति को प्रेरणा दी थी।"

कहने का मतलब है कि पश्चिमी सभ्यता (पूंजीवादी, आधुनिक और औद्योगिक सभ्यता भी) उन्नीसवीं शताब्दी में ही एक अधूरी या असफल सभ्यता के रूप में देखी जाने लगी थी। उसके लिए चुनौती मुख्य रूप से धर्म की ओर से, आर्थोडक्स चर्च की ओर से मिली। बीसवीं शताब्दी के शुरू में भारत में गांधी ने उसे चुनौती दी और गांधी की धार्मिक आस्था यद्यपि अटूट थी तथापि उनका धर्म किसी सम्प्रदाय तक सीमित नहीं था। उन्होंने नैतिकता के आधार पर पश्चिमी सभ्यता को चुनौती दी। स्मरणीय है कि न तो दास्तोएव्स्की ने और न गांधी ने पश्चिमी सभ्यता के आध्यात्मिक मूल्यों (स्वतंत्रता, समता और बंधुता) को अस्वीकार किया बल्कि दोनों ने इन मूल्यों को मानव की नैतिकता या धार्मिकता से जोड़कर उनको व्यापक संदर्भ में पेश किया। दास्तोएव्स्की ने मानव की स्वतंत्रता के सम्बन्ध मे जो कतिपय विचार प्रकट किए उनसे आगे चलकर अस्तित्ववाद की पृष्ठभूमि तैयार हुई और गांधी ने तो स्वतंत्रता की रक्षा के लिए अहिंसात्मक सत्याग्रह, सिविल नाफरमानी और 'करो या मरो' के हथियारों की ईजाद करके तथा स्वतंत्रता, समता और बंधुता की अविभाज्य संकल्पना देकर इसे ही अपनी कल्पना की नई सभ्यता का आधारभूत मूल्य बनाया। पश्चिमी सभ्यता का विरोध उन व्यावहारिक मूल्यों के सम्बन्ध मे हुआ जो इसके औद्योगिक सभ्यता होने के कारण विकसित हुए थे जैसे यंत्रवाद, उपभोगवाद, प्रतियोगितावाद आदि। अमरीका के संत थोरो और रूस के संत लेखक तालस्ताय की परंपरा में गांधी ने पश्चिमी सभ्यता के इन मूल्यों को नकारा।

गांधी की चुनौती

गांधी जी ने बीसवी सदी के शुरू मे (1909) 'हिन्द स्वराज' पुस्तक लिखकर न केवल भारत के संदर्भ मे बल्कि सारे विश्व के संदर्भ मे एक नई सभ्यता की कल्पना रखी। वे पश्चिमी सभ्यता को मशीनी सभ्यता मानते थे और उसकी अनेक मूलभूत [illegible] से उनकी असहमति थी पश्चिमी सभ्यता का आर्थिक

ढाचा (जिसे हमने भी अपनाया) विशेषीकृत उत्पादन पद्धति पर आधारित था अर्थात् एक इलाका एक ही वस्तु का विशेष उत्पादन करे और उसे बाजार मे बेचकर प्राप्त मुद्रा से अपनी अन्य जरूरत की वस्तुए खरीदे। गांधी जी ने आत्म-निर्भर ग्राम की कल्पना की। ऐसी इकाई जो अपनी जरूरत की सारी चीजें पैदा करे। दूसरे शब्दों मे पश्चिमी अर्थ-व्यवस्था की उत्पादन-धारणा बाजार-मूलक थी अर्थात् उत्पादन वही है जो बाजार के लिए किया जाए। इस सिद्धांत के अनुसार अपने लिए किया गया उत्पादन, उत्पादन नही है। गाधी जी ने कहा अपने लिए किया गया उत्पादन भी उत्पादन है।

मानव और प्रकृति के बीच प्रतिस्पर्धात्मक एव शत्रुतापूर्ण द्वंद्व पश्चिमी सभ्यता की एक और प्रमुख विशेषता है। गाधी जी ने इसके विपरीत मानव और प्रकृति के बीच समन्वय तथा सौहार्दपूर्ण संबंध की कल्पना की।

पश्चिमी सभ्यता डार्विन के 'सर्वाइवल आफ दि फिटेस्ट' के सिद्धांत को लेकर चली और उसने शक्तिशाली के जिंदा रहने के अधिकार को अपना मूल्य बनाया। गांधी जी ने इसके ठीक विपरीत दरिद्रनारायण की कल्पना रखी और सबसे कमजोर के जिंदा रहने के अधिकार को न केवल प्रस्थापित किया बल्कि उसके लिए अहिंसात्मक सत्याग्रह के हथियार की ईजाद करके निर्बल की निर्बलता को महान शक्ति मे बदल दिया। मानव-विकास की हर योजना की उपयोगिता निर्धारित करने के लिए उन्होंने कसौटी रखी कि योजना से सबसे नीचे बैठे निर्धन-कमजोर व्यक्ति को कितना फायदा होगा। उन्होंने राष्ट्रीय आय या राष्ट्रीय उत्पादन के मनमाने सूचकों को विकास की कसौटी मानने के बजाय निम्नतम स्तर की स्थिति को विकास का मापदंड बनाया।

पश्चिमी सभ्यता ने मानव की मशीन के रूप मे कल्पना की, ऐसी मशीन जिसे किसी एक स्थान से नियंत्रित किया जा सकता है। न्यूटन के सिद्धातो पर मानव-मन का नियत्रण और सचालन करने वाली पश्चिमी सभ्यता ने गाधी के मन मे इतनी अरुचि पैदा की कि उन्होने मशीन का ही बहिष्कार किया और मानव के श्रम को धार्मिक पवित्रता प्रदान की। अपनी शिक्षा की कल्पना मे उन्होंने श्रम को उबाऊ मशीनी क्रिया से मुक्त करके उसके साथ सृजन का सुख जोड़ दिया और इस प्रकार मानव-श्रम को मानव-सृजन बना दिया।

पश्चिमी सभ्यता का सबसे बडा और सबसे आकर्षक मूल्य था उपभोगवाद जिसे सतत बढ़ता जीवन-स्तर भी कहा जा सकता है। मानव की जरूरतें जितनी बढ़ती जाएंगी मानव उतना ही विकास करता जाएगा, पश्चिमी सभ्यता के इस मूल्य के विपरीत गांधी ने संयम और सादगी का मूल्य रखा। अपनी जरूरतें कम करके पैसे और सम्पत्ति तथा भौतिक सुख-सुविधाओ के मोह से अपने को मुक्त रखना, इसे गाधी जी ने आदर्श जीवन बनाया और वे आजीवन इसी आदर्श को

अपना कर चले। किंतु गांधी जी का इस सभ्यता के आध्यात्मिक लक्ष्यों के साथ कोई विरोध नही था। वास्तव में उन्होंने इन लक्ष्यों को परिमार्जित किया, उन्हें और पैना तथा सहजगम्य बनाया। मिसाल के तौर पर प्राचीन भारतीय सभ्यता मे ये मूल्य या इनका एकीकृत रूप मोक्ष, एक वायवी लक्ष्य ही था। चौरासी लाख योनियों मे भटकने के बाद ही जन्म-मरण की शृंखला से मुक्ति मिल सकती थी। कौन जानता है कि मनुष्य मरने के बाद दूसरी योनि मे जन्म लेता है या नही। मरने के बाद कुछ बचा भी रहता है या नही जो दूसरी योनि में जाता है। एक विश्वास मात्र ही तो था और वह भी सिर्फ भारत के लोगों का। दुनिया के अधिकाश समाजो में यह विश्वास भी नही था। इस्लाम, ईसाई, यहूदी धर्मों मे तो माना जाता था कि मरने के बाद अनत काल तक मृत शरीर का अस्तित्व केवल कब्र के मिट्टी-पत्थरों के रूप मे रहता है और सृष्टि के अंतिम दिन सब आत्माएं ईश्वर के सामने जाती है। यह अंतिम दिन भी महज विश्वास है, किसी ने यह दिन देखा नही। कहने का मतलब प्राचीन हिन्दू समाज मे (तथा अन्य प्राचीन समाजों मे भी) सभ्यता का आध्यात्मिक या दूरगामी लक्ष्य (मोक्ष, स्वर्ग, जन्नत, या वर्गहीन समाज आदि) इस दुनिया की, इस जीवन की चीज नही थी और गालिब के शब्दो मे यह दिल बहलाने का खूबसूरत ख्याल था।

गांधी ने इन वायवी मूल्यो को इस जीवन की, इस लोक की चीज बनाया, कम से कम एक मूल्य स्वतंत्रता को उन्होंने इस ढंग से अपने जीवन मे व्याख्यायित किया कि वह हर आदमी के लिए इस जीवन की सबसे कीमती चीज बन गई जिसके लिए प्राणो का उत्सर्ग भी बहुत मामूली बात थी। पश्चिमी सभ्यता की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि तैयार करने वाले दार्शनिकों-लेखकों ने भी स्वतंत्रता आदि को इस जीवन की चीज कहा लेकिन उस सभ्यता का जो ढाचा तैयार हुआ उसमे इन मूल्यों को बहुत सीमित अर्थ मे लिया गया बल्कि उन्हें विकृत किया गया। उदाहरण के लिए उसकी स्वतंत्रता व्यवहार मे बुर्जुआ वर्ग की स्वतंत्रता ही रही जैसे सम्पत्ति की स्वतंत्रता और भाषण-प्रेस आदि की स्वतंत्रता लेकिन भूख और शोषण से स्वतंत्रता नही। उसकी सहोदर-व्यवस्था, साम्यवाद में स्वतंत्रता का अधिकार सिर्फ सर्वहारा वर्ग को रहा। समता और बंधुता की धारणाएं भी वहा बहुत संकीर्ण रही जिसके फलस्वरूप वहां औपनिवेशिक शोषण, गोरे-काले का भेद, अपने से भिन्न दूसरे मानव-समाजों को असभ्य, जंगली, अछूत मानने के दुराग्रह बने रहे। लेकिन गांधी ने अपने जीवन से सिद्ध कर दिया कि स्वतंत्रता इस जीवन का सबसे बड़ा आदर्श और सबसे बड़ी उपलब्धि है। यह प्रत्येक मनुष्य का जन्मजात अधिकार है, सिर्फ बुर्जुआ वर्ग या सिर्फ सर्वहारा वर्ग का नही।

गांधी जी ने सत्य और अहिंसा के जीवन को अपनाया। इन दोनो शब्दों का उनके लिए एक ही अस्तित्व था। अहिंसा के बिना सत्य की और सत्य के बिना

अहिंसा की वे कल्पना ही नहीं कर सकते थे। उन्होंने अपने जीवन को सत्य के प्रयोग कहा और उनका सत्य था आजादी जिसके लिए उन्होंने सारा जीवन सत्य-अहिंसापूर्ण सत्याग्रही के रूप में बिताया। इस सत्य (आजादी) को पाने के लिए उन्होंने अहिंसा की शर्त के साथ असहयोग, सविनय अवज्ञा और 'करो या मरो' के कार्यक्रम दिए और उन पर एक-दो को नहीं, करोड़ों लोगों को चलना सिखाया। अपने देश में ही नहीं, सुदूर प्रदेशों में भी जहां गांधीजी कभी गए भी नहीं और उनकी मृत्यु के बाद भी लोग आजादी को इस जिंदगी की सबसे कीमती चीज के रूप में सहेजने के लिए खुशी-खुशी अपने प्राणों का बलिदान करने के लिए तैयार होते रहे जैसे, मार्टिन लूथर किंग के नेतृत्व में अमरीका के अश्वेत, थ्यान आनमन चौराहे पर एकत्रित चीनी छात्र या मास्को की सड़कों पर सेना के हथियारों के सामने छाती तान कर खड़ी होने वाली जनता।

पश्चिमी सभ्यता के मूल्यों को चुनौती ईसाई धर्म की नैतिकता के आधार पर भी दी गई थी। किंतु गांधी जी द्वारा पश्चिमी सभ्यता को दी गई चुनौती किसी एक धर्म के आधार पर नहीं थी नैतिकता के आधार पर दी थी। लेकिन उन्होंने नैतिकता का स्रोत ईसाई महात्माओं-संतों की तरह ईश्वर को नहीं, आजादी को माना। 'ईश्वर सत्य है' कहने के बजाय उन्होंने 'सत्य ही ईश्वर है' कहा। इसका मतलब था कि जिसने सत्य को पा लिया (और आजादी उनका सबसे बड़ा सत्य था) उसने ईश्वर को पा लिया। यह एक असाधारण प्रस्थापना थी।

सुकरात आदि ग्रीक दार्शनिकों से लेकर ही सत्य, शिव और सुन्दर के मूल स्रोत की खोज के प्रयत्न हो रहे थे। साहित्य और कलाओं के मूल के रूप में इन तीन मूल्यों पर लम्बी बहस होती रही लेकिन इन मूल्यों का मूल स्रोत क्या है इसके बारे में काफी विवाद बना रहा। कुल मिलाकर एक सर्वोच्च सत्ता, ईश्वर, खुदा, ब्रह्म आदि को इनका मूल स्रोत माना जाता रहा। इस मायने में हिंदू, ईसाई, यहूदी आदि तमाम समाजों की दृष्टि एक-सी थी। लेकिन गांधी ने असाधारण बात कही। उन्होंने सत्य को स्वतंत्रता का फल कहा। शायद वे शिव और सुन्दर को भी स्वतंत्रता से निकले हुए मूल्य मानते थे हालांकि इस तरह की बहस का उन्हें, ऐसा लगता है, मौका नहीं मिला। शायद डॉ० भीमराव आंबेडकर से पूछा जाता कि वे सत्य, शिव और सुन्दर किसे कहेंगे तो वे कहते जो समता का बोध कराए वही सत्य, शिव और सुन्दर है और डॉ० राममनोहर लोहिया से पूछा जाता कि वे सत्य, शिव और सुन्दर किसे कहेंगे तो वे स्वतंत्रता, समता और बंधुता का अहसास कराने वाले कर्म को सत्य, शिव और सुन्दर कहते। गांधी ने एक सूत्र दिया और आंबेडकर तथा राममनोहर लोहिया ने उसका विकास किया। इस प्रकार गांधी की प्रेरणा से आध्यात्मिकता की एक नई परिभाषा सामने आई जिसके अनुसार सत्य, शिव और सुन्दर को आध्यात्मिक एवं

कलात्मक उपलब्धियों का स्रोत कोई कल्पित सत्ता नहीं, स्वतन्त्रता, समता और बंधुता की ऐहिक और वास्तविक आकांक्षाएं हैं।

गांधी की बातों को समझने में आज भी लोगों को बहुत कठिनाई पेश आती है। वे अपने समय से बहुत आगे के व्यक्ति थे। 1909 में 'हिन्द स्वराज' लिखकर जब उन्होंने मानव-सभ्यता के सम्बन्ध में अपनी कल्पना सर्वप्रथम रखी तब से लेकर ही उनके समकालीन उन्हें समझने में असमर्थ रहे हैं। असहयोग आंदोलन के दिनों में गुरुदेव रवीन्द्र जैसे संवेदनशील और प्रतिभाशाली व्यक्ति ने भी गांधी जी से लम्बी बहस चलाई थी और उनसे असहमति व्यक्त की थी। गांधीजी के प्रशंसक महान लेखक और संत रोमां रोलां भी एक बार गांधी की बात सुनकर धक रह गए थे। गोलमेज सम्मेलन की यात्रा के दौरान वे रोमां रोलां के मेहमान बने और चर्चा के दौरान जब गांधी जी ने सविनय अवज्ञा के कार्यक्रम की व्याख्या करते हुए कहा कि अपनी सरकार के खिलाफ भी इस अधिकार का उपयोग किया जाना चाहिए तो रोमां रोलां चकित रह गये। उनके पट्ट शिष्य नेहरू-पटेल ने तो स्वाधीनता के कुछ दिन पहले उन्हें अव्यावहारिक कहकर दरकिनार ही कर दिया था। ब्रिटिश सरकार उन्हें दुश्मन नंबर एक मानती रही हालांकि गांधी के मन में किसी के प्रति शत्रुता का भाव नहीं था। क्षुद्र, सतही सोच वाले लोग तो उन्हें ढोंगी, पाखंडी आदि विशेषण भी देते रहे। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, गांधी अधिकाधिक प्रासंगिक होते गए और आज नई सभ्यता की तलाश करने वाले विचारकों की नजरें गांधी पर लगी हुई हैं।

लोगों को सबसे अधिक कठिनाई उनकी अहिंसा को समझने में होती है। प्राकृतिक जीवन में प्राणी एक-दूसरे का खाद्य बनते हैं। मानव-सभ्यताएं अब तक पाशविक बल से अनुशासित रही हैं। शस्त्र-बल के बिना शासन-व्यवस्था की कल्पना ही कोई नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में मानव-जीवन के हर कार्य-कलाप में अहिंसा के प्रयोग को महज सनक ही कहा जा सकता है। किन्तु गांधी जी को विश्वास था कि ऐसी व्यवस्था संभव है।

उनकी अहिंसा, मुंह पर कपड़ा बांध कर चलने वाले जैन साधुओं की अहिंसा नहीं थी और न 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' कहने वाले हिन्दुओं की अहिंसा थी। उनकी अहिंसा दसलक्षणी धर्म के सर्वोत्तम मूल्य अक्रोध से उत्पन्न मूल्य था जिसमें शत्रुता का पूर्ण निषेध था। गांधी की दृष्टि से यह एक महान नैतिक मूल्य था क्योंकि अपने प्रतिद्वन्द्वी को हिंसा द्वारा हटाना मानव की सबसे बड़ी पराजय है। मानव का प्रयास प्रतिद्वन्द्वी को जीतने, उसे अपना बनाने को लक्ष्य बनाता है। यदि ऐसा करने के बजाय उसका नाश होता है तो यह मानव की पराजय है। यह एक तरह से अपनी महबूबा की हत्या करने जैसा कुकर्म है। धृति (सहनशीलता), क्षमा, दम (संयम) अस्तेय (पराई वस्तु को अपना न), शौच (शरीर और मन की

शुद्धि), इन्द्रिय-निग्रह (लालसाओं पर नियंत्रण), धीः (बुद्धि की उपासना), विद्या-व्यसन, सत्य और अक्रोध (सत्य-अहिंसा) धर्म के इन दस लक्षणों को गांधी जी ने अपने जीवन में उतारा। इस दृष्टि से वे परम धार्मिक व्यक्ति थे। लेकिन उनकी हत्या ऐसे 'धार्मिक' लोगों के कारण हुई जिनमें धर्म के दस लक्षणों में से एक भी लक्षण नहीं था।

सार्त्र और लोहिया का योगदान

अब तक दास्तोएव्स्की और गांधी आदि ने धर्म अथवा नैतिकता के आधार पर पश्चिमी सभ्यता को चुनौती दी थी। अभी तक इस सभ्यता को ठोस दार्शनिक और समाजशास्त्रीय आधार पर चुनौती नहीं मिली थी। यह चुनौती फ्रांस के अस्तित्ववादी दार्शनिकों विशेषकर ज्यां पाल सार्त्र और भारत के राजनैतिक चिंतक डॉ० राममनोहर लोहिया ने प्रस्तुत की। वे अनीश्वरवादी थे और उन्होंने अपने दार्शनिक विवेचन में ईश्वर का सहारा नहीं लिया बल्कि स्वतंत्रता, समता और बंधुता को मनुष्य की जन्मजात नैसर्गिक आकांक्षाएं मानकर इन्हें ही तमाम नैतिकताओं का मूल स्रोत बताया, हालांकि इस मूल स्रोत का प्रथम संकेत गांधी ने सत्य को ईश्वर कह कर दिया था। सार्त्र का प्रमुख कार्यक्षेत्र साहित्य था और लोहिया का राजनीति। सार्त्र तथा अन्य अस्तित्ववादी लेखकों ने स्वतंत्रता, समता और बंधुता के अपने अधिकारों की रक्षा को ही सही जीना कहा। हालांकि उनका संघर्ष अधिकतर स्वतंत्रता के संघर्ष तक सीमित रहा, सार्त्र ने समता और बंधुता पर भी चिन्तन किया यद्यपि उसके व्यावहारिक प्रयोग के लिए उन्होंने कोई कार्यक्रम नहीं दिया जैसाकि स्वतंत्रता के व्यवहारिक प्रयोग के लिए उन्होंने विरोध (रिजिस्टेंस) और विद्रोह को सही जीवन की अनिवार्य गतिविधि बनाया। इससे पहले महात्मा गांधी भी सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा और 'करो या मरो' के रूप में इसकी प्रस्थापना कर चुके थे। अस्तित्ववादी लेखकों का एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह है कि उन्होंने मन के यंत्र की तरह नियंत्रणीय होने के मिथ को तोड़ दिया, यह कह कर कि मन परिस्थितियों का दास नहीं है, वह परिस्थितियों को बदल सकता है। दास्तोएव्स्की ने एक बार कहा था कि हमारा मूल्यांकन हमारे वर्तमान से नहीं हमारे इरादों से किया जाना चाहिए। अस्तित्ववादियों ने इसे सिद्धांत का रूप दिया और कहा कि मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ कर्म (सृजन) उसके अतीत और वर्तमान की स्वाभाविक परिणति नहीं उसकी स्वतंत्र इच्छा का परिणाम है। स्मरणीय है कि औद्योगिक सभ्यता (साम्यवादी रूप सहित) यह मान कर चल रही थी कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है और ईश्वर को सर्वोच्च शक्ति मानने वाले भी कहते थे कि मनुष्य वही करता है जो ईश्वर उससे कराता है। किन्तु अस्तित्ववादियों ने इन दोनों दृष्टियों

से हटकर यह विचार दिया कि मनुष्य स्वयं कर्ता है। डॉ० लोहिया ने भी मनुष्य के स्वतंत्र एवं निराश कर्म को उसका सर्वश्रेष्ठ कर्म (सृजन) कहा।

डॉ० राममनोहर लोहिया ने 1951 में अपनी अमरीका यात्रा के दौरान यह घोषणा की थी कि पूंजीवादी या पश्चिमी सभ्यता, जिसकी चरमसीमा अमरीकी सभ्यता है, मर चुकी है और यह पचास-एक साल तक नाश के रूप में घिसटती रह सकती है। उनका कहना था कि सभ्यताएं आंशिक क्षमता को पूर्ण क्षमता मानकर आंशिक क्षमता की दिशा में ही अंधाधुंध बढ़ती जाती है और फिर उनके बोझ से डायनासोरों की तरह खुद ही नष्ट हो जाती है। पश्चिमी सभ्यता के बारे में उन्होंने कहा कि यह सभ्यता सतत बढ़ने उपभोग, सतत विकासशील प्रौद्योगिकी और सतत बढ़ते रहन-सहन के स्तर के भौतिक लक्ष्यों की ओर अंधाधुंध बढ़ी और इसने मानव-मन को सुंदर, स्वस्थ एवं सृजन-शील बनाने वाले स्वतंत्रता, समता, बंधुता आदि आध्यात्मिक लक्ष्यों को नजर-अंदाज किया जिसके फलस्वरूप अब वह भौतिकता के भार से ही नष्ट होती जाती है।

डॉ० लोहिया ने नई सभ्यता की रूपरेखा प्रस्तुत नहीं की किन्तु उन्होंने कई बार यह विश्वास व्यक्त किया कि इस नई सभ्यता का जो भी स्वरूप होगा उसके निर्माण में तीसरी दुनिया के देशों का महत्वपूर्ण योगदान होगा। इसका कारण वे बताते थे कि पश्चिमी समाज रहन-सहन के जिन तौर-तरीकों का आदी हो गया है उनमे परिवर्तन करना खुद पश्चिमी समाज के लिए बहुत कठिन होगा। नई सभ्यता के लिए वे एक तरफ गांधी की स्वतंत्रता और स्वावलम्बन की धारणाओं को बहुत महत्वपूर्ण मानते थे और दूसरी तरफ वे विशेष अवसरों के सिद्धान्त द्वारा सम्भव समता की स्थापना और विश्व पंचायत की कल्पना द्वारा बंधुता का व्यावहारिक प्रयोग करना चाहते थे। सम्पत्ति के उन्मूलन के बजाय वे सम्पत्ति के मोह का उन्मूलन करना चाहते थे। रहन-सहन के सतत बढ़ते स्तर के स्थान पर वे सबके लिए सम्मानजनक जीवन-स्तर को लक्ष्य बनाना चाहते थे। विनाशकारी हथियारों की शक्ति को वे सत्याग्रह और सिविल नाफरमानी की अहिंसक शक्ति से अनुशासित करना चाहते थे और ऐसा समाज बनाना चाहते थे जिसमें स्वतंत्रता, समता और बंधुता के लक्ष्यों को 'यथासंभव' मात्रा में प्राप्त करने की सुविधा हो। उनके मन में मानव-सभ्यता की ऐसी कल्पना थी जिसमें विश्व के सारे देश और आबादी के सारे तबके समता के स्तर पर विकास कर सकें, जिसमे समाज और विश्व के एक हिस्से का उत्थान दूसरे हिस्से के पतन का कारण न बने, जिसमे आदमी की मूल उपनिष्ठाओं का दमन न हो बल्कि उत्तरोत्तर बड़ी निष्ठा की ओर उनका उदात्तीकरण हो, जिसमें समाज के भौतिक लक्ष्य आध्यात्मिक लक्ष्यों की ओर बढ़ा कदम हों और लक्ष्य भौतिक लक्ष्यों से बिल्कुल

दूर, पहुंच के बाहर न हो, जिसका अंतिम लक्ष्य कोई ऐसा स्वर्ग, ऐसी जन्नत, ऐसा आदर्श समाज न हो जिसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य को हिंसक, क्रूर अमानव बनना पड़े, जिसमें किसी भी तरह की जाति-व्यवस्था अथवा जन्म, रंग, नस्ल, सेक्स आदि के आधार पर भेदभाव करने वाली व्यवस्था न हो और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को स्वतंत्रता, समता और बंधुता के अपने जन्मसिद्ध अधिकारों को भोगने की सुविधा मिले।

आधुनिकता का अन्त

पश्चिमी सभ्यता को एक बड़ा झटका वियतनाम युद्ध में अमरीका की पराजय से लगा। अब तक आमतौर पर पूंजीवाद को अपराजेय शक्ति माना जाता था। इस घटना के बाद युरोपीय देशों में नया विचार-मंथन हुआ और लोगों ने महसूस किया कि मनुष्य ऐतिहासिक शक्तियों का निष्क्रिय औजार नहीं है, वह खुद भी अपने जीवन की परिस्थितियों में गुणात्मक परिवर्तन ला सकता है। इस आंदोलन ने लेनिनवाद की इस धारणा को भी तोड़ा कि पूंजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत कुछ भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता और हम केवल पूंजीवाद को विस्थापित करने वाला संगठन बना सकते हैं। 1968-69 के छात्र-मजदूर आंदोलनों ने युरोप की (तथा कुछ हद तक विश्व की) फिजा को बदला। यह विचार उठा कि केवल मजदूरों को क्रांति का हरावल दस्ता मानने का कोई औचित्य नहीं है और हर क्षेत्र में काम करने वाले स्त्री-पुरुष क्रांति में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। स्त्रियों द्वारा घर के काम और बच्चों की देखभाल को भी कारखाना मजदूरों के श्रम की तरह उत्पादक श्रम माना जाने लगा। इससे पूंजीवादी व्यवस्था की उत्पादन संबंधी धारणा टूट गई। एक तरफ पूंजीवादी देशों की शोषणवादी नीतियों, युद्ध की विभीषिका तथा मनुष्य की आत्मा को कुचलने वाली, प्रदर्शन, फैशन, मास कल्चर, उपभोगवाद की पैतृक दुनिया के प्रति युवा पीढ़ी में तीव्र विरक्ति पैदा हुई, दूसरी तरफ साम्यवाद की कुछ बंधी-बंधाई धारणाएं भी टूटीं तथा उससे मोहभंग हुआ। इस हलचल को आधुनिकोत्तर हलचल का नाम दिया जाने लगा। संभवतः लोगों को महसूस हुआ कि आधुनिक सभ्यता का स्थान एक नई सभ्यता लेने जा रही है। इस आधुनिकोत्तर हलचल को दक्षिणपंथी और वामपंथी बुद्धिजीवियों ने अपने-अपने चश्मे से देखना शुरू किया लेकिन इसका स्वरूप गोरखधंधे की तरह उलझा था। किसी ने इस घटना को जनवाद का उभार कहा, किसी ने पूंजीवाद का नया अध्याय। वास्तव में यह घटना पूंजीवाद और साम्यवाद दोनों की मूल धारणाओं को ध्वस्त करने वाली थी। इसने साम्यवादी क्रांति की अनेक धारणाओं के लिए चुनौती प्रस्तुत की और पूंजीवाद के सबसे बड़े मूल्यों, उपभोगवाद प्रतियोगितावाद और शक्तिवाद की व्यर्थता सिद्ध की। साम्यवादी

देशों मे सर्वहारा की क्रांति के नाम पर स्वतंत्रता के दमन के खिलाफ विरोध के स्वर उठे और पूंजीवादी देशों में सतत विकासशील प्रौद्योगिकी से होने वाले पर्यावरण-विनाश की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ। उन्होंने विकास तथा उपभोग की संकल्पनाओं पर पुनर्विचार करना शुरू किया। जार्ज कनन जैसे लेखकों ने पर्यावरण-विनाश के खतरों का भयानक चित्र प्रस्तुत करते हुए ('क्लाउड्ज़ आफ डेंजर' में) शहरीकरण और औद्योगीकरण को त्यागने और गांधी जी की विकास-सम्बन्धी कल्पना को अपनाने का सुझाव दिया। एल्विन टॉफलर ने 'फ्यूचर शॉक' और 'थर्ड वेव' लिखकर पूंजीवादी सभ्यता के लगभग सभी मूल्यों को अधूरा सिद्ध करके नई सभ्यता की रूपरेखा रखी जो काफी हद तक गांधी-साहित्य की कल्पना से मिलती थी। उदाहरण के लिए उन्होंने आधुनिक सभ्यता के मूल्यों—मानकीकरण, विशेषीकरण, केंद्रीकरण, एकत्रीकरण, शहरीकरण, समकालिकता आदि—के विपरीत नई सभ्यता में कल्पना की कि इसमें "वस्तुओं और व्यक्तियों को एक ही सांचे में ढालने की प्रवृत्ति नहीं होगी, उत्पादक-उपभोक्ता का पार्थक्य नहीं होगा (अर्थात् अपने लिए किया गया उत्पादन भी उत्पादन होगा), आबादी का शहरों में एकत्रीकरण के बजाय ग्रामों में छितराव होगा, मशीन मनुष्य के कार्य-कलापों की गति निर्धारित नहीं करेगी, बड़े पैमाने के उत्पादन के बजाय छोटे पैमाने के उत्पादन और केंद्रीकरण के बजाय विकेन्द्रीकरण पर ज़ोर दिया जाएगा।" उनके शब्दों में "यह एक तरह से पुरानी सभ्यता की तरफ वापस आने जैसा होगा। श्रम की बचत करने वाली टेक्नोलाजी के स्थान पर कम पूंजी, कम ऊर्जा, निम्न कौशल वाली श्रम-प्रधान टेक्नोलाजी को प्रोत्साहन मिलेगा। यह टेक्नोलाजी दराती और कंबाइन हार्वेस्टर के बीच की चीज़ होगी।"

विश्व इन परिवर्तनों को भली-भांति समझ नहीं पा रहा था। पूंजीवादी और साम्यवादी देश इन्हें हैरत और अबूझ पहेली के रूप में देख ही रहे थे कि तभी साम्यवादी विश्व में भूचाल आया और सत्तर साल पुराना मजबूत किला भरभरा कर गिर गया। लोगों ने इसे पूंजीवाद की जीत कहा (भारत के वामपंथियों ने इसे पूंजीवाद की साजिश मात्र कहा)। लेकिन यह वास्तव में उपभोगवाद के राक्षस के तांडव का पहला झटका था और पश्चिमी सभ्यता के विनाश का संकेत था। दूसरे विश्व-युद्ध के बाद के समृद्धि के दौर में उपभोगवादी संस्कृति का जो उफान उठा था उसने युरोप-अमरीका के लोगों को ही नहीं, साम्यवादी देशों के लोगों को भी प्रभावित किया। इसी उपभोग-लालसा ने सोवियत संघ में पेरेस्त्रोइका और ग्लासनोस्त को आमंत्रित किया और फिर कुछ नेताओं की जल्दबाजी के कारण सोवियत संघ ही टूट गया। लेकिन साम्यवाद के महल के ढहने के साथ-साथ पूंजीवाद या पश्चिमी सभ्यता की नींव में भी दरारें पड़ गईं क्योंकि साम्यवाद भ्रतत इसी का हिस्सा था और इस सभ्यता का सबसे बड़ा देवता उप

भोगवाद (जिसे दास्तोएव्स्की ने 'फ्लेश गॉड' कहा था), भस्मासुर बन गया था।

साम्यवादी दीवार के टूटने से पश्चिमी देशों की आबादी में जो उथल-पुथल हुई उसने वहां के उपभोग-सुख की कटौती का खतरा पैदा किया। फलस्वरूप वहां जातीय और नस्लीय द्वेष बढ़ा और दंगों की आग भड़की। पूर्वी युरोप के देशों में भी साम्यवाद के टूटने से लोगों की संकीर्ण अस्मिताएं प्रबल हुई। वैसे उपभोग-सुखों के असमान वितरण ने सारे विश्व में संकीर्ण अस्मिताओं को जगाया है और इनके संघर्ष वर्तमान सभ्यता के लिए सबसे बड़ा खतरा बन गए हैं। इस खतरे का मुकाबला करने के लिए और अधिक उपभोग-सुखों के निर्माण की ओर यह सभ्यता अग्रसर है। पूंजीवादी समृद्ध देश अपने उपभोग-स्तर को बनाए रखने के उद्देश्य से अपने उपभोक्ता माल के लिए भारत और चीन जैसे बड़े बाजारों को लेकर होड़ कर रहे हैं और भारत, चीन तथा तीसरी दुनिया के अन्य देश उपभोगवादी संस्कृति का दास बनने के लिए उतावले हो रहे हैं। हम सब एक गहरी खंदक की ओर बढ़ रहे हैं।

पूंजीवाद का अंतिम मोर्चा

बुझने से पहले दीये की लौ एक बार तेजी से भड़कती है। सभ्यताएं भी नष्ट होने से पहले एक बार अपना पूरा जलवा दिखाती हैं। पश्चिमी सभ्यता की लौ भी इस समय अत्यन्त प्रदीप्त दीख रही है। डंकेल प्रस्ताव (विश्व व्यापार संगठन) इसी का एक लक्षण है।

साठ के दशक के अंतिम वर्षों में युरोपीय देशों में छात्र-मजदूर आंदोलन के रूप में जो बवंडर उठा था उसने साम्यवाद और पूंजीवाद दोनों को निरर्थक मानकर एक नए युग के लिए जमीन तैयार की। उसने पूंजीवाद को अपनी तमाम शक्तियां बटोर कर अपने ढहते हुए किले को बचाने की युक्ति खोजने के लिए विवश किया। उसके सामने यह तो स्पष्ट हो गया कि परमाणु हथियारों या अंतरिक्ष युद्ध के साजो-सामान से वह अपनी रक्षा नहीं कर सकेगा (वियतनाम युद्ध की पराजय के बाद) और न तीसरी दुनिया के संसाधनों के दोहन से अपने उपभोग-स्तर को बनाए रखना उसके लिए संभव होगा क्योंकि ये संसाधन अब खत्म होने वाले थे। संसाधनों के दोहन के लिए तीसरी दुनिया के देशों के पर्यावरण का विनाश करने के बाद जब इसका खतरा स्वयं उस पर मंडराने लगा तो उसने तीसरी दुनिया के देशों में जनसंख्या-नियंत्रण, पर्यावरण-रक्षा तथा उसके लिए आवश्यक शिक्षा-साक्षरता के प्रचार पर धन खर्च करना शुरू किया। इसके साथ ही भौतिक वस्तुओं के उत्पादन की क्षमता क्षीण हुई या उसकी आवश्यकता नहीं रही, तो उत्पादनहीन-उत्पादन की कल्पना सामने आई अर्थात् कालाबाजारी, सूदखोरी, दलाली, मुद्रा-मूल्य और कीमतों की हेरा-फेरी से होने वाली आय को

भी राष्ट्रीय उत्पादन और राष्ट्रीय आय मे शामिल किया जाने लगा। अवैध धन की समांतर व्यवस्था से इस प्रक्रिया को बल मिला क्योंकि वैध और अवैध आर्थिक गतिविधियों का भेद लगभग समाप्त हो गया जिसका उदाहरण बैंको और प्रतिभूतियो के घोटाले हैं। इस तरह पूजीवादी देशो मे एक कृत्रिम समृद्धि का उफान आया और इस उफान के स्पर्श ने तीसरी दुनिया के कुछ देशो, विशेषकर उसके मध्य वर्ग को भी प्रभावित किया। इलेक्ट्रानिक प्रौद्योगिकी की क्रान्ति ने इस कृत्रिम समृद्धि को सौ गुना चकाचौंध के साथ प्रस्तुत किया और तीसरी दुनिया के बढते हुए मध्य वर्ग को कृत्रिम समृद्धि तथा कृत्रिम उपभोग का नशाई बना दिया। अब समृद्ध पूजीवादी देश अपने छद्म धन से सारे विश्व को कर्ज से लाद सकते थे और साहूकार की हैसियत से सारे विश्व पर मनमाना हुक्म चला सकते थे। डंकेल प्रस्ताव इस हुक्मनामे की इबारत है।

पूंजीवाद की इस कृत्रिम समृद्धि ने जापानी मूल के अमरीकी लेखक फुकुयामा को एक पुस्तक लिखने के लिए प्रेरित किया जिसका नाम उसने रखा 'दि एण्ड आफ हिस्टरी' अर्थात् इतिहास का अंत। यह एक विडम्बना ही है कि समृद्ध पूंजीवादी देशो के बुद्धिजीवियों एवं सर्जकों मे जहां इतिहास के अंत को प्रयोजनहीनता, लक्ष्यहीनता और विचारों के अंत के अर्थ मे लिया जा रहा था (जिसके कारण यहां साहित्यिक रिक्ति पैदा हुई थी), इलेक्ट्रानिक क्रांति से चमत्कृत इस लेखक ने उसे पूजीवादी सभ्यता के चरमोत्कर्ष के रूप मे प्रस्तुत किया। यह एक तरह से सन्निपात ज्वर का लक्षण था। वास्तविकता यह थी कि पूजीवाद की जड़ें बिल्कुल खोखली हो चुकी थी और उसका केवल बाहरी ढांचा जैसे-तैसे खड़ा था।

यह बाहरी ढांचा उन तीन संस्थाओं पर टिका था जो दूसरे विश्व युद्ध के दौरान पूंजीवादी देशों ने (अमरीका के लगभग एकाधिकार के साथ), बनाई थी। ये तीन संस्थाएं थीं अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक और गैट (शुल्क और व्यापार से संबंधित सामान्य करार)। जब तक युरोप के देशो और जापान का आर्थिक विकास पिछड़ा रहा, अमरीका की इन संस्थाओ पर एकाधिकारपूर्ण स्थिति रही किन्तु इन देशो की स्थिति काफी अच्छी हो जाने के बाद और 'सुपर-स्टेट' की शक्ति वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियो के उदय के बाद अमरीका की चौधराहट कमजोर पड़ने लगी। 1986-91 के दौर में, जिसे उरुग्वे दौर कहा जाता है, यह महसूस किया कि यह चौधराहट अब नहीं चलेगी और यह भी देखा गया कि विश्व-बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा गैट संस्थाए अपने वर्तमान रूप में पूंजीवाद के वर्चस्व की रक्षा नही कर सकती हैं। अत: इनके स्वरूप एवं चरित्र मे संशोधन की आवश्यकता महसूस की गई। गैट के महाप्रबंधक आर्थर डंकेल ने पूंजीवाद की डूबती हुई नाव को बचाने के लिए एक प्रस्ताव तैयार किया जिसे डंकेल प्रस्ताव कहा जाता है। तय हुआ कि इस प्रस्ताव पर विश्व के सारे छोटे

बड़े देशों की सहमति ली जाए और इसे 1994 से लागू किया जाए।

भविष्य क्या है ?

डंकेल प्रस्ताव पूंजीवादी, पश्चिमी सभ्यता का आखिरी दांव है। यदि यह सफल हुआ तो यह सभ्यता कुछ समय के लिए और जीवित रहेगी, संभवत. अत्यधिक प्रखरता के साथ। किन्तु यह कुछ समय के लिए ही होगा क्योंकि इस सभ्यता की सारी धारणाएं, सारी आस्थाएं टूट चुकी है और अब इसके बने रहने के लिए कोई आधार नही बचा है।

डंकेल प्रस्तावो को भारत और चीन सफल या विफल कर सकते हैं। ये विशाल देश हैं और मानव जाति की कुल आबादी का लगभग आधा भाग इन देशों में है। इन दो देशो के विशाल वर्धिष्णु मध्य वर्ग के सहारे उपभोक्ता संस्कृति अपने को लम्बे समय तक जिंदा रख सकती है। किन्तु ये देश इस संस्कृति को चुनौती भी दे सकते हैं। इनकी बहुसंख्यक आबादी अत्यन्त प्राचीन काल से उपभोगवाद के विपरीत सादगी और संयम के जीवन की अभ्यस्त रही है। इसके अतिरिक्त इन देशो मे बीसवीं शताब्दी के दो महापुरुषो ने (माओ और गांधी) एक नई जीवन पद्धति का विकल्प लोगो के सामने रखा था जो पश्चिमी सभ्यता के मानदंडों को अस्वीकार करता था। दुर्भाग्य से इन दोनो देशों मे इस विकल्प की उपेक्षा हुई है और यहा का मध्य वर्ग पश्चिमी सभ्यता के छलावे में बह गया है। माओ की मृत्यु के बाद चीन मे पश्चिमीकरण की प्रक्रिया बहुत तेजी के साथ चली और अब वहा माओ के विकल्प की तरफ जनता को मोडना बहुत कठिन हो गया है। भारत मे स्थिति इतनी खराब नही है। यहा गांधी की विरासत को समाजवादियो ने अपनाया और उसे जिंदा रखने का भरसक प्रयास किया है। डॉ० राममनोहर लोहिया ने न केवल गांधी के विचारों को नई धार दी अपितु उसे विकसित करके उसके आधार पर नई विश्व-सभ्यता के कुछ सुस्पष्ट सूत्र भी दिए। गांधी-लोहिया की विरासत को लेकर चलने वाली राजनैतिक धारा अब भी देश में काफी शक्तिशाली है, हालांकि वह बिखराव और संकीर्णता का शिकार होने के कारण कुछ सकारात्मक एवं ठोस कर पाने मे असमर्थ रही है। लेकिन इस राजनैतिक धारा ने समाज के जिन तबकों को अपना आधार बनाया है वे उपभोक्ता संस्कृति के गुलाम नही है और पश्चिम की उपभोक्ता संस्कृति के खिलाफ बगावत कर सकते हैं। वर्ण-व्यवस्था के अत्याचारों से सदियों से सताया जाता रहा यह तबका धनी-निर्धन, सबल-निर्बल के बीच खुली और निर्बाध प्रतियोगिता के अर्थ को समझने मे अधिक समर्थ है। इस समय डंकेल प्रस्तावों और उनके द्वारा बनाई जा रही खुली लूट-खसोट वाली **विश्व बाजार अर्थव्यवस्था** को भारत मे जिन राजनैतिक दलो का समर्थन मिल रहा है, वे वही दल हैं जो वर्ण-व्यवस्था के पोषक रहे है क्योंकि प्रस्तावित विश्व

बाजार व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था का ही विश्व-व्यापी प्रयोग है। इन दलों का आधार तेजी से क्षीण हो रहा है और वे सिर्फ पैसे के बल पर अपने अस्तित्व को बनाए हुए हैं। यदि गांधी-लोहिया की विरासत वाली बिखरी हुई राजनैतिक धारा ने स्थितियों को समझकर ठीक रास्ता अपनाया तो वह डंकेल प्रस्तावों का निषेध करेगी और उसे एक नए ढंग की अर्थव्यवस्था, सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था का सूत्रपात्र करना पड़ेगा।

लेकिन यदि ये स्थितियां न भी बनीं और डंकेल प्रस्तावों को भारत सहित सारे विश्व ने मान लिया (15 दिसम्बर, 1993 को भारत सहित 116 देशों ने इन पर हस्ताक्षर कर दिए हैं) तो भी पूंजीवादी पश्चिमी सभ्यता का अंत निश्चित है क्योंकि इसके सारे आधार खोखले हो चुके हैं।

पूंजीवादी क्रांति का हरावल दस्ता बुर्जुआ वर्ग था, उसी तरह जैसे साम्यवादी क्रांति का हरावल दस्ता मजदूर वर्ग था। जैसे मजदूर वर्ग का चरित्र बदलने से (उसके सफेदपोश टेक्नोक्रेट वर्ग बनने से) साम्यवादी क्रांति विफल हुई उसी तरह बुर्जुआ उद्यमी वर्ग का चरित्र भी बिल्कुल बदल गया है और वह सूदखोर, मुनाफाखोर, बही-खातों की हेराफेरी करने वाला वर्ग बन गया है। उद्यम का स्थान बही-खातों ने, सूझबूझ का स्थान प्रचार-पब्लिसिटी ने, पूंजी की ताकत का स्थान राज-सत्ता की शक्ति ने, पूंजी-निवेश का स्थान घूस ने, वस्तुओं के उत्पादन का स्थान सूचनाओं के उत्पादन ने, विनिर्माण का स्थान पैकेजिंग ने, कारखानों और वर्कशापों का स्थान कम्प्यूटर केन्द्रों ने, राष्ट्रवादी भावना का स्थान निर्गुटवादी भावना ने और उद्यमियों का स्थान कम्पनी एक्जीक्यूटिवों ने ले लिया है। इन उद्यमियों में न देश के प्रति लगाव है, न समाज के प्रति। इनकी निष्ठा का एकमात्र केन्द्र है कम्पनी, उसका मुनाफा और अपने वेतन-भत्ते। जाहिर है इस बुर्जुआ वर्ग को पूंजीवाद में अब कोई रुचि नहीं रह गई है उसी तरह जैसे कुछ समय पहले वेतन-भत्तों को एकमात्र लक्ष्य मानकर चलने वाले मजदूर वर्ग की क्रांति में कोई रुचि नहीं रही थी। इसका लक्ष्य उत्पादन बढ़ाना और विकास करना नहीं, जैसे-तैसे मुनाफा कमाना बन गया है और इसमें वैध तथा अवैध गतिविधियों का कोई विचार उसकी अन्तरात्मा को नहीं कचोटता। इस व्यवस्था में न उत्पादक मजदूर की भूमिका प्रमुख है और न जोखिम उठाने वाले और सूझबूझ का इस्तेमाल करने वाले उद्यमी की बल्कि मैनेजर, जनसम्पर्क अधिकारी, विज्ञापन-विशेषज्ञ और लेखाकार की भूमिका प्रमुख है। लेखाकार सबसे शक्तिशाली व्यक्ति है क्योंकि वह कृत्रिम धन का उत्पादन कर सकता है। वह दिवालियेपन की स्थिति पर पहुंचे देश को जादू के चमत्कार की तरह समृद्ध बना सकता है और उसकी राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा विदेशी मुद्रा के भंडारों में तुरन्त आश्चर्यजनक वृद्धि कर सकता है।

किन्तु पूंजीवादी सभ्यता के केवल औजार नहीं बदले उसके तमाम मूल्य भी

ध्वस्त हो रहा है। उपभोगवाद की चरम सीमा ने जीवन को निरुद्देश्य बनाया है। जिन देशों में उपभोगवाद उस सीमा तक पहुंच चुका है, जैसे समृद्ध युरोपीय देशो तथा अमरीका में, वहां इतिहास के अंत की बातें होने लगी है। लोगो को ऐसा लग रहा है कि जो करना था वह कर लिया, जो पाना था वह पा लिया और अब करने या पाने के लिए कुछ शेष नहीं है। यह निरुद्देश्यता वहा के साहित्य मे भी दिखाई देती है। यह इस समाज की मृत्यु का लक्षण है।

उपभोगवाद के बाद इस सभ्यता का दूसरा देवता था उद्योगवाद जिसने पर्यावरण-विनाश का खतरा पैदा करके सारी धरती के जीवन को ही संकट मे डाल दिया है। सभी देशों के पर्यावरणशास्त्री और समाजशास्त्री एक ऐसी सभ्यता की तलाश मे हैं जिसमें इस संकट को टाला जा सके। वे बड़े उद्योगो के स्थान पर छोटे और कुटीर उद्योगों पर शहरीकरण के स्थान पर ग्रामीकरण पर, जटिल प्रौद्योगिकी के बजाय (जो मानव को कल-पुर्जा बनाकर उसकी आत्मा को कुचलती है) मानव द्वारा नियंत्रित सरल प्रौद्योगिकी पर जोर दे रहे हैं तथा प्रकृति के साथ संघर्ष के स्थान पर प्रकृति से साहचर्य भाव स्थापित करने की बात कर रहे है।

इस सभ्यता के तीसरे देवता प्रतियोगितावाद या शक्तिवाद से भी समाजशास्त्रियों का मोह-भंग हो चुका है। अधिक से अधिक शक्तिशाली बनने की होड में घातक हथियारो के जो अंबार खड़े किए गए वे बेकार सिद्ध हुए और अब उन्हे खत्म करने की दिशा मे विश्व अग्रसर है। इन हथियारों ने न केवल शक्तिशाली की उत्तरजीविता को सुनिश्चित नही किया और करोडो लोगो को जीवनावश्यक सुविधाओ से वंचित रखा बल्कि इन हथियारो ने मानव-जाति के सर्वनाश का संकट भी पैदा किया। इसके विपरीत शक्तिशाली के जिंदा रहने का हक तीन-चौथाई कमजोर और निर्धन मानव-जाति के चलते गहरे संकट में पड़ गया और अब लोगों को महसूस होने लगा है कि जब तक दुनिया की अधिसंख्यक मानव-जाति घोर गरीबी में रहेगी, कोई भी सुख से नही जी सकता। नरक के महासागर के बीच स्वर्ग का द्वीप नहीं बचा रह सकता। समता और बंधुता के बिना स्वतंत्रता बेमानी है। भारत में वर्णव्यवस्था के खिलाफ चल रहा विशेष अवसर, आरक्षण या सामाजिक न्याय का आंदोलन इसी दिशा मे अग्रसर है। इसी तरह का आदोलन विश्व स्तर पर रंग, नस्ल, सेक्स और अर्थ की विषमताओ के खिलाफ भी चल रहा है।

संक्षेप मे यह सभ्यता इसलिए ध्वस्त होने जा रही है क्योंकि यह दो तिहाई दुनिया को घोर गरीबी और लाचारी से निजात नही दे पाई। इस सभ्यता ने जो मोहक रूप इलेक्ट्रानिक क्रांति के बाद प्राप्त किया है वह इस विशाल मानव-समाज के लिए और भी आततायी सिद्ध होगा। वह इसके लिए अकाल, महामारियो और मौत का ही संदेश देगा। डकेल प्रस्तावों के सर्वस्वीकृत हो जाने के बाद कुछ लोगो

के हाथ मे इतनी शक्ति आ जाएगी कि वे किसी भी देश को चुटकी में राजा से भिखारी और भिखारी से राजा बना सकते है। शक्ति का यह केन्द्रीकरण ही इस सभ्यता के अंतिम विनाश का कारण बनेगा।

नई सभ्यता का स्वरूप

नई सभ्यता क्या रूप लेगी इस सम्बन्ध में कुछ अनुमान ही लगाए जा सकते है। यह सभ्यता इक्कीसवी सदी मे आए या बाईसवी सदी मे, इसके आध्यात्मिक मूल्य तो वही रहेंगे जो आधुनिक सभ्यता के थे। अर्थात् स्वतत्रता, समता और बधुता। जैसाकि कहा जा चुका है ये लक्ष्य भारत की प्राचीन सभ्यता के भी थे और इन्हे मोक्ष शब्द मे जाना जाता था। सभी समाजों और सभी सभ्यताओं के आध्यात्मिक लक्ष्य यही रहे हैं लेकिन कुछ ने इन्हें परलोक की कल्पना से जोड़ा (जैसे भारतीय समाज ने) और कुछ ने इन्हें सर्वोच्च शक्ति ईश्वर की कल्पना में जिसके कारण ये मूल्य वायवी ही रहे। नई सभ्यता में ये आध्यात्मिक लक्ष्य लौकिक जीवन के लिए होंगे और इनकी प्राप्ति के लिए न जन्म-मरण की शृंखला के समाप्त होने की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी और न किसी सर्वशक्तिमान सत्ता का सहारा लेने की जरूरत होगी। दूसरे शब्दों मे यह ईश्वर-विहीन इहलौकिक सभ्यता होगी क्योंकि सत्य, शिव और सुन्दर का स्रोत स्वतंत्रता, समता और बधुता का आदर्श होगा।

आध्यात्मिक लक्ष्यो और व्यावहारिक लक्ष्यो के बीच बहुत अधिक अन्तर होने से ही अब तक सभ्यताओ का ह्रास हुआ है। अत. नई सभ्यता मे इन दोनों लक्ष्यो के अतर को यथासभव कम करने की प्रवृत्ति रहेगी। व्यावहारिक या तात्कालिक लक्ष्य ऐसे होगे जिनमे मनुष्यों को स्वतंत्रता, समता और बंधुता की ऊर्जा मिले और आध्यात्मिक मूल्यो (स्वतत्रता, समता आदि) को लौकिक जीवन की वस्तु माना जाएगा, महज खयाल नही जैसाकि ईश्वरवादी या परलोकवादी सभ्यताओं मे होता है।

राजनैतिक ढाचे का स्वरूप ऐसा होगा जिसमें सब नागरिकों को स्वतंत्रता, समता आदि के सुख का बोध भी मिले। इसके अनुसार इस सभ्यता में किसी भी प्रकार की तानाशाही, आततायी सत्ता, पाशविक बल से चालित सत्ता की गुंजाइश नही होगी अर्थात् सरकार अधिक-से-अधिक, सही मायनो मे लोकतात्रिक होगी। उसमे समाज के सभी तबको का उचित प्रतिनिधित्व और उनकी साझेदारी सुनिश्चित होगी। इसके लिए एक केन्द्र में सत्ता को केन्द्रित करने के बजाय उसे गावो आदि की इकाइयो मे विकेन्द्रित करना पड़ेगा।

राजनैतिक ढाचे के अनुरूप ही आर्थिक ढाचा भी विकेन्द्रित होगा और बड़ी-बड़ी फैक्टरियो मे उत्पादन को केन्द्रित करने के बजाय उसे में छोटे

छोटे उद्योगों में छितराना पड़ेगा। उत्पादन के साथ बाजार भी विकेन्द्रित होगा और उत्पादन की कल्पना मे अपने लिए किया गया उत्पादन भी सम्मिलित होगा अर्थात् अर्थव्यवस्था स्वावलबन की ओर बढ़ेगी। उपभोगवादी अर्थव्यवस्था के स्थान पर उपयोगवादी अर्थव्यवस्था बनेगी। समाज में धन का महत्व घटेगा और साहित्य-कलाओं का महत्व बढ़ेगा क्योंकि इनसे समता, स्वतंत्रता आदि आध्यात्मिक मूल्यों की अनुभूति मिलती है। पूजा-पाठ, मन्दिर-मस्जिद वाले धर्म का महत्व कम होगा और लोग मानसिक शांति के लिए साहित्य-कलाओं की ओर अधिक उन्मुख होंगे। कमजोर वर्गों के अधिकारों के प्रति चेतना बढ़ेगी और इसलिए समाज-कल्याण कार्यों का महत्व अधिक होगा। समाज रंग, रक्त, सेक्स आदि के भेदभावों को समाप्त करने की ओर बढ़ेगा। लोग पहरावों की समानता के बजाय भावनाओं की समानता की ओर अधिक उन्मुख होंगे। वे शस्त्र-बल के अनुशासन की अपेक्षा नैतिक अनुशासन की ओर बढ़ेंगे। वे आसमान के बजाय धरती से जुड़ने को अधिक लालायित होंगे इसलिए बहुमंजिले मकानों के बजाय वे एक-दो मंजिले मकानों मे रहना अधिक पसंद करेंगे।

□□

शुद्धि-पत्र

	अशुद्ध	शुद्ध
पृष्ठ 69 पर ऊपर से पहली पंक्ति	विषयिभाव	विषयभाव
,, 122 पर नीचे से 9वीं ,,	पूर्वस्थित	पूर्वस्थिति
,, 150 पर नीचे से 14वीं ,,	के खिलाफ	(हटाएँ)
,, 168 पर ऊपर से 12वीं ,,	मानव-जति	मानव-जाति
,, 181 पर नीचे से 9वीं ,,	दया	हत्या

पारिभाषिक शब्दावली

Absolute	परम, निरपेक्ष
Abstract Universal	अमूर्त, सामान्य
Absurd	बेतुका, अनर्गल
Anguish	मानसिक पीड़ा, यातना, दुश्चिन्ता
Apprehension	अवबोध
A-priory	प्राक्‌अनुभविक, अनुभव-निरपेक्ष
Bad-Faith	बुरी नीयत, दुर्निष्ठा
Being	भाव, सद्
Non-Being	अभाव, असद्
Cogitatio	चिंतन
Consciousness	चेतना, चिद्
Category	पदार्थ, परतम जाति
Contigency	नियत, घटित तथ्य
Desire	इच्छा, चाह
Dogmatic	राद्धांतिक, पंथिक
Dread	सत्रास
Empirical	आनुभविक
Essence	सार, सत्त्व
Essentialism	सत्त्ववाद
Existence	अस्तित्व
Existentialism	अस्तित्ववाद
Facticity	तथ्यात्मकता, भौतिकता
Fear	भय
For-itself (Pour-soi)	चिद. पुरुष
Heresay	अनश्रुति

Heresy	अपधर्म, विधर्म
Idea	विचार, प्रत्यय, आदर्श
Idealism	प्रत्ययवाद, आदर्शवाद
In-itself (En-soi)	सद्, प्रकृति
Metaphysical	तत्त्वमीमांसीय, तात्त्विक
Nausea	उबकाई, जुगुप्सा
Negation	निषेध
Nihilation	निषेध, नकार
Ontological	सत्तामीमांसीय
Passion	राग, उद्दाम भावना
Phenomenology	दृश्यघटना शास्त्र, प्रकटन शास्त्र
Reflection	स्वचिंतन, अनुचिंतन
Situation	स्थिति
Solipsism	अहंमात्रवाद
Space	दिक्, आकाश
Temporality	कालिकता
Transcendence	पारगमन, समतिक्रम, इंद्रियातीत
Will	इच्छा
World	जगत, विश्व, दुनिया

प्रमुख संदर्भ-ग्रंथ सूची

दि वर्क्स आफ प्लेटो	इरविन एडमैन
बीइंग एंड नथिंगनेस	ज्यां पाल सार्त्र
एक्झिस्टेंशियलिज्म एंड ह्यूमैनिज्म	,, ,,
व्हट इज लिटरेचर	,, ,,
टू फ्रीडम कंडेम्ड	,, ,,
गांधी वाङ्मय	महात्मा गांधी
फिनामिनालाजी एंड एक्जिस्टेंशियलिज्म	मृणाल कांति भट्ट
काश्मीर शैविज्म	जे० सी० चैटर्जी
एशेंट इंडिया	मैकक्रिंडेल
तत्वज्ञान	डॉ० दीवानचंद
दर्शन संग्रह	,, ,,
बौद्धधर्म-दर्शन	आचार्य नरेन्द्रदेव
सांख्य दर्शनम्	उदयवीर शास्त्री
वैशेषिक दर्शनम्	,, ,,
व्हील आफ हिस्टरी	डॉ० राममनोहर लोहिया
जाति प्रथा	,, ,,
इंटरवल ड्यूरिंग पालिटिक्स	,, ,,
फंडामेंटल्ज आफ वर्ल्ड माइंड	,, ,,
लोहिया एंड अमेरिका मीट	हैरिस वुफोर्ड
रोमांरोला एंड गांधी कॉरेस्पोंडेंस :	रोमां रोलां
प्राइम मूवर्स	मधु लिमये
सोशलिस्ट-कम्युनिस्ट इंटरएक्शन	,, ,,
इंडियन नेशनल मूवमेंट	,, ,,
डॉ० आंबेडकर—एक चिंतन	,, ,,
आडियो	सिमों बुआ
दि डायरी आफ ए राइटर	दास्तोएव्स्की
ओलिम्पस—मार्च-अगस्त 1992	सं० केशवराव जाधव

श) ।

ि का

।

ाए,
का
स्प्र-
ा से
श्व
दि ।
ा),
ा-
की
ा,
री
के
ते
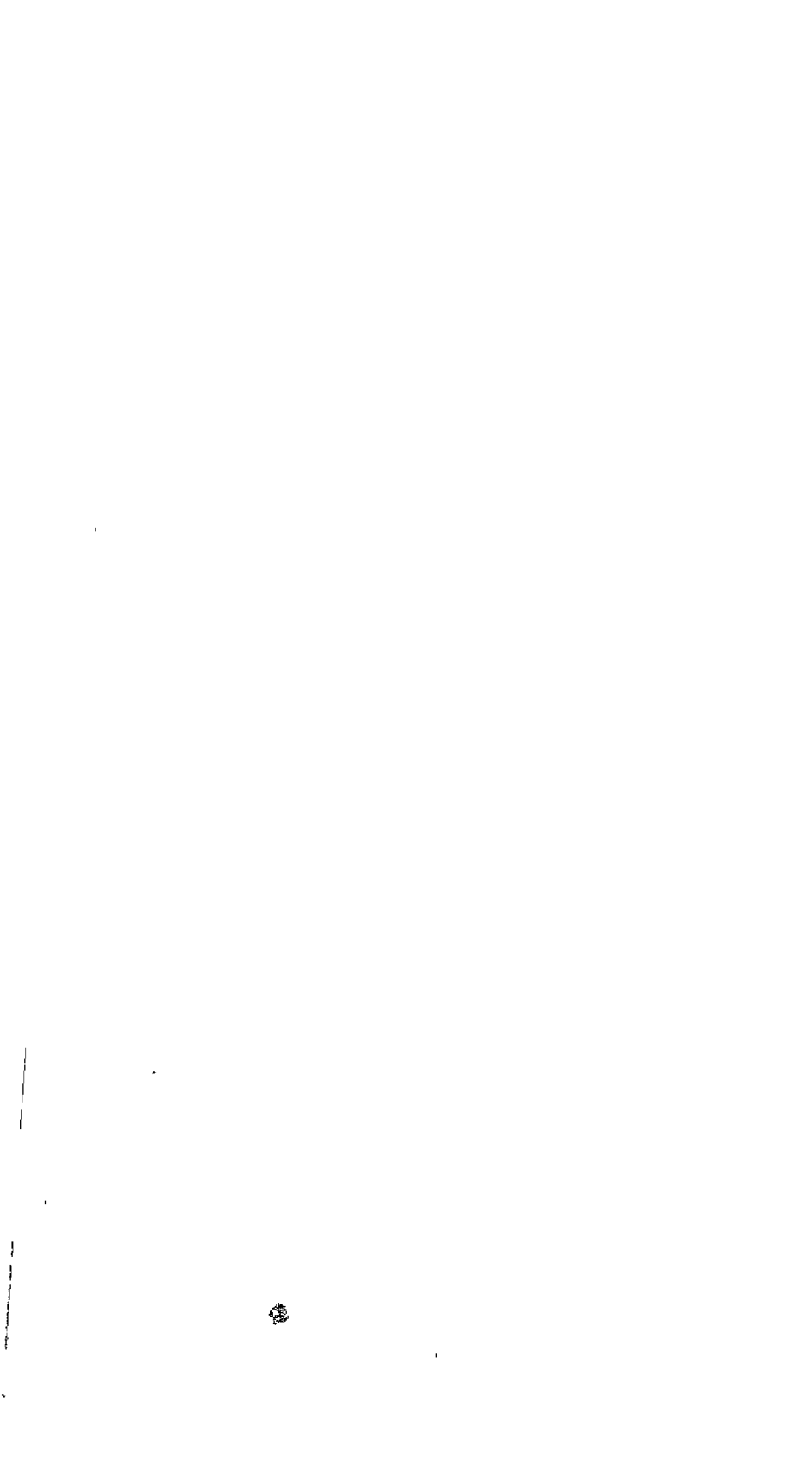
जन्म : 22 दिसबर, 1926, सकडी (हिमाचल प्रदेश)।

प्रमुख रचनाएं

उपन्यास : विपथगामी, रास्ता बंद काम चालू, नाक का डाक्टर, एक संदी बाझ (उपन्यास-त्रयी)।

कहानी-संग्रह . एक अदद औरत, ग्यारह पत्ते, ब्रीफकेस।

नाटक : पत्नी ऑन ट्रायल, साप आदमी नही होता।

कविता : कूडेदान से साभार।

निबंध हम सब गुनहगार, समसामयिक प्रतिक्रियाए, पं० चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी', साहित्यकार का संकट, राष्ट्रीय एकता का सकट और साम्प्रदायिक शक्तियां, मडल रिपोर्ट : वर्णव्यवस्था से समाजवादी व्यवस्था की ओर, साम्यवादी विश्व का विघटन और समाजवाद का भविष्य आदि।

बाल-साहित्य : किशोर जीवन की कहानिया (दो भाग), निर्भयता का वरदान, दंड का पुरस्कार, आजा-होजा, सहेली, नीरू, और हीरू, सपेरे की लडकी, भूतनाथ, चोर की तलाश, ऐंगा-बेंगा, बेजुबान साथी, सुनहरा मेमना, एक थी चिडिया (कहानी उपन्यास), स्पर्धा, बच्चो के एकाकी, बच्चो के नाटक, पाच बाल एकाकी (नाटक)।

अनुवाद : ग्यारह तुर्की कहानिया, आंध्र प्रदेश : लोक-सस्कृति और साहित्य, डॉ० आम्बेडकर . एक चितन, सरदार पटेल : व्यवस्थित राज्य के निर्माता. एशिया के बाल नाटक. स्वामी और उसके दोस्त अर्थशास्त्र का परिचय आदि